हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीज

# कबीर

[ कबीर, उनका साहित्य और उनके दार्शनिक विचारोंकी आलोचना ]

लेखक

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, शास्त्राचार्य
विश्वभारती ( शान्तिनिकेतन ) के
संस्कृत और हिन्दीके अध्यापक

प्रकाशक

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

परम श्रद्धेय

आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन महोदयको

उनके बासठवें वर्षमें प्रवेश करनेके

अवसर पर

लेखककी विनम्र भेंट

# भूमिका

'कबीर' लिखते समय नाना साधनाओंकी चर्चा प्रसग-वश आ गई है। उनके उसी पहलूका परिचय विशेष रूपसे कराया गया है जिसे कबीरदासने अधिक लक्ष्य किया था। पाठक पुस्तकमें यथास्थान पढ़ेंगे कि कबीरदास बहुत-कुछको अस्वीकार करनेका अपार साहस लेकर अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने तत्काल प्रचलित नाना साधन-मार्गोंपर उग्र आक्रमण किया है। कबीरदासके इस विशेष दृष्टिकोणको स्पष्ट रूपसे हृदयंगम करानेके लिए मैंने उसकी ओर पाठककी सहानुभूति पैदा करनेकी चेष्टा की है। इसी लिए कहीं कहीं पुस्तकमे ऐसा लग सकता है कि लेखक भी व्यक्तिगत भावसे किसी साधन-मार्गका विरोधी है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। जहाँ कहीं भी अवसर मिला है वहीं लेखकने इस भ्रमको दूर करनेका प्रयास किया है, पर फिर भी यदि कहीं भ्रमका अवकाश हो तो वह इस वक्तव्यसे दूर हो जाना चाहिए। कबीरदासने तत्कालीन नाथपथी योगियोंकी साधन-क्रियापर भी आक्षेप किया है, यथास्थान उसकी चर्चा की गई है। पुस्तकके अधिकाश स्थलोंमें योगी शब्दसे इन्हीं नाथपथी योगियोंसे तात्पर्य है। समाधिके विरुद्ध जहाँ कहीं कबीरदासने कहा है वहाँ 'जडसमाधि' अर्थ समझना चाहिए। यथाप्रसंग पुस्तकमे इसकी चर्चा आ गई है। वैसे, कबीरदास जिस सहज-समाधिकी बात कहते हैं वह योगमार्गसे असम्मत नहीं है। यहाँ यह भी कह रखना ज़रूरी है कि पुस्तकमें भिन्न भिन्न साधन-मार्गोंके ऐतिहासिक विकासकी ओर ही अधिकाश ध्यान दिया गया है।

पुस्तकके अन्तमे उपयोगी समझकर कबीर-वाणी नामसे कुछ चुने हुए पद्य सग्रह किये गये हैं। उनके शुरूके सौ पद श्री आचार्य क्षिति-मोहन सेनके सग्रहके हैं। इन्हींको कवीर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने अँग्रेजीमें

अनूदित किया था। आचार्य सेनने इन पद्योंको लेनेकी अनुमति देकर हमें अनुगृहीत किया है।

प० नाथूरामजी प्रेमीने अपने स्वाभाविक प्रेम और उत्साहके साथ पुस्तकको प्रकाशित किया है इसके लिए लेखक अत्यन्त कृतज्ञ है। भाई श्री मोहनलालजी वाजपेयीने नाना भावसे सहायता करके पुस्तकको अधिक त्रुटियुक्त होनेसे बचा लिया है। अनेक लेखकों और प्रकाशकोंके अमूल्य ग्रन्थोंकी सहायता न मिली होती तो पुस्तक लिखी ही न गई होती। जिन लोगोंके मतका कहीं कहीं विरोध करना पड़ा है उनके प्रति मेरी गम्भीर श्रद्धा है। वस्तुतः जिनके ऊपर श्रद्धा है उन्हींके मतोंकी मैंने समीक्षा की है। इनमें कई मेरे गुरुतुल्य हैं। सब लोगोंके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन<br>फाल्गुनी पूर्णिमा, १९९८

हजारीप्रसाद द्विवेदी

# संकेत-विवरण

[ जिन पुस्तकोका पूरा नाम और विवरण ग्रंथमे ही दिया हुआ है उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है । ]

अ० रा०—अध्यात्म-रामायण, श्रीमुनिलालका अनुवाद, गोरखपुर, स० १९८९

अष्टो०—ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, चतुर्थ सस्करण, १९३२

उपासक०—भारतवर्षीय उपासक सप्रदाय, श्रीअक्षयकुमार दत्त प्रणीत, कलकत्ता १३१४ सन् ( द्वितीय संस्करण )

क० ग्रं०—कबीर-ग्रंथावली, श्रीश्यामसुंदरदास सपादित, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, १९२८

क० वच०—कबीर-वचनावली, श्रीअयोध्यासिंह उपाध्याय-सपादित, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, १९१६

क० मन०, मनसूर } कबीर मनसूर, स्वामी परमानंदकृत, भानजी कुबेरजी पेटर द्वारा प्रकाशित, बंबई, १९०२

गोरक्ष० वि०, गोरक्ष विजय }—गोरक्षविजय, श्रीअब्दुल करीम संपादित, कलकत्ता, १३२४ ( बंगाब्द )

गोपी०—गोपीचद्रेर गान, कलकत्ता विश्वविद्यालयद्वारा प्रकाशित और श्री विश्वेश्वर भट्टाचार्यद्वारा संकलित

गो० सि० स०—गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह म० म० गोपीनाथ कविराज सम्पादित, सरस्वतीभवन टेक्स्ट्स् नं. १८, काशी, १९२५

चर्या०—चर्याचर्यविनिश्चय, बौ० गा० दो० में सकलित

जाति०—भारतवर्षमें जातिभेद, श्रीक्षितिमोहनसेन लिखित, कलकत्ता, १९४०

ज० डि० ले०—Journal of the Department of Letters Vol. XXVIII कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३४ । इसमें श्रीबागची द्वारा सम्पादित निम्नलिखित ग्रंथ—(१) तिल्लोपादका दोहा-कोष, (२) सरहपादका दोहा (३) कण्हपादका० (४) सरहपादीय दोहा-संग्रह (५) प्रकीर्ण-दोहा सग्रह

डायसन०—The stystem of vedant by P. Deussen, शिकागो, १९१२
पंचदशी—विद्यारण्यस्वामीविरचित, निर्णयसागर, बंबई १९१८
पदा०—शब्दा० देखिये
प्राण०—प्राणसंगली, सन्त सपूरणसिंहजी सम्पादित, तरनतारन, पंजाब
फर्कुहर—An Outline of the Religious Literature of India by J. N. Farquhar, Oxford, 1920
बौ० गा० दो०, बौद्ध० } बौद्ध गान ओ दोहा, म० म० हरप्रसाद शास्त्री संपादित कलकत्ता, १३२३ (बंगाब्द)
भ० र० सिं०, भक्ति० र० } भक्तिरसामृतसिंधुः, श्रीरूपगोस्वामिपादविरचित, मुर्शिदाबाद १३३१
मनसूर—क० मन० देखिये
मिडिएवल मिस्टि०—Medeeval Mysticism of India, श्री क्षितिमोहनसेन-लिखित, लंडन, १९३५
विचार०—साधु श्रीविचारदासजीकी टीका, 'कबीरसाहबका बीजक' पर, काशी, सं० १९८३
विश्व०—'बीजक-कबीरसाहब' पर श्रीविश्वनाथसिंहजू देव बहादुर कृत पाखण्डखण्डिनी टीका, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, सं० १९६१
वेदान्त०—वेदान्तसार, कर्नल जे. ए. जैकोब सम्पादित द्वितीय संस्करण, निर्णयसागर, बंबई, १९१६
शब्दा०—शब्दावली, कबीरसाहबकी, वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, १९०९ ई०
शारदा०—शारदातिलक-तंत्रम—Arthur Avalon द्वारा संपादित Tantric Text Society Vol XVI कलकत्ता, १९३३
शिव०—शिवसंहिता, पाणिनि ऑफिस, इलाहाबाद, १९१४
शुक्ल०—पं० रामचन्द्र शुक्लका हिंदी साहित्यका इतिहास, प्रयाग, सं० १९९०
स० क० सा०—सत्य कबीरकी साखी, वेंकटेश्वर, बंबई, सं० १९७७
सहजा०, सहजाम्नाय० }—सहजाम्नाय पंजिका, बौ० गा० दो० में संकलित
हठ०—हठयोगप्रदीपिका, पाणिनि ऑफिस, इलाहाबाद १९१५
हिन्दुत्व—श्रीरामदास गौड़ रचित, ज्ञानमंडल, काशी, सं० १९९७
हिं० भा० सा० वि०—हिंदी भाषा और साहित्यका विकास, प० अयोध्यासिंह उपाध्याय, लहेरियासराय, १९९७

# विषय-सूची

# कबीर

## १—प्रस्तावना

कबीरदासका लालन-पालन जुलाहा-परिवारमें हुआ था, इसलिये उनके मतका महत्त्वपूर्ण अश यदि इस जातिके परपरागत विश्वासोंसे प्रभावित रहा हो तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। यद्यपि 'जुलाहा' शब्द फारसी भाषाका है, तथापि इस जातिकी उत्पत्तिके विषयमे संस्कृतके पुराणोंमे कुछ न कुछ चर्चा मिलती ही है। ब्रह्मवैवर्त पुराणके ब्रह्मखंडके दसवें अध्यायमें बताया गया है कि म्लेच्छसे कुविंद-क यामें 'जोला' या जुलाहा जातिकी उत्पत्ति हुई है[1] अर्थात् म्लेच्छ पिता और कुविन्द मातासे जो सन्तति हुई वही जुलाहा कहलाई[1]। पुराणकारने म्लेच्छ और कुविन्दके संबन्धमें कोई सन्देह नहीं रहने दिया है। विश्वकर्माने शूद्राके गर्भसे नौ शिल्पकार पुत्र उत्पन्न किये थे: माली, लुहार शंखकार, कुविंद, कुम्हार, कँसेरा, बढ़ई, चित्रकार और सुनार[2]। इस प्रकार

---

१ म्लेच्छात् कुविन्दकन्याया जोला जातिर्बभूव ह।
जोलात् कुविंदकन्यायां शराकः परिकीर्तितः॥

२ विश्वकर्मा च शूद्रायां वीर्याधानं चकार ह।
ततो बभूवु. पुत्रास्ते नवैते शिल्पकारिण.॥
मालाकारः कर्मकारः शंखकारः कुविंदक·।
कुम्भकारः कासकार· षडेते शिल्पिना वराः।
सूत्रधारश्चित्रकार· स्वर्णकारस्तथैव च।
पतितास्ते ब्रह्मशापाद् भजात्या वर्णसंकराः॥

कुविंद एक शिल्पी या कलाकार है और उसका कार्य वस्त्र बुनना है। क्षत्रिय पिता और शूद्रा माताके संयोगसे म्लेच्छकी उत्पत्ति हुई। यह उत्पत्ति जिस समय हुई उस समय माता ऋतुदोषसे अपवित्र थी और पिताके मनमें पाप-भावना थी। इसीलिये इस सयोगसे बलवान्, दुरन्त और पाप-परायण म्लेच्छ जातियोंका प्रादुर्भाव हुआ। ये जातियाँ क्रूर, निर्भय, दुर्धर्ष और विधर्मी हुईं[1]। इस प्रकार हिन्दू पुराणोंके मतसे जुलाहा जातिका प्रादुर्भाव मुसलमान पिता और कुविन्द माताके आकस्मिक संयोगसे हुआ। इस देशमें इस प्रकारके आकस्मिक संयोगसे नई जातिका पैदा हो जाना अपरिचित घटना नहीं है। आज जो सहस्रोंकी संख्यामें जातियाँ वर्तमान हैं, वस्तुतः उनमें कई इसी प्रकार बन गई हैं, परन्तु जुलाहोंके संबधमें पुराणोंकी यह व्यवस्था कई कारणोंसे मानने योग्य नहीं मालूम होती।

हिंदू पुराणों और धर्मग्रंथोकी यह प्रवृत्ति रही है कि किसी जातिकी उत्पत्तिके लिये निम्नलिखित पाँच कारणोंमेंसे किसी एकको मान लेना:

( १ ) वर्णोंके अनुलोम विवाहसे,
( २ ) वर्णोंके प्रतिलोम विवाहसे,
( ३ ) वर्णोंकी सस्कार-भ्रष्टताके कारण,
( ४ ) वर्णोंसे बहिष्कृत समुदायसे और
( ५ ) भिन्न सकर-जातियोंके अन्तर्विवाहसे।

इन पाँच कारणोंके अतिरिक्त कोई छठा कारण हिंदू पुराणों और स्मृतियोंमें नहीं बताया गया। जब किसी नई जातिका आविर्भाव भारतीय भूमिपर हुआ है तभी कोई न कोई ऐसा ही मिश्रण सोच लिया गया है। यह धारणा केवल शास्त्रीय विवेचनाओंतक ही सीमित नहीं रही है, साधारण जनतामें भी बद्धमूल हो गई है।

इस प्रकारकी कल्पनायें जातिकी सामाजिक मर्यादाओंका नियमन भी करती हैं। स्मृतियों और पुराणोंकी कथाओंपरसे यह अन्दाजा भी लगाया जा सकता है कि

---

१ क्षत्रवीर्येण शूद्रायामृतुदोषेण पापत.।
बलवत्यो दुरन्ताश्च बभूवुर्म्लेच्छजातयः।
अविद्धकर्णा. क्रूराश्च निर्भया रणदुर्जयाः।
शौचाचारविहीनाश्च दुर्धर्षा धर्मवर्जिताः॥

जिस समय ये कथायें लिखी गई थीं उस समय किसी जातिकी सामाजिक मर्यादा क्या और कैसी थी। यह ध्यान देनेकी बात है कि कई जातियोंके सम्बन्धमें संस्कृत ग्रंथोंमें जो कथायें कही गई हैं उन्हें वे जातियाँ स्वयं नहीं मानतीं। प्रायः आर्येतर जातियाँ अपनी उत्पत्ति और मर्यादाके विषयमें कोई न कोई पौराणिक कथा बताया करती हैं। इन कथाओंमें साधारणतः उनका श्रेष्ठत्व प्रतिपादित किया गया होता है और कभी कभी यह भी बताया गया होता है कि वर्त्तमानकालमें उनकी सामाजिक मर्यादा किस अभिशापवश या किस धोखेके कारण हीन हो गई है। उदाहरणार्थ, पटवेगर नामक कपड़ा बुननेवाली जाति अपनी उत्पत्ति शिवकी जिह्वासे बताती है और यह दावा करती है कि मानव-जातिकी लज्जा बचानेके लिए शिवजीने इन्हें वस्त्र बुननेका सबसे पवित्र कार्य सौंपा है। इनके आदि पुरुषोंको उपवीत और वेद प्राप्त हुए थे[1]।

आधुनिक कालमें मनुष्य-गणनाके समय जुलाहा जातिके सम्बन्धमें जो तथ्य प्राप्त हुए हैं उनपरसे पुराण-समर्थित आकस्मिक संयोगवाली बातका समर्थन नहीं होता। जुलाहे मुसलमान हैं पर इनसे अन्य मुसलमानोंका मौलिक भेद है। सन् १९०१ की मनुष्य-गणनाके आधारपर रिजली साहबने 'पीपुल्स आफ इण्डिया' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रंथमें उन्होंने तीन मुसलमान जातियोंकी तुलना की थी। वे तीन हैं : सैय्यद, पठान और जुलाहे। इनमें पठान तो भारतवर्षमे सर्वत्र फैले हुए हैं पर उनकी संख्या कहीं भी बहुत अधिक नहीं है। जान पड़ता है कि बाहरसे आकर ये नाना स्थानोंपर अपनी सुविधाके अनुसार बस गये। पर जुलाहे पंजाब, युक्त प्रान्त, बिहार और बंगालमें ही पाये जाते हैं। ये जहाँ हैं वहाँ थोकके थोक हैं। एक पूराका पूरा भूखंड इनके द्वारा अध्युषित है। पंजाबमें इनकी संख्या ६,९५,२१९, युक्त प्रान्तमें ९,२३,०४२ और बंगाल-बिहारमें १२,४२,०४९ थी। पंजाबमें इनकी बस्ती काश्मीर रियासतकी दक्षिणी सीमासे शुरू होकर कुछ दूर तक पंजाबके उत्तरी किनारेपर फैली हुई है। युक्तप्रान्त जहाँपर राजपूताना और मध्य भारतकी सीमाओंसे मिलता है वहाँसे लेकर बनारस और गोरखपुर कमिश्नरीकी पूर्वी सीमा तक एक मेखलाकी भाँतिके भूखण्डमे इनकी दूसरी बस्ती है। बिहारके उत्तरी अंशमें और नेपालकी दक्षिण-पूर्व सीमा तक इनकी घनी बस्ती है। फिर दक्षिणी

१ माइसोर ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स, जि० ४, पृ० ४७६–७, 'जाति-भेद' से उद्धत।

विहारमें भी इनकी एक छोटी-सी बस्ती है। दक्षिणी बंगालमें बर्दवानसे ढाका कमिश्नरी तक ये बसे हुए हैं। इस प्रकार उत्तरी पंजाबसे लेकर ढाका कमिश्नरी तक एक अर्ध-चन्द्राकृति भूभागमें ये फैले हुए हैं। इन प्रदेशोंमें कभी नाथ-पंथी योगियोंका बड़ा जबर्दस्त प्रभाव था। रिजली साहबका अनुमान है कि यह जुलाहा जाति किसी निम्न स्तरकी भारतीय जातिका मुसलमानी रूप है। सामाजिक परिस्थिति इनकी अच्छी नहीं रही होगी और नवागत धर्ममें कुछ अच्छा स्थान पा जानेकी आशासे इन्होंने समूह-रूपमें धर्मान्तर ग्रहण किया होगा। यही कारण है कि ये सैयद और पठानोंकी भाँति सारे भारतवर्षमें फैले हुए नहीं हैं बल्कि अपने मूल निवासस्थानोंमें ही पाये जाते हैं[1]।

जिन दिनों कबीरदास इस जुलाहा-जातिको अलंकृत कर रहे थे उन दिनों, ऐसा जान पड़ता है कि, इस जातिने अभी एकाध पुश्तसे ही मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था। कबीरदासकी वाणीको समझनेके लिये यह निहायत ज़रूरी है कि हम इस बातकी जानकारी प्राप्त कर लें कि उन दिनों इस जातिके बचे-खुचे पुराने संस्कार क्या थे।

सन् १९०१ की मनुष्य-गणनाके आधारपर सर आर्थर्स्टेल बेन्सने Grundriss der Indo-arischen philologie and Altertumskunde सीरीजमें भारतीय जातियोंके संबंधमें जो अध्ययन उपस्थित किया था उसमें २२ प्रकारकी वयनजीवी ( कपड़ा बुनकर जीविका चलानेवाली ) जातियोंका उल्लेख है। इनकी संख्या एक करोड़से ऊपर है। सारे भारतवर्षमें इन सभी जातियोंकी सामाजिक मर्यादा एकही-सी नहीं है। निचले बंगालके ताँती इनमें सबसे अधिक ऊँची सामाजिक मर्यादाके अधिकारी बताये गये हैं। अधिक धनी और सम्भ्रान्त होनेपर ये लोग कायस्थोंके साथ विवाह-संबंध भी कर लेते हैं। इसी प्रकार गुजरात और मध्यभारतकी खत्री और पटवे जातिकी सामाजिक मर्यादा भी अच्छी बताई जाती है पर साधारणतः वयनजीवी जातियाँ निम्न श्रेणीकी मानी जाती हैं। पंडितोंका अनुमान है कि इन २२ प्रकारकी वयनजीवी जातियोंमेंसे अधिकांश मूल द्रविड़ अधिवासियोंमेंसे बनी होंगी। उड़ीसा और मध्यप्रदेशकी पहाड़ियोंमें कुछ कोल या द्रविड़ जातीय श्रेणियोंका जुलाहा होना

१ 'पीपुल्स आफ इण्डिया' पृ० १२३

अब भी जारी है। पाँका और गाँडा ऐसी ही जातियाँ हैं। इनमें पाँका जातिके अधिकांश व्यक्ति कबीरपंथी हो रहे हैं।

उत्तर भारतके वयनजीवियोंमें कोरी मुख्य हैं। ब्लन्स जुलाहोंको कोरियोंकी समशील ( Corresponding ) जाति ही मानते हैं। कुछ एक पंडितोंने यह भी अनुमान किया है कि मुसलमानी धर्म ग्रहण करनेवाले कोरी ही जुलाहे हैं। यह उल्लेख किया जा सकता है कि कबीरदास जहाँ अपनेको बार बार जुलाहा कहते हैं[1] वहाँ कभी कभी अपनेको कोरी भी कह गये हैं[2]। ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि कबीरदासके युगमें जुलाहोंने मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया था पर साधारण जनतामें वे तब भी कोरी नामसे परिचित थे। कबीरदासने बुनाईके रूपकों और उलटबाँसियोंमें कई जगह 'जुलाहा'के स्थानपर कोरी नाम लिया है। आजकल कोरियोंमेंसे बहुतोंने कबीरपंथ स्वीकार कर लिया है, पर बहुत-से हिन्दू विचारोंके कट्टर अनुयायी भी हैं। आजकल इनमें उच्च श्रेणीके हिंदुओंकी आचार-निष्ठाके अनुकरणकी प्रवृत्ति ज़ोरोंपर पाई जाती है। किन्तु, यह सब होते हुए भी प्रस्तुत लेखक यह नहीं मानता कि कोरियोंका ही मुसलमानी संस्करण जुलाहा है। अब तक उपर्युक्त अनुमानका पोषक न तो कोई सामाजिक कारण बताया गया है, न वैज्ञानिक नाप-जोख। इसलिये कोरियों और जुलाहोंको एक ही श्रेणीकी दो जातियाँ मान लेनेका कोई प्रमाण नहीं है।

कबीरदासकी वाणियोंसे जान पड़ता है कि मुसलमान होनेके बाद न तो जुलाहा जाति अपने पूर्व संस्कारोंसे एकदम मुक्त हो सकी थी और न उसकी सामाजिक मर्यादा बहुत ऊँची हो सकी थी। यह दूसरी बात विचारणीय है। रिजलीके जो अनुमान ऊपर दिये गये हैं उनमें एक यह है कि सामाजिक मर्यादाकी उन्नतिके लिये इस जातिने समूह-रूपमें धर्मान्तर ग्रहण किया होगा। समूहरूपमें धर्मान्तर ग्रहण करनेके विषयमें कोई संदेह नहीं है पर साधारणतः इस

---

१ (१) जाति जुलाहा मतिकौ धीर। हरषि हरषि गुन रमै कबीर।

(२) तू बाम्हन मैं काशीका जुलाहा।—क० ग्रं०, पद २७० इत्यादि।

२ परिहरि काम राम कह बौरे सुनि सिख बंधू मोरी।
हरिको नाँव अभै-पद-दाता कहै कबीरा कोरी॥

—क० ग्रं०, पद ३४६

देशके निचली जातिके लोग उक्त कारणसे धर्मान्तर ग्रहण करते नहीं देखे जाते। नीचीसे नीची श्रेणीका हिंदू अपनेको विधर्मीसे उत्तम जातिका समझता है और कबीरकी गवाहीपर तो हम निश्चित रूपसे कह सकते हैं कि न तो लोककी दृष्टिमें और न अपने आपकी ही दृष्टिमें जुलाहा जाति उच्चतर सामाजिक मर्यादा पा सकी थी। आज भी जुलाहोंके संबंधमें जो लोकोक्तियाँ और क़िस्से-कहानियाँ आदि प्रचलित हैं वे यह सिद्ध करती हैं कि सब मिला कर यह जाति आज भी साधारण जनताकी दृष्टिमें ऊँची नहीं उठ सकी। स्वय रिजली साहबने भी अपनी पुस्तकमें ऐसी लोकोक्तियोंका मनोरंजक संग्रह किया है। कबीरदासने जुलाहोंकी जातिको कमीनी जाति कहा है[1] और यह भी बताया है कि उन दिनों भी यह जाति जन-साधारणमें उपहास और मज़ाककी पात्र थी। साधारणतः मूर्खता-सम्बन्धी कहानियोंका एक बहुत बड़ा अंश सारे भारतवर्षमें जुलाहोंसे भी बना है।

अब प्रश्न यह है कि इतना बड़ा जनसमूह एक ही साथ मुसलमान क्यों हो गया ? सामाजिक मर्यादाकी उन्नतिवाली बात तो कबीरकी अपनी गवाहीसे ही परास्त हो जाती है। इस प्रश्नको जरा विस्तारपूर्वक जाँच करनेकी चेष्टा की जाय।

एक विचित्र बात यह है कि अधिकाश वयनजीवी जातियोंमें यह एक उल्लेख-योग्य विशेषता पाई जाती है कि वे अपने आपको उसी सामाजिक स्तरमें रखनेको प्रस्तुत नहीं हैं जिसमें साधारणतः उन्हें रखा गया है। ये लोग अपनी उत्पत्ति और इतिहास अलगसे बताया करते हैं और अपनी वशगत श्रेष्ठताका दावा करते हैं। कभी कभी वे अपनेको ब्राह्मण भी कहा करते हैं। इस प्रकार तामिल और तजोर प्रान्तकी पटलूनकर जाति ( जो गुजरात-काठियावाडकी आदिम अधिवासी होनेके कारण 'सौराष्ट्रक' भी कहलाती है ) अपनेको ब्राह्मण कहती है और उपवीत धारण करती तथा आयंगर आदि पदवियोंका व्यवहार करती है[2]। पटवेगर जातिकी चर्चा पहले ही हो गई है। दाक्षिणात्यके साले भी अपनेको ब्राह्मण कहने और

१ सरगलोकमें क्या दुख पडिया तुम आई कलिमाहीं।
जाति जुलाहा नाम कबीरा अजहुँ पतीजौ नाहीं॥
तहाँ जाहु जहाँ पाट-पटम्बर अगरचँदन घसि लीना।
आइ हमारे कहा करौगी हम तौ जाति कमीनाँ॥

—क० ग्रं०, पद २७०

२ माइसोर०, जि० ४, पृ० ४७४–'जाति-भेद' से।

शास्त्री आदि पदवियाँ धारण करने लगे हैं। ब्राह्मणोंकी भाँति इनकी शाखायें और गोत्र भी हैं। शायद ही किसी अन्य जातिमें अपनी वर्तमान सामाजिक मर्यादाके विषयमें ऐसा तीव्र असन्तोष हो जैसा कि वयनजीवी जातियोंमें पाया जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि किसी कालमें यह पेशा उत्तम गिना जाता था और किसी अज्ञात कारणसे इस पेशेके लोग अपनी ऊँची मर्यादासे अधःपतित हुए हैं और उनके भीतर उनकी पुरानी महिमाके जो संस्मरण बच रहे हैं वे ही उन्हें असन्तुष्ट बनाये हुए हैं। सम्भवतः इस देशमें ब्राह्मण-श्रेष्ठता प्रतिष्ठित होनेके पूर्व इन बाईस वयनजीवी जातियोंमेंसे कई जैन-बौद्धादि ब्राह्मणेतर धर्मोंमें उन्नत स्थानकी अधिकारिणी रही होंगी।

बंगाल-बिहारकी 'सराक' जाति ताँतियोंकी ही एक शाखा है। इनके विषयमें हालहीमें एक अत्यन्त मनोरंजक तथ्यका रहस्योद्घाटन हुआ है। ब्रह्मवैवर्त पुराणके अनुसार 'शराक' जातिकी उत्पत्ति जुलाहा पिता और कुविन्द (ताँती) मातासे हुई है[1]। परन्तु आधुनिक खोजोंसे पता चला है कि ये शराक असलमें श्रावकोंके अर्थात् जैनियोंके भग्नावशेष हैं जो अवस्था-दुर्विपाकसे समाजके निचले स्तरमें डाल दिये गये हैं। अब भी इनके सामाजिक आचारोंमें बहुत कुछ जैन आचार रह ही गये हैं। अब फिरसे जैन मुनियोंने इनकी ओर ध्यान देना शुरू किया है।

सराक (शराक=श्रावक) जातिके इस रहस्योद्घाटनपरसे यह अनुमान पुष्ट होता है कि अन्यान्य वयनजीवियोंकी वर्तमान अवस्थाका कारण उनका ब्राह्मणेतर विश्वासका आश्रय होना चाहिए। शायद इन्होंने शुरू शुरूमें ब्राह्मण-धर्मका जबर्दस्त विरोध किया होगा। विरोधकी मात्राका कुछ अनुमान तो कबीरके पदोंसे ही हो जाता है।

लेकिन इन वयनजीवी जातियोंमे सबसे मनोरंजक बंगालके 'जुगी' या योगी हैं। सन् १९२१ की मनुष्य-गणनाके अनुसार अकेले बंगालमें इन जुगी या योगी लोगोंकी संख्या ३,६५,९,१० थी। ये सारे बंगालमें फैले हुए हैं और कपड़ा बुननेका काम करते हैं। हिन्दू समाजमें उनका स्थान क्या है, यह इस एक बातसे अनुमान किया जा सकता है कि १९२१ ई० की मनुष्य-गणनाके समय जब एक जुगी परिवारने अपनेको स्थानीय प्रचलनके अनुसार 'जुगी' न लिखा

---

१ जोलात् कुविन्दकन्यायां शराकः परिकीर्तितः। —ब्र० वै० पुराण। १०।१२१

कर ' योगी ' लिखाना चाहा तथा अपनी स्त्रियोंके नामके सामने देवी जुड़वानेकी इच्छा प्रकट की, तो गणना-लेखक ब्राह्मण-कर्मचारीने कहा था कि मैं अपना हाथ कटा देना अच्छा समझूँगा पर ' जुगी 'को ' योगी ' और इनकी स्त्रियोंको ' देवी ' नहीं लिख सकूँगा ! आजकल इन योगियोंकी दृढ संघटित सभा है जो जोगियोंमें संबंधके अच्छी जानकारी सग्रह कर रही है। ये लोग अपनेको ' योगी ब्राह्मण ' भी कहने लगे हैं। इस प्रकारकी योगी जातियाँ बिहारमें भी पाई जाती हैं और युक्त-प्रान्तमें भी किसी जमानेमें थीं। आचार्य क्षितिमोहन सेन महाशयने अपने ' भारतवर्षमें जाति-भेद ' नामक ग्रंथमें लिखा है ( पृ० १४४ ) कि ' बंगालके युगी ( जुगी ) या नाथ लोग पहले तो वेद-स्मृतिशासित हिंदू ही नहीं थे। नाथ-धर्म एक स्वतंत्र और पुराना धर्म है। मध्य युगमें इनमेंके अधिकाश बाध्य होकर मुसलमान हो गये थे। ये ही जुलाहे हुए। ये स्वयं अपना पौरोहित्य किया करते थे। बादमें उन लोगोंने, जो पुरोहितका काम करते थे, जनेऊ पहनना शुरू किया। इससे समाजमें एक जबर्दस्त आन्दोलन हुआ। टिपरा जिलेके कृष्णचंद्र दलालने जनेऊ पहननेका आन्दोलन किया था।......अब इनमें कितने ही बाहर जाकर ' पंडित ' ' शर्मा ' और ' उपाध्याय ' बन कर बाकायदा ब्राह्मण बन गये हैं। ऐसी कई घटनाये मैं व्यक्तिगत रूपसे जानता हूँ।"

कलकत्ता विश्वविद्यालयने ' गोपीचंदेर गान ' नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित की है। इसके दूसरे भागकी भूमिकामें ( पृ० ३६-७ ) सपादकने लिखा है कि " योगियोंका पूर्व प्रभाव अब कुछ भी नहीं रह गया है। ये लोग क्रमशः विशुद्ध हिंदुत्वकी ओर झुके आ रहे हैं और जीविका चलानेके लिये उन्होंने कपड़ा बुनना, चूना बेंचना और अन्यान्य व्यवसाय आरंभ किये हैं। इनकी उत्पत्तिके संबंधमें नाना भाँतिकी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। शायद ये नाना जातिके मिश्रणसे बने हुए किसी धर्म-सम्प्रदायके भगवानशेष हैं। आज भी रंगपुर जिलेके योगियोंके परम उपास्य देवता 'धर्म' ही हैं। इनके स्मरणीय महा-पुरुष हैं गोरखनाथ, धीरनाथ, छायानाथ और रघुनाथ आदि। ये कार्तिक और वैशाख मासमें भीख माँगकर चावल संग्रह करते और उससे 'धर्म' देवताकी पूजा करते हैं। इस पूजामें हंस और कबूतर वगैरः उत्सर्ग तो किये जाते हैं पर मारे नहीं जाते।...'धर्म'की कोई मूर्ति नहीं बनाई जाती। इनके गुरु और पुरोहित

ब्राह्मण नहीं होते बल्कि इनकी अपनी ही जातिके आदमी होते हैं। पुरोहितोंको 'अधिकारी' कहते हैं। स्त्रियोंकी पूजाके लिये अधिकारीकी मध्यस्थता ज़रूरी नहीं होती। जन्मके बाद क्षौर-कर्मके समय बालकोंका कान चीर देना निहायत ज़रूरी समझा जाता है। तीन वर्षकी उमरमे ही गुरु-मन्त्र ग्रहण करना आवश्यक होता है अन्यथा शिशुका पंक्ति-भोजनका अधिकार जाता रहता है। मृत-देहको 'योड-आसन' या योगासनमे समाधि दी जाती है। यह भी सुना गया है कि कहीं कहीं धर्म-ठाकुरको चूनेका उपहार दिया जाता है। चूना बेचना और भीख मॉगना रंगपुरके योगियोका प्रधान व्यवसाय है। किन्तु ढाका और टिपरा जिलेमे कपड़ा बुनना ही प्रधान व्यवसाय है।......"

ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानोंके आनेके पहले इस देशमें एक ऐसी श्रेणी वर्तमान थी जो ब्राह्मणोसे असन्तुष्ट थी और वर्णाश्रमके नियमोकी कायल नहीं थी। नाथपंथी योगी ऐसे ही थे। रमाई-पंडितके 'शून्य पुराण'से जान पड़ता है कि एक प्रकारके तान्त्रिक बौद्ध उन दिनों मुसलमानोको धर्म-ठाकुरका अवतार समझने लगे थे। उन्हें यह आशा हो चली थी कि अब पुनः एक बार बौद्ध धर्मका उद्धार होगा। शायद उन्होंने हिंदू-विरोधी सभी मतोंको बौद्ध ही मान लिया था। जो हो, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं कि उन दिनों नाथ-मतावलंबी गृहस्थ योगियोंकी एक बहुत बड़ी जाति थी जो न हिंदू थी और न मुसलमान। बंगालकी युगी जाति इसी सम्प्रदायमूलक जातिका भग्नावशेष है। कई बातें ऐसी हैं जो यह सोचनेको प्रवृत्त करती हैं कि कबीरदास जिस जुलाहा वंशमें पालित हुए थे वह इसी प्रकारके नाथमतावलंबी गृहस्थ योगियोंका मुसलमानी रूप था।

सबसे पहली लगनेवाली बात यह है कि कबीरदासने अपनेको जुलाहा तो कई बार कहा है पर मुसलमान एक बार भी नहीं कहा। वे बराबर अपनेको 'ना-हिंदू ना-मुसलमान' कहते रहे। आध्यात्मिक पक्षमें निस्सन्देह यह बहुत ऊँचा भाव है, पर कबीरदासने कुछ इस ढगसे अपनेको उभय-विशेष बताया है कि कभी कभी यह सन्देह होता है कि वे आध्यात्मिक सत्यके अतिरिक्त एक सामाजिक तथ्यकी ओर भी इशारा कर रहे हैं। उन दिनों वयन-जीवी नाथ-मतावलंबी गृहस्थ योगियोंकी जाति सचमुच ही ना-हिंदु-ना-मुसलमान थी। कबीरदासने कमसे कम एक पदमें स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है कि हिंदू और हैं,

मुसलमान और हैं और योगी और हैं क्योंकि योगी या जोगी गोरख गोरख करता है, हिंदू राम राम उच्चारता है और मुसलमान खुदा खुदा कहा करता है'[1]।

यह स्पष्ट रूपसे विचार कर लेना चाहिए कि यहाँ हिंदू, जोगी और मुसलमानसे कबीरदासका क्या मतलब रहा होगा। जहाँ जहाँ कबीरदासने हिंदू शब्दका व्यवहार किया है वहाँ वहाँ निम्नलिखित तीन बातोंमेसे तीनों, दो या एकका मतलब रहता है। ये तीन बाते हैं वेद, ब्राह्मण और पौराणिक मत। इन तीनोंको माननेवालेको ही कबीरदास 'हिंदू' कहते हैं। मुसलमान शब्दकी व्याख्या करनेकी जरूरत नहीं। इस शब्दसे कबीरदास हू-ब-हू वही अर्थ लेते हैं जो सदासे लिया जाता रहा है। 'हिंदू' शब्दका व्यवहार आजकल उन सभी धर्म-मतोंके लिए होने लगा है जो भारतवर्षमें उत्पन्न हुए हैं और जिनके अनुयायी अपनेको अहिंदू नहीं कहते। कबीरदास इस शब्दका यह अर्थ नहीं लेते जान पड़ते।

'योगी' शब्द और भी अस्पष्ट है। योग-क्रिया करनेवालेको योगी कहते हैं। इनके विषयमें हम आगे विस्तार-पूर्वक चर्चा करनेका अवसर पायेंगे। हिंदू लोग ब्राह्मणको श्रेष्ठ और पूज्य मानते हैं। सन्यासी और योगी भी उनके लिए पूज्य हैं। किन्तु आश्रम-भ्रष्ट योगी और संन्यासी हिंदू समाजमें बहुत निकृष्ट समझे जाते हैं। यदि कोई संन्यासी फिरसे गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट हो जाय तो उसकी सन्तति अस्पृश्य हो जाती है। इस देशके हर हिस्सेमें भ्रष्ट संन्यासियोंसे बनी हुई जातियाँ पाई जाती हैं। उत्तर भारतकी गोसाईं, वैरागी, अतीत, साधु, जोगी और फकीर जातियाँ तथा दक्षिण भारतकी आण्डी, दासरी और पानिसवन जातियाँ ऐसी ही हैं। जब तक संन्यासी अपने संन्यासाश्रममे होता है वह हिंदूका पूज्य होता है, पर घरबारी होकर वह उसकी आँखोंमें गिर कर भ्रष्ट हो जाता है। घरबारी संन्यासियोंकी सततिसे जो जातियाँ बनती हैं वे समाजके निचले स्तरमें चली जाती हैं। इस लिये साधक योगी और गृहस्थ जातिके योगीमें बड़ा भेद है। योगी जाति अर्थात् आश्रमभ्रष्ट योगियोंकी सन्तति न तो किसी आश्रम-व्यवस्थाके अन्तर्गत आती है और न वर्ण-व्यवस्थाके। आजकल इन जातियोंमेंसे कई अपनेको 'ब्राह्मण' कहने लगी हैं। कइयोंने तो अपना दावा ब्राह्मणत्वके भी ऊपर उठा दिया है। अतीत

---

१ जोगी गोरख गोरख करै। हिंदू राम-नाम उच्चरै।
मुसल्मान कहै एक खुदाइ। कबीराको स्वामी घटि घटि रह्यौ समाइ॥
—क० ग्रं०, पद २००

लोग अपनेको ब्रह्माके मस्तकसे उत्पन्न कहते हैं और इसपरसे यह तर्क उपस्थित करते हैं कि वे ब्राह्मणसे ऊँचे हैं क्योंकि ब्राह्मण तो ब्रह्माके मुखसे ही उत्पन्न हैं, और हम मस्तकसे! मस्तक निस्सन्देह मुखसे ऊँचा है। वस्तुतः ये जातियाँ एक ज़मानेमें आश्रमभ्रष्ट होनेके कारण वर्णाश्रम-व्यवस्थाके बाहर पड़ती थीं। सर्वग्रासी हिंदू जातिने उन्हे अब सम्पूर्ण रूपसे आत्मसात् कर लिया है।

परन्तु इन आश्रम-भ्रष्ट जातियोंमेंसे अधिकाश अब भी भेष धारण करती हैं, भिक्षापर निर्वाह करती हैं और अनेकानेक सामाजिक कृत्योंमें गृहस्थ-धर्मकी विधिके बदले संन्यासियोंमे विहित विधिका अनुष्ठान करती हैं। बहुतोंका मृतक-संस्कार नहीं होता और संन्यासियोंकी भाँति समाधि दी जाती है। ऊपर हमने देखा है कि बंगालमें योगियोंको कहीं तो समाधि दी जाती है ( अर्थात् शवको गाड़ दिया जाता है ) और कहीं कहीं उनका अग्नि-संस्कार भी किया जाता है ( अर्थात् गृहस्थ हिंदुओंकी भाँति शवको जलाया जाता है )। मेरे एक मित्र पूर्वी बगालके निवासी हैं। उन्होंने बताया है कि त्रिपुरा जिलेके योगियोंका पहले अग्निदाह करते हैं और फिर समाधि भी दे देते हैं अर्थात् मिट्टीमे गाड भी देते हैं। कबीरदासके विषयमें प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्युके बाद कुछ फूल बच रहे थे जिनमेंसे आधेको हिंदुओंने जलाया और आधेको मुसलमानोंने गाड़ दिया। कई पंडितोंने इस बातको करामाती किम्वदन्ती कह कर उडा दिया है, पर मेरा अनुमान है कि सचमुच ही कबीरदासको ( त्रिपुरा जिलेके वर्तमान योगियोंकी भाँति ) समाधि भी दी गई होगी और उनका अग्निसंस्कार भी किया गया होगा। यदि यह अनुमान सत्य है तो जरा दृढताके साथ ही कहा जा सकता है कि कबीरदास जिस जुलाहा जातिमें पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहलेसे योगी-जैसी किसी आश्रम-भ्रष्ट जातिसे मुसलमान हुई थी या अभी होनेकी राहमें थी।

जोगी जातिका संबंध नाथ-पंथसे है। जान पडता है कबीरके वंशमें भी यह नाथ-पंथी संस्कार पूरी मात्रामें थे। यदि नाथ-पंथी सिद्धान्तोंकी जानकारी न हो तो कबीरकी वाणियोंको समझ सकना भी मुश्किल है।

आजसे कई सौ वर्ष पहलेकी जोगी जातिका जो विवरण उपलब्ध हुआ है उससे भी जान पड़ता है कि वे उन दिनों वेद-स्मृति-शासित हिन्दू समाजसे बाहर थे और कपडा बुनने और बेचनेका व्यवसाय किया करते थे। श्री अब्दुल करीम साहबने आजसे लगभग ५–६ सौ वर्ष पहलेकी लिखी हुई 'गोरक्ष-विजय' नामकी

प्राचीन बंगला पुस्तकका सम्पादन किया है। यह पुस्तक शेख फैजुल्लाह नामक एक मुसलमान बंगाली कविकी लिखी हुई है। इसमें कदली-देशके प्रसंगमें एक जोगिन ( अर्थात् जोगी जातिकी स्त्री ) के द्वारा गोरखनाथको भुलावा देनेके प्रसंगमें इस प्रकार कहलवाया गया है, "तुम जोगी हो, जोगीके घर जाओगे और अन्न-जल पाकर तृप्त होगे, इसमें भला सोचना विचारना क्या है ? तुम जिस जाति और गोत्रके हो मैं भी उसी जाति-गोत्रकी हूँ, फिर मेरे यहाँ चलनेमें दोष क्या है ? तुम बलिष्ठ और युवक योगी हो, मैं जवान जोगिन हूँ। फिर क्यों न हम अपना व्यवहार शुरू कर दें, क्यों हम किसीकी परवा करने जायँ ? मैं रात-दिन तुम्हारी सेवा करूँगी और अपना-पराया कुछ भी भेद न रखूँगी। मैं चिकना सूत कात दूँगी, तुम उसकी महीन धोती बुनोगे और हाटमें बेंचने ले जाओगे। इस प्रकार सम्पत्ति दिन दिन बढती रहेगी और तुम्हारी झोली और कंथामें अँटाये नहीं अँटेगी।[1]" इससे सिद्ध होता है कि आजसे ५–६ सौ वर्ष पहले भारतवर्षकी पूर्वी सीमापर जो जोगी थे, वे घरबारी हो चुके थे और सूत कातने और वस्त्र बुननेका कार्य करने लगे थे और अपनी पृथक् जाति और गोत्रमें विश्वास करने लगे थे। इसी पुस्तकसे यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि मृत्युके बाद उनका अग्नि-संस्कार नहीं होता था बल्कि समाधि दी जाती थी।

---

१ युगी द्वारे युगी याइबा, अन्न-जले तिप्ति पाइबा
ताते आर किवा आछे कथा ?
तुमि-आमि ज्ञाति-जन, एक गोत्रे उतपन
ताते किछु दोष नाहि आर।
गभुर युगिया तुमि, जोयान योगिनी आमि
ये थाके करियु बेवहार॥
सेविमु ये रात्रदिन, ना जानिए भिन्नभिन
येइ आशा आछए तोमार।
काटिमु चिकन सुति, तुमिह बुनिबा धुति
हाटे ते निवा ये वेन्चिवार॥
दिने दिने वेशी हइब, संपति वाडिया याइब,
झुलि काथा सव याइब छाड़ि॥
—गोरक्षविजय ( कलकत्ता १३२४ सन् ) पृ० ९५–७

ऐसा जान पड़ता है कि ये पौराणिक धर्मके अनुकूल नहीं थे। इनमें भिन्न भिन्न जातिके आश्रम-भ्रष्ट लोगोंकी सन्तति मिली हुई थी। ऊपर जिस जोगिनकी चर्चा है उसने अपनेको ब्राह्मण जोगिन और निरामिषाहारी बताया था (पृ० ६४)। इस प्रकार यद्यपि इनकी एक पृथक् जाति हो गई थी तथापि य लोग वर्णाश्रम-व्यवस्था और स्पृश्यास्पृश्य-विचारके विरोधी थे। न तो ये भगवान्के अवतारोंमें विश्वास करते थे और न त्रिदेवके ही कायल थे। इनके बाह्य मृतकादि संस्कार भी हिंदुओंकी अपेक्षा मुसलमानोंसे अधिक मिलते थे। इस प्रकार इन्हें मुसलमानी धर्ममें आत्म-साधर्म्य ज्यादा मिला और इनका एक अंश धीरे धीरे मुसलमान होता रहा। यह क्रिया अब भी जारी है। आजकल यद्यपि जोगियोंका मुसलमान होना कम हो गया है क्योंकि अब उनकी संघटित सभायें हैं और उन्हें ऐतिहासिक जाति होनेका गौरव प्राप्त है, पर कुछ दिन पहले तक ये निरन्तर धीरे धीरे मुसलमान होते जा रहे थे।

यह आश्चर्यकी बात ही कही जानी चाहिये कि योगियों और नाथ-पंथियोंके मध्ययुगीन आचार-विचारपर प्रकाश डालनेवाली जितनी भी पोथियाँ अब तक आविष्कृत हुई हैं, उनमेंकी अधिकाश मुसलमान कवियोंकी लिखी हुई हैं। "अली राजाका 'ज्ञानसागर,' सैयद सुलतानका 'ज्ञानप्रदीप' और 'ज्ञान-चौंतीसा', मुहम्मद शफीका 'सुर कंदिल', मुरशिदका 'बारामास्या' (बारहमासा), 'योग कलदर' और 'सत्यज्ञानप्रदीप' के समान कोई ग्रंथ हिंदू कवियोंने लिखा हो, ऐसा हमारा जाना हुआ नहीं है[1]।" अनुमान है कि ये कवि-गण कबीरदासकी भाँति ही इसी प्रकारकी किसी जातिके धर्मान्तरित वंशमें उत्पन्न हुए थे। हम और भी आगे बढ़ कर कहना चाहते हैं कि कबीर दादू, रजब, कुतबन, जायसी, नूर मुहम्मद, फाजिलशाह आदि हिंदीके कवियोंकी रचनायें इसी रोशनीमें विवेचित होनी चाहिये। इन सभी कवियोंकी रचनाओंमें योगियोंकी चर्चा किसी न किसी बहाने आ ही जाती है।

ऊपरकी विवेचनाका निष्कर्ष यह हुआ कि:

(१) आजकी वयनजीवी जातियोंमेंसे अधिकाश किसी समय ब्राह्मण-श्रेष्ठताको स्वीकार नहीं करती थीं।

---

१ 'गोरक्षविजय' पृ० १८

( २ ) जोगी नामक आश्रम-भ्रष्ट घरवारियोंकी एक जाति सारे उत्तर और पूर्वभारतमें फैली थी। ये नाथ-पथी थे, कपड़ा बुनकर और सूत कात कर या गोरखनाथ और भरथरीके नामपर भीख माँगकर जीविका चलाया करते थे।

( ३ ) इनमें निराकार भावकी उपासना प्रचलित थी, जातिभेद और ब्राह्मण श्रेष्ठताके प्रति इनकी कोई सहानुभूति नहीं थी और न अवतारवादमें ही इनकी कोई आस्था थी।

( ४ ) आसपासके बृहत्तर हिंदू-समाजकी दृष्टिमें ये नीच और अस्पृश्य थे।

( ५ ) मुसलमानोंके आनेके बाद ये धीरे धीरे मुसलमान होते रहे।

( ६ ) पंजाब, युक्तप्रदेश, बिहार और बंगालमें इनकी कई बस्तियोंने सामूहिक रूपसे मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था।

( ७ ) कबीरदास इन्हीं नव-धर्मान्तरित लोगोंमें पालित हुए थे।

इनमें जो तीसरा निष्कर्ष है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमने इस अध्यायमें उसके विषयमें अधिक प्रमाण नहीं उपस्थित किये हैं। अगले अध्यायमें हम जो कुछ कहने जा रहे हैं उससे इस तृतीय निष्कर्षका पूर्ण समर्थन हो जायगा।

परन्तु आगे हम जो कुछ कहने जा रहे हैं उसके लिये पद पदपर प्रमाणकी जरूरत होगी। कबीरदासके नामपर जो वाणियाँ मिलती हैं उनका कोई हिसाब नहीं है। कबीर-पथी लोगोंका विश्वास है कि सद्गुरुकी वाणी अनन्त है और सद्गुरु अर्थात् कबीरदास। यह मान लेना हमारे वशके बाहर है। यह तो सभी मानते हैं कि कबीरदासने 'मसि कागद छूआ नहीं' था। उनके समस्त उपदेश मौखिक ही हुआ करते थे। शिष्योंने ही उसे लिखा होगा इसमें भी कोई सन्देह नहीं। खोजमें अबतक कबीरदासके नामपर छह दर्जनके आसपास पुस्तकें मिली हैं।[1] इन मेंसे कई तो निस्सन्देह उनकी लिखी हुई नहीं हैं और कई अन्य पुस्तकोंके भीतर

---

१ स्व० रामदास गौड़ने अपनी पुस्तक 'हिंदुत्व'में ७१ पुस्तकोंकी एक लंबी सूची दी है (पृ० ७३४) और प्रो० रामकुमार वर्माने अपने 'हिन्दी साहित्यके आलोचनात्मक इतिहास'में खोजकी रिपोर्टोंके आधारपर ६१ पुस्तकोंकी सूची दी है। गौड़जीकी सूचीमें निर्भयज्ञान, हिंडोला और अलिफनामा (एक जगह अलिफ नामा) ये दो दो बार आये हैं। इस प्रकार उनकी सूचीमें वस्तुतः ६८ ही ग्रंथ हैं। दोनों सूचियोंके सामान्य नाम ये हैं: अठपदरा, अनुरागसागर, अमर मूल, अर्जनामा, अलिफनामा, अक्षर खंडकी रमैनी, अक्षर

आ जाती हैं। बीजकमें रमैनी, शब्द, ज्ञान चौंतीसा, विप्रमतीसी, कहरा, बसन्त, चाचर, बेली, बिरहुली, हिंडोला और साखी ये ११ अंग हैं। इनमेंसे एक एक विभागको अलग करके कभी कभी नई और स्वतंत्र पुस्तक बना दी गई है। अलग किये हुए विभागोंमें यथेच्छ वृद्धि की जाती रही है। फिर, 'पिय पहचानिवेको अंग,' 'सत्संगको अंग' आदि अंग नामक पुस्तकें वस्तुतः साखीके ही उपविभाग हैं।

प्रो० रामकुमार वर्माने इन पुस्तकोंमें किये गये कुछ प्रक्षेपोंका एक मनोरंजक लेखा दिया है। सन् १९०६–८ की खोज-रिपोर्टमें अनुराग-सागरकी एक प्रति पाई गई थी जो सन् १८६२ की लिखी थी। उसमें पद्योंकी संख्या १५९० थी। पर सन् १९०९–११ में इसी पुस्तककी इससे १६ वर्ष पुरानी एक और प्रति मिली। इस पुरानी प्रतिमें पद्योंकी संख्या १५०४ थी। अर्थात् १६ वर्षके

---

भेदकी रमैनी, आरती, उग्रगीता, उग्रज्ञान, मूलसिद्धान्त, कबीर और धर्मदासकी गोष्ठी, क० की बानी, क० अष्टक, क० गोरख गोष्ठी, क० जीकी साखी, क० परिचयकी साखी, कर्मकाण्ड रमैनी (गौड़–कर्मखण्ड०), काया-पंजी, चौका परकी रमैनी, चौंतीसा, छप्पय, जन्मबोध, तीसा यंत्र, नाम महातमकी साखी, निर्भयज्ञान, पिय पहचानवेको अंग, पुकार, बारामासी (गौड़–बारहमासा), बीजक, ब्रह्मनिरूपण, भक्तिका अंग, रमैनी, रामरक्षा, रामसार, रेखता, विचारमाला, विवेकसार, शब्द अलहटुक, शब्द वंशावली, शब्दावली, सत कबीर बंदी छोर, सतनामा, साधोको अंग, स्वास गुजार, हिंडोरा, हंसमुक्तावली, ज्ञानगूदड़ी, ज्ञानस्वरोदय, ज्ञानसागर, ज्ञान-सबोध और ज्ञान स्तोत्र।

इनके सिवा प्रो० वर्माकी सूचीमें ये नाम और हैं: बलखकी पैज, भायौ खंड, चौंतीसा, मुहम्मद-बोध, मंगल-शब्द, शब्द-राग-काफी और राग फगुआ, शब्द राग गौरी और राग भैरव, सुरति संवाद, ज्ञान चौंतीसी।

गौड़जीकी सूचीके अधिक नाम ये हैं: पद, दोहे, सुखनिधान, कबीरपंजी, बलखकी रमैनी, रामानंद गोष्ठी, आनन्दरामसागर मंगल, अनाथ मंगल, मुहम्मदकी बानी, मखहोम, बसन्त होली, झूलना, खसरा, चांचरा, आगम और शब्द पारखा तथा ज्ञानबत्तीसी।

इसके अतिरिक्त बम्बईके वेंकटेश्वर प्रेसने 'बोधसागर' नामसे ११ जिल्दोंमें कबीरदासके ग्रंथोंका संग्रह छापा है। ये ग्रंथ बादके बने हुए जान पड़ते हैं, इनमेंके एकाध, जैसे 'मुहम्मदबोध' ऊपरकी सूचीमें भी आ गये हैं।

अल्पकालमें अनुरागसागरमें ८६ पद्योंकी वृद्धि हो गई ! हम आगे चलकर देखेंगे कि कबीरसाहबके नामपर मुहम्मद, गोरखनाथ, नानक आदिके साथ जो गोष्ठियाँ चलती हैं उनके वक्तव्य-विषय बादकी साम्प्रदायिक कल्पनाओंके आधार-पर बना लिये गये हैं। कई ग्रंथोंमें सम्प्रदाय और भेषकी महिमा बखानी गई है[1]। यह बात सम्पूर्ण अविश्वसनीय जान पड़ती है। कबीरदासने आजीवन संप्रदायवाद, बाह्याचार और बाहरी भेषभावपर कठोरतम आघात किया था। वही कबीर अचानक भेष-भाव और छाया-तिलककी महिमा बखानने लगेंगे यह बात कुछ जँचती नही मालूम देती। इसीलिये कबीरदासके नामपर प्रचलित इन ग्रथोंकी प्रामाणिकता सदेहका ही विषय है। श्री विश्वनाथसिंहजू देवने अपनी टीकाके अन्तमें कबीरदासका कहा जानेवाला एक पद उद्धृत किया है जिसमें कहा गया है कि बीजकका मत ही ग्राह्य है। यह पद स्वयं संदेहात्मक है। क्योंकि इसको सचमुच कबीरकी वाणी माननेके पहले यह मान लेना होगा कि कबीरकी जीवितावस्थामें ही बहुत-से जाली ग्रंथ बन गये होंगे, और जालका जंजाल इतना बढ गया रहा होगा कि उसके निराकरणके लिये कबीरदासको स्वय उद्योगी होकर वह पद लिखना पडा। जो हो, यह पद[2] है महत्त्वपूर्ण। क्योंकि इससे कबीरदासका अपना मत प्रकट होता हो या नहीं,

---

१ माला-तिलक निंदा करैं, ते परगट जमदूत।
कहैं कबीर विचारिके, तेई राक्षस भूत॥
द्वादश तिलक बनावई, अंग अंग अस्थान।
कहैं कबीर विराजही, उज्ज्वल हंस समान॥
—कबीर मन्सूरमें 'गुरु महिमा'से उद्धृत, पृ० १३६३

२ सायर बीजकको पद—
सन्तों बीजक मत परमाना।
कैयक खोजी खोजि थके कोई विरला जन पहिचाना॥
चारिउ जुग और निगम चतुर्भुज गावै ग्रंथ अपारा।
विष्णु विरंचि रुद्र ऋषि गावैं शेष न पावैं पारा॥
कोई निर्गुण सगुण ठहरावैं कोई ज्योति बतावैं।
नाम धनीको सब ठहरावैं रूपको नहीं लखावैं॥

पर इतना निश्चित रूपसे प्रकट हो जाता है कि काफी प्राचीन कालसे कबीरके नामपर चलनेवाले ग्रंथ संदेहकी दृष्टिसे देखे जाते रहे हैं। स्वयं बीजकके विषयमें परम्परा है कि भगवानदास नामक किसी शिष्यने कबीरदासकी जीवितावस्थामें ही बीजकका अपहरण किया था। ले भागनेके कारण ही 'भगवानदास' 'भग्गूदास' बन गया। कहते हैं, इस शिष्यने बीजकको विकृत भी किया था। कहा गया है कि स्वय कबीरदासने ही 'बघेलवंश-विस्तार' में भग्गूदासकी इस करतूतकी चर्चा की है[1]। परन्तु कबीरदासके नामपर पाये जानेवाले इस कथनकी भाषा और युक्ति

---

कोउ सून्छम कोउ थूल कहावें कोउ अक्षर निज साँचा।
सतगुरु कहँ बिरले पहिचानैं भूले फिरैं असाँचा॥
लोभके भक्ति सरैं नहिं कामा साहब परम सयाना।
अगम अगोचर धाम धनीकौ सबै कहैं हाँ जाना॥
देखै न पंथ मिलै नहि पंथी ढूँढ़त ठौर-ठिकाना।
कोउ ठहरावै शून्यक कीन्हा ज्योति एक परनाना॥
कोउ कहैं रूप रेख नहि वाके धरत कौनको ध्याना।
रोम रोममें परगट कर्ता काहे भरम भुलाना॥
पक्ष-अपक्ष सबै पचि हारे करता कोइ न विचारा।
कौन रूप है साँचा साहब नहिं कोई विस्तारा॥
बहु परचै परतीति दृढ़ावै साँचेको विसरावै।
कलपत कोटि जन्म जुग वागै दर्शन कतहुँ न पावै॥
परम दयालु परम पुरुषोत्तम ताहि चीन्ह नर कोई।
तत्पर हाल-निहाल करत है रीझत है निज सोई।
वधिक कर्म करि भक्ति दृढ़ावै नाना मतकौ ज्ञानी।
बीजक-मत कोइ विरला जानै भूलि फिरे अभिमानी॥
कह कबीर कर्तामें सब है कर्ता सकल समाना।
भेद बिना सब भरम परे कोउ बूझौ सन्त सुजाना॥

—विश्व०, पृ० ६५७–८

१ भागूदासकी खबरि जनाई। लै चरणामृत साधु पियाई॥
कोऊ आप कह कालिंजर गयऊ। बीजक ग्रंथ चोराइ लै गयऊ।
सतगुरु कह वह निगुरा पंथी। काह भयौ लै बीजक ग्रन्थी।

सभी बतलाते हैं कि यह बादकी साम्प्रदायिक होड़के कारण लिखा गया है।

जो हो, बीजक कबीरदासके मतोंका पुराना और प्रामाणिक संग्रह है, इसमें सन्देह नहीं। एक ध्यान देने योग्य बात इसमें यह है कि बीजकमें ८४ रमैनिया हैं। रमैनियाँ चौपाई छंदमें लिखी गई हैं। इनमें कुछ रमैनियाँ ऐसी हैं जिनके अन्तमें एक एक साखी उद्धृत की गई है। साखी उद्धृत करनेका अर्थ यह होता है कि कोई दूसरा आदमी मानो इन रमैनियोंको लिख रहा है और इस रमैनी-रूप व्याख्याके प्रमाणमें कबीरकी साखी या गवाही पेश कर रहा है। बहुत थोड़ी-सी रमैनियाँ ( न० ३, २८, ३२, ४२, ५६, ६२, ७०, ८० ) ऐसी हैं जिनके अन्तमें साखियाँ नहीं हैं। जहाँ तक वक्तव्य-विषयका संबंध है मुझे रमैनियोंको अप्रमाणिक समझने योग्य कोई बात नहीं मिली। परन्तु इस प्रकार साखी उद्धृत करनेका क्या अर्थ हो सकता है? इस पुस्तकमें मैंने बीजकको निस्संकोच प्रमाण रूपमें व्यवहार किया है पर स्वयं बीजक ही इस बातका प्रमाण है कि साखियोंको सबसे अधिक प्रामाणिक समझना चाहिये, क्योंकि स्वंय बीजकने ही रमैनियोंकी प्रामाणिकताके लिये साखियोंका हवाला दिया है। इसीलिये कबीरदासके सिद्धान्तोंकी जानकारीका सबसे उत्तम साधन साखियाँ हैं[२]।

साखियोंकी ही भाँति बीजकके शब्द भी बहुत प्रामाणिक हैं। बीजकमे इन शब्दोंकी प्रामाणिकता दिखानेके लिए कभी भी साखियाँ नहीं उद्धृत की गई। इसका अर्थ यह हुआ कि बीजकमे शब्द और साखियाँ सबसे अधिक प्रामाणिक हैं। वे अपने लिए किसी अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं रखतीं। इस पुस्तकमे मैंने इसीलिये पदोंका प्रमाणरूपमें यथेच्छ व्यवहार किया है।

परन्तु मैं यह नहीं मानता कि बीजकके बाहर कबीरदासने कुछ कहा ही नहीं। कबीरपंथियोंमें कबीरदासके स्वसंवेदके चार भेद बताये गये हैं—( १ ) कूटवाणी, ( २ ) टकसार, ( ३ ) मूल ज्ञान और ( ४ ) बीजकवाणी। इनको क्रमशः

---

चोरी करि वह चोर कहाई। काह भयो बड़ भक्त कहाई॥
बीजमूल हम प्रगट चिन्हाई। बीज न चीन्हों दुर्मति लाई॥ इत्यादि
—विश्व०, पृ० २४

२ साखी आँखी ज्ञानकी, समुझि देखु मनमाँहि।
बिन साखी संसारको, झगरा छूटत नाहिं।—साखी नं० ३६९

गढबघोके महात्मा धर्मदास, कर्नाटकके चतुर्भुजदास, दरभंगाके राय बंकेजी और शालमल्ला द्वीप और मानपूरके हिरमीरासजीने प्रचार किया। सो इन अपार वाणियोंका पार पाना कठिन है। और उनकी नित्य स्फीयमान कायाका लेखा-जोखा भी दुष्कर है। पर इतना निश्चित है कि बीजकके बाहर भी कबीरदासकी कुछ वाणियाँ रही ज़रूर होंगी।

इधर बाबू श्यामसुंदरदासजीने काशी नागरी-प्रचारिणी-सभासे कबीर-ग्रंथावली नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित कराई है। कहा गया है कि इसका आधार एक बहुत पुरानी प्रति है जो सं० १५६१ ई० में लिखी गई थी। परम्परासे प्रसिद्ध है कि कबीरदासका आविर्भाव सिकंदर लोदीके जमानेमें हुआ था, उन्होंने स्वामी रामानंदसे बचपनमें ही दीक्षा ली थी और मरतीबार मगहरको चले गये थे। मगहरमें उनके तिरोहित होनेका काल सं० १५७५ की अगहन सुदी एकादशी कहा जाता है। सभी बातोंका विचार करके बाबू श्यामसुंदरदासजीको यही संभव जान पड़ा है कि कबीरदासजीका जन्म सं० १४५६ और मृत्यु सवत् १५७५ मे हुई होगी। अर्थात् कबीर-ग्रंथावलीका प्रकाशन जिस प्रतिके आधारपर हुआ है वह कबीरदासकी मृत्युके १४ वर्ष पहलेकी लिखी हुई है। यदि यह बात सत्य है तो पुस्तककी प्रामाणिकता बहुत बढ़ जाती है। यद्यपि १४ वर्षकी अवधि कम नहीं होती और कबीरदासने निश्चय ही इन चौदह वर्षोंमें और भी बहुत-सी वाणियाँ कहीं होंगीं जो इस संग्रहमे नहीं आ सकी होंगी और इसीलिये इस पुस्तकको एकमात्र प्रामाणिक ग्रंथ नहीं स्वीकार किया जा सकता, तथापि इसमें जितने पद हैं वे तो निश्चय ही प्रामाणिक होंगे।

पर इस बातको मान लेनेमें एक बाधा है। नागरी-प्रचारिणी-सभाकी प्रकाशित पुस्तकमें उक्त प्रतिके अन्तिम पृष्ठका फोटो दिया हुआ है। उसमें जो संवत् लिखा हुआ है वह बादकी लिखावट जान पड़ती है। एक बार 'इतिश्री कबीरजीकी वाणी संपूरण समाप्तः ॥......' इत्यादि लिखकर फिरसे अपेक्षाकृत मोटी लिखावट में 'संपूर्ण सं० १५६१' इत्यादि लिखना क्या संदेहास्पद नहीं है? पहली बार का 'संपूरण' और दूसरी बारका 'संपूर्ण' काफी सकेतपूर्ण हैं। एक ही शब्द के ये दो रूप,—हिज्जे और आकार-प्रकारमें स्पष्ट ही बता रहे हैं कि ये एक हाथके लिखे नहीं हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अन्तिम डेढ़ पंक्तियाँ किसी बुद्धिमान्‌की कृति हैं। इसीलिए मुझे इस पुस्तकके स० १५६१ में लिखित

होनेमें काफी सन्देह है, पर, इसकी प्राचीनतामें कोई संदेह नहीं है। यह पुस्तक १५६१ संवत्‌के बहुत बादकी लिखी हुई होनेपर भी काफी प्राचीन जान पड़ती है। फिर यह प्रति जितनी सुसंपादित है वैसी और कोई पुस्तक नहीं। इसी लिए मैंने इस पुस्तकमे इस प्रतिको प्रमाणरूपसे बराबर व्यवहार किया है।

कबीर-ग्रंथावलीके सम्पादकने परिशिष्टमें ग्रंथ-साहबमें आये हुए कबीरके पदोंका संग्रह करके बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। मैंने यथा-अवसर इन पदोको भी प्रमाणरूपसे स्वीकार करनेमें सकोच नहीं किया है।

कबीरदासकी वाणियोंके अनेक संग्रह प्रकाशित हुए हैं पर उनमें सबसे अच्छा सुसम्पादित संस्करण पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'की 'कबीर-वचनावली' है। यह भी काशी-नागरी प्रचारिणी-सभाका ही प्रकाशन है। प्रयागने बेलवेडियर प्रेसने भी कबीरदासकी शब्दावली छापी है। इस शब्दावलीका द्वितीय सस्करण मेरे पास है। यह संस्करण पहले संस्करणसे बहुत कुछ भिन्न है। इन दोनों सग्रहोका भी मैंने यथा-अवसर उपयोग किया है, पर महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोंके निर्णयके प्रसंगमें यथासभव मूल ग्रथोंके उपयोग करनेकी ही चेष्टा की है।

श्री० क्षितिमोहनसेन द्वारा सम्पादित 'कबीरके पद' एक नये ढंगका प्रयास है। वे 'भक्तोंके मुखसे' सुनकर संग्रह किये गये हैं। अपनी प्रामाणिकताके लिये उन्होंने किसी पोथीकी मुखापेक्षिता नहीं रखी। परम्परासे एक मुँहसे दूसरे मुँह तक आते रहनेके कारण इन पदोंकी भाषा ज़रूर बदल गई होगी पर इसके अन्तर्निहित भावोंकी प्रामाणिकता विश्वसनीय हो सकती है। फिर भी कई विशेष स्वार्थके पोषक महकमोंकी ओरसे इस पुस्तकके गभीर विचारोंको उड़ा देनेकी चेष्टा की गई है। कहा गया है कि इसमें पाये जानेवाले उच्च भाव किसी प्राचीन पोथीमें नहीं मिलते। इस विशेष स्वार्थके पोषक लोग भारतीय मनीषाकी न तो कोई प्रतिष्ठा देखना चाहते हैं, न आदर पाना बर्दाश्त कर पाते हैं। मैंने जानबूझ कर उक्त संग्रहका उपयोग नहीं किया। ऐसा मैंने इसीलिये किया है कि भारतीय मनीषाको जो लोग अस्वीकार करना चाहते हैं वे सीधे ही ऐसा करें। प्राचीन और नवीन पोथियोंका झमेला खड़ा करके अपने उद्देश्य और पाठककी निर्णयात्मिका बुद्धिके बीच पर्दा खड़ा करनेका प्रयास न करें। परन्तु मैं यहाँ अत्यन्त कृतज्ञ-भावसे निवेदन करना चाहता हूँ कि यद्यपि आचार्य सेनकी पुस्तकके पाठ इस पुस्तकमें नहीं लिये गये पर उनके उपदेशोंका यथेच्छ उपयोग किया गया है।

उनके साथ मेरा सम्बन्ध कुछ इतना गम्भीर है कि इस स्थानपर कृतज्ञता प्रकट करनेमे भी सकोच होता है। सच बात तो यह है कि यदि उनसे प्रेरणा न मिलती तो मै यह पुस्तक लिख ही न पाता। उनके दृष्टिकोणमे और मेरे इस पुस्तकमे व्यवहृत दृष्टिकोणमें थोडा मौलिक अन्तर है। वे सन्तोंकी वाणियोंको म्यूजियमके प्रदर्शनकी वस्तु नही मानते और यह बात ठीक भी है। जिसे आज-कल 'एकेडेमिक' आलोचना कहते हैं वह बात कुछ म्यूज़ियमकी रुचिको ही उत्तेजना देती है। आचार्य सेन सन्तोंकी जीवन्त वाणीको जलती हुई मशाल कहते हैं और उनका दृढ विश्वास है कि ये वाणियाँ यथा-समय भारतवर्षकी और संसारकी समस्याओंको सुलझायेगी। ऐसी प्राणमयी वाणीको म्यूजियममे सजाके नहीं रखा जा सकता। मुझे स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरसे भी इस पुस्तकके लिखनेमें बहुत प्रेरणा मिली है और उनकी कविताओ और लेखोंको पढकर कबीरके भावोंको समझनेमें बड़ी सहायता मिली है। मेरा यह परम दुर्भाग्य है कि पुस्तक प्रेसमें जानेके पहले ही वे इहलोक त्याग कर गये। परन्तु परम सौभाग्य यह है कि वे अपना आशीर्वाद छोड़ गये हैं जो आजीवन मुझे बल देता रहेगा।

श्री युगलानन्दजीकी 'सत्य कबीरकी साखी' का भी मैंने इस ग्रन्थमें उपयोग किया है जिसका सम्पादन सं० १६०० और सं० १८४२ की प्रतियोंके आधारपर किया हुआ बताया गया है। परन्तु सब मिलाकर कबीरके अध्ययन करनेलायक पर्याप्त सामग्री मुझे मिली नहीं है, यह मानसिक क्षोभ मैं पाठकोंकी सेवामें उपस्थित कर देना चाहता हूँ। मुझे नाथ, निरजन, महिमा आदि सम्प्र-दायों और आसामसे लेकर काठियावाड तक फैले हुए विविध निर्गुणिया समाजोंका कोई प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं हुआ है। इन सभीको शिरसा स्वीकार करके ही मैंने कार्य आरम्भ किया है।

---

# २–अवधूत कौन है ?

हमने ऊपर देखा है कि कबीरदास जिस वंशमें पालित हुए थे उसमें योग मतका काफी प्रचार था। पर इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि स्वयं कबीरदास योगमतके उपासक थे। उनका पालन-पोषण योगमतके वातावरणमें हुआ था इसीलिये उनकी युक्तियोंमें, भाषापर, तथा तर्कशैलीमें उस मतका प्रभाव रह गया है। जबतक हम ठीक ठीक न समझ लें कि वह मत क्या था, तब तक उसके प्रभावको भी हम ठीक ठीक नहीं समझ सकते। इसीलिये इस मतकी चर्चा कर लेना बहुत आवश्यक है।

कबीरदासके पदोंमें जितने संबोधन हैं उन सबका एक न एक खास प्रयोजन है। जब उन्होंने 'अवधू' या 'अवधूत' को पुकारा है तो यथासंभव अवधूतकी ही भाषामें उसीके क्रिया-कलापकी आलोचना की है। इस प्रसंगमें उनकी युक्ति और तर्कशैली पूर्णरूपसे अवधूत-जैसी रहती है। जब वे पंडित या पाँडेको संबोधन करते हैं तो वहाँ भी उनका उद्देश्य पंडितकी ही भाषामें पंडितकी ही युक्तियोंके बलपर उसके मतका निरास करना होता है। इसी तरह मुल्ला काजी आदि संबोधनोंको भी समझना चाहिये। जब वे अपने आपको या सन्तोंको संबोधित करके बोलते हैं तब वे अपना मत प्रकट करते जान पड़ते हैं। वे अपने मतको माननेवालेको ही 'सन्त' या 'साधु' कहते हैं। साधारणतः वे 'भाई' संबोधनके द्वारा साधारण जनतासे बात करते हैं और जब कभी वे ' जोगिया 'को पुकार उठते हैं तो स्पष्ट ही जान पड़ता है कि इस भले आदमीके संबंधमें उनकी धारणा कुछ बहुत अच्छी नहीं थी। यह दावा किया गया है कि गुरुपरम्पराकी जानकारी रखनेवाले लोग कबीरदासके आत्म संबोधनोंमें एक निश्चित संकेतकी बात बताया करते हैं। इस प्रकार ' हंसकबीर'से मुक्तात्मा, ' कहहिं कबीर 'से स्वोक्ति, ' कहैं कबीर ' या सिर्फ ' कबीर ' से अन्य-उक्ति, ' दास कबीर 'से लोकविशेष-निवासी ईश्वरका उपासक और ' कबीरा' या ' कबीरन 'से कर्मी अज्ञानी तथा वंचक गुरुओंका संकेत होता है ( विचार०, पृ० ४० )।

यद्यपि कबीरदास अवधूत मतको मानते नहीं तथापि अवधूतके प्रति उनकी

अवज्ञा नहीं है। उसे वे काफी सम्मानके साथ ही पुकारते हैं। वे कभी उसे कुछ उपदेश दे देते हैं, कभी कुछ बूझनेको ललकारते हैं, कभी उसकी साधना-पद्धतिकी व्यर्थता दिखा देते हैं और कभी कभी तो कुछ ऐसी शर्तें रख देते हैं जिनको अगर अवधूत समझ सके तो वह कबीरदासका गुरु तक बन सकता है! प्रायः ही वे उससे संध्या-भाषा या उलट-बाँसियोंमें बात करते हैं। कहते हैं, 'भई अवधू, वही योगी मेरा गुरु हो सकता है जो इस बातका फैसला कर दे : एक वृक्ष है जो विना जडके ही खडा हुआ है। उसमें विना फूलके ही फल लग गये हैं, न उसके शाखा है न पत्र, और फिर भी आठो दिशाओंके आकाशको उसने आच्छन्न कर रखा है! इस विचित्र वृक्षके ऊपर एक पक्षी है जो बिना पैरके ही नृत्य कर रहा है, विना हाथके ही ताल दे रहा है, विना जीभके ही गाना गा रहा है! मज़ा यह कि गानेवालेकी कोई रूप रेखा तो नहीं है पर सत्गुरु अगर चाहें तो उसे दिखा सकते हैं! यह पक्षी मीनका मार्ग खोज रहा है। बहुत विचार करके कबीरदास कहते हैं कि परमेश्वर अपरंपार है; उसकी इस मूर्तिकी बलिहारी है[1]।'

यह अवधू कौन है जो कबीरदासका गुरु तक बन सकता है और इस विचित्र पहेलीका ही क्या अर्थ है? महाराज श्री विश्वनाथसिंहजू देवने (विश्व० पृ० २५५) इसी पदकी व्याख्या करते समय बताया है कि "वधू जाके न होइ सो अवधू कहावै," अर्थात् अवधू वधू-हीन जीव है! स्वयं कबीरदास किन्तु ऐसा नहीं मानते। वे अवधू योगीको जगसे न्यारा मानते हैं। वह मुद्रा, निरति, सुरति और सींगी धारण करता है, नादसे धाराको खंडित नहीं करता, गगन-मंडलमें बसता है और दुनियाकी ओर देखता भी नहीं! वह चैतन्यकी चौकीपर

---

१ अवधू, सो योगी गुरु मेरा, जो या पदकौ करै निवेरा।
तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूलों फल लागा।
साखा-पत्र कछू नहिं वाकै, अष्ट गगन मुख वागा।
पैर बिन निरति करॉं बिन बाजै, जिभ्या हीणां गावै
गावणहारके रूप न रेखा, सतगुरु होइ लखावै।
पखीका खोज मीनका मारग, कहै कबीर बिचारी।
अपरंपार पार परसोतम वा मूरतिकी बलिहारी॥

—क० ग्रं०, पद १६५

विराजता है, आकाशपर चढा हुआ भी आसन नहीं छोडता, महामधुर रसका पान करता रहता है और यद्यपि प्रकट रूपमे वह कंथामें लिपटा रहता है पर वस्तुतः हृदयके दर्पणमें सब कुछ देखता रहता है। निश्चल बैठा हुआ नासिकामे २१ हजार ६ सौ धागोंको पिरोया करता है। वह ब्रह्म अग्निमें कायाको जलाता है, त्रिकुटीके संगममें जागता है, सहज और शून्यकी लौ लगाये रहता है',[1]—इस प्रकार यह विचित्र योगेश्वर अवधूत शुरूसे आखिर तक विचित्र पहेली है।

आखिर यह विचित्र जीव कौन है? सचमुच यह तीन लोकसे न्यारा है। निश्चय ही वधू-हीन लोग ऐसे अजीब जीव नहीं होते।

भारतीय साहित्यमें यह 'अवधूत' शब्द कई सम्प्रदायोंके सिद्ध आचार्योंके अर्थमें व्यवहृत हुआ है। साधारणतः जागतिक द्वंद्वोंसे अतीत, मानापमान-विवर्जित, पहुँचे हुए योगीको अवधूत कहा जाता है। यह शब्द मुख्यतया तान्त्रिकों, सहजयानियो और योगियोंका है। सहजयान और वज्रयान नामक बौद्ध तान्त्रिक लोगोंमें 'अवधूती वृत्ति' नामक एक विशेष प्रकारकी यौगिकवृत्तिका उल्लेख मिलता है।[2]

आठवीं शताब्दीके बादसे नालंदा, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी आदि विद्यायतनोंमें जो बौद्ध धर्म प्रचलित हुआ वह एक नवीन ढंगका तान्त्रिक और योगक्रियामूलक धर्म था। इस नवीन तान्त्रिक मतमे तीन प्रधान मतोंका संधान पाया गया है—सहजयान, वज्रयान और कालचक्रयान। इन मतोंकी

---

१ अवधू जोगी जगथैं न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न खण्डै धारा॥
बसै गगनमें दुनी न देखै चेतनि चौकी बैठा।
चढि अकास आसण नहीं छाडै पीवै महारस मीठाँ।
परगट कंथा माँहै जोगी दिलमैं दरपन जोवै।
सहस इकीस छसै धागा निहचल नाकै पोवै।
ब्रह्म-अगिनिमें काया जारै त्रिकुटी-संगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर सहज सुनि ल्यो लागै॥
—क० ग्र०, पद ६९

२ चर्यापद २७–२; १७–१ देखिये; पृ० १२४ का दोहा भी देखिये।
—बौद्ध गान ओ दोहा

अधिकाश पुस्तकें आज तिब्बती अनुवादके रूपमें ही सुरक्षित हैं। स्व० म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्रीने चर्याचर्यविनिश्चय, दोहाकोष, अद्वयवज्रसंग्रह और गुह्य-समाजतंत्र आदि पुस्तकें प्रकाशित की हैं। सहजयान और वज्रयानमें बहुत कुछ समानता है। शास्त्रीजीने जो चर्यापद प्रकाशित कराये हैं उनमे आर्यदेव, भूसुक, कान्ह, सरह, लुई आदि आचार्योंके पद हैं जिन्हे तिब्बती साहित्यमें सिद्धाचार्य कहा गया है। ये आचार्यगण सहजावस्थाकी बात करते हैं। सहजावस्थाको प्राप्त करने पर ही साधक अवधूत होता है। कान्ह सहजरूप पद्मवनमे प्रवेश करके मधुपानसे मत्त होनेकी बात करते हैं[1] और जोर देकर कहते हैं कि पंचस्कंधों या संस्कारोंके नष्ट होनेकी कुछ चिन्ता मत करो यदि तुम्हारा चित्त 'सहज-शून्य'से परिपूर्ण हो गया है[2]। इसी प्रकार भूसुकपाद सहजानंद-लीलासे ही मिलनका रहस्य समझ सकनेकी घोषणा करते हैं[3] और सरहपाद कहते हैं कि 'ऐ नाविक, चित्त स्थिर कर सहजके किनारे किनारे अपनी नैय्या चलाये जा, रस्सीसे खींचता चल, दूसरा उपाय नहीं है।[4]' यह सहजावस्था बहुत-कुछ वैसी है जैसी परवर्ती कालके नाथ-पंथियोंमे प्रसिद्ध थी और जिसकी चर्चा करनेका अवसर हमें आगे मिलेगा। ये लोग बाह्य अनुष्ठानोंमें एकदम विश्वास नहीं करते थे, ब्राह्मण, याज्ञिक, त्रिदण्डी, जटाधारी और क्षपणक आदि सभीका उपहास करते थे और किसी प्रकारकी पूजाअर्चामें विश्वास नहीं करते थे। भला ध्यान-धारणासे, पूजोपचारसे और शास्त्रपाठसे कहीं मुक्ति होती है ?—

---

१ कान्ह विलसआ आसव माता।
सहज नलिनिवन पइसि निवाता। —चर्या० ९–४

२ चिअ सहज-शून-सम्पुन्ना।
काध विओएँ मा होहि विसन्ना॥ — चर्या० ४२–२

३ भूसुक भनइ मइ बूझि अकेलें।
सहजानंद महासुख लीलें॥ २७–१०

४ चीअ थिर करि धरहु रे नाइ।
आन उपाये पार ण जाइ।
नौवा ही नौका टानअ गुणे।
मेलि मेलि सहजे जाउ ण आणे। —चर्या० ३८–४–६

मोक्ख कि लब्भइ ज्झान पविट्ठा ।
किन्तह किज्जइ किन्तह णिवेज्जं
किन्तह किज्जइ मन्तह सेव्वं ।

इसीलिये सरहपादने अपने चित्तको संबोधन करके कहा है कि 'ऐ मेरे चित्त, वहाँ चल कर विश्राम करो जहाँ सूर्य और चंद्रकी भी गति नहीं, जहाँ मन और पवन भी संचरित नहीं होते; जहाँ आदि भी नहीं, अन्त भी नहीं, मध्य भी नहीं; जन्म भी नहीं, मरण भी नहीं; अपना भी नहीं पराया भी नहीं—जो महासुख है, जो सहजावस्था है!—

जहि मन पवन न संचरइ रवि शशि नाह पवेश ।
तहि वट चित्त विश्राम करु सरेंह कहिय उवेश ॥
आइ न अन्त न मज्झ णउ, णउ भव णउ निव्वाण ।
एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण ॥

यद्यपि हम आगे चलकर देखेंगे कि इन सिद्धोंकी वाणियोंसे कबीरदासकी वाणियोंका सम्बन्ध है तथापि आगे जो कुछ विवेचना की जा रही है उसके बलपर मेरा अनुमान है कि कबीरपर इन सिद्धोंका प्रभाव नाथपंथियोंकी मध्यस्थतामें ही पड़ा है। वस्तुतः जब कबीरदास अवधूतको पुकारते हैं तो इन सिद्धाचार्योंके अवधूतसे उनका सीधा अभिप्राय नहीं होता।

निर्वाण-तंत्र ( चतुर्दश पटल ) में कहा गया है कि अवधूत वह है जो सब पंच तत्त्व सेवन करता हुआ वीराचारी होकर रहता है, संन्यासकी सभी विधियोंका यथोक्त पालन करता है, दण्डियोंकी भाँति अमावास्याके दिन मुण्डन न कराके लम्बे केश और जटा आदि धारण करता है, अस्थिमाला और रुद्राक्षको धारण करता है, दिगम्बर होकर या कौपीन-मात्र धारण करके रहता है और शरीरमें रक्त चन्दन और भस्मका लेप करता है[1]।

---

[1] शृणु देवि, प्रवक्ष्यामि अवधूतो यथा भवेत् ।
वीरस्य मूर्ति जानीयात् सदा तत्त्वपरायणः ॥
यदुक्तं कथितं सर्वं संन्यासधारणं परम् ।
तद्रूपं सर्वकर्माणि प्रकुर्यात् वीरवल्लभम् ॥
दण्डिनां मुण्डनं चामावस्यानामाचरेद्यथा ।

तंत्र-ग्रन्थोंमें चार प्रकारके अवधूतोंकी चर्चा है—ब्रह्मावधूत, शैवावधूत, भक्तावधूत और हंसावधूत। हंसावधूतोंमें जो पूर्ण होते हैं वे परमहंस और जो अपूर्ण होते हैं वे परिव्राजक कहलाते हैं (–प्रणतोषिणी) परन्तु कबीर-दासने न तो इतने तरहके अवधूतोंकी कहीं कोई चर्चा ही की है और न ऊपर निर्वाण-तन्त्रके बताये हुए अवधूतसे उनके अवधूतकी कोई समता ही दिखती है। 'हंसा' की बात कबीरदास कहते ज़रूर हैं पर वे हंस और अवधूतको शायद ही कहीं एक समझते हो। वे बराबर हंस या पक्षी जीवात्माको ही कहते हैं। परवर्ती साम्प्रदायिक टीकाकारोंने कबीरदासके 'हंसों' का धर्मदास आदि शिष्य अर्थ किया है और किसी किसी टीकाकारने इस शब्दका 'साधु' या 'सिद्ध' अर्थ भी किया है पर ऐसे स्थलोंपर उनका तात्पर्य ज्ञानमार्गी कुटीचर-बहूदक-हंस-परमहंस इन भेदोंसे है, तान्त्रिक या शैव 'हंसावधूत'से नहीं। कबीरदासने पंचमकारसेवी अवधूतकी कोई चर्चा नहीं की।

पंच मकारमें मदिरा भी है। इस मदिरा-सेवनका उल्लेख कबीरमें मिलता ज़रूर है[1] पर उसका कारण और है जो आगे चलकर स्पष्ट हो जायगा। रक्तचंदन और अस्थिमालाधारी अवधूतको तो कबीरदास जानते ही नहीं। वस्तुतः शाक्त या तान्त्रिक अवधूतकी चर्चा कबीरको अभिप्रेत नहीं थी। शाक्तों या 'साकत' लोगोंके संबंधमें कबीरदासने कभी सम्मान नहीं प्रकट किया[2]।

---

तथा नैव प्रकुर्यात्तु वीरस्य मुण्डनं प्रिये ॥
असंस्कृतं केशजालं नुक्तालंवि कचोच्चयम्।
अस्थिमाला विभूषा वा रुद्राक्षानपि धारयेत् ॥
दिगम्बरो वा वीरेन्द्रश्चाथवा कौपिनी भवेत्।
रक्तचन्दनसिक्तांगं कुर्याद् भस्मांग-भूषणम् ॥

१ अवधू, मेरा मन मतिवारा।
उनमनि चढ़्या मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।
गुड़ करि ज्ञान ध्यान करि महुवा भव भाटी करि भारा।
सुषमनि नारी सहजि समानीं पीवै पीवनहारा ॥ —क० ग्रं०, पद ७२

२ साकत मरै सन्त-जन जीवै, भरि भरि राम-रसायन पीवै।—क० ग्रं०, पद ४३
तथा—वैस्नोंकी छतरी भली, ना साकतका बड़गाँव।
और—साकत ब्राह्मण मति मिलै, वैस्नो मिलै चंडाल। इत्यादि।

वस्तुतः ऊपर जिस 'जगथैं न्यारे' अवधूतकी चर्चा है वह गोरखपंथी सिद्धयोगी है। कई जगह तो कबीरने स्पष्ट ही गोरखनाथको अवधू कहा है[1]। ऊपर जिस विलक्षण योगेश्वर अवधूतकी चर्चा की गई है उसके लक्षण गोरखपंथी कनफटे योगियोंके विषयमें ही पूरे उतरते हैं। यही लोग कानमे छिद्र करके वह कुण्डल धारण करते हैं जिसे मुद्रा या 'दर्शन' कहते हैं, यही दो-तीन अंगुलकी काली सींगकी छोटी सी सीटी गलेमें धारण करते हैं जिसे 'नाद' (शृंगीनाद) कहते हैं, और जो सेली नामक काले ऊनी धागोंसे गुँथा होता है। इनके हाथमें नारियलका एक खप्पर होता है। ये लोग गेरुआ वस्त्र और जटा धारण करते हैं, शरीरपर भभूत और ललाटपर त्रिपुंड्र धारण करते हैं। इन्हीं योगियोंको लक्ष्य करके कबीरदासने जो कुछ कहा है उसका भाव यह है कि असली योगी वह नहीं है जो इन बाह्य वेशोंको धारण करता है, असली तो वह है जो इन बाह्य वेशोंकी कोई परवा नहीं करता, जो मनहीमें मुद्रा और खप्पर धारण करता है, मनहीमे आसन लगाता है, मनहीमें सींगी बजाता है,—जो भीतरसे योग रससे परिपक्व हो गया है[2]।

गोरखनाथके मतमे योगीके चिह्न मुद्रा, नाद, विभूति और आदेश बताये गये हैं। मुद्राका बड़ा माहात्म्य है। सिद्धसिद्धान्तपद्धतिमें कहा गया है कि 'मुद्' धातु मोदार्थक और 'रा' धातु दानार्थक है। ये दोनों जीवात्मा और परमात्माके वाचक हैं। इन दोनोंकी एकता विधान करनेवाली यह मुद्रा है जिसके दर्शनसे देवगण प्रसन्न होते हैं और असुरगण भाग जाते हैं। यह साक्षात् कल्याणदायिनी है। इस मुद्राको कान फाड़कर पहनाया जाता है। इसीलिये इस पवित्र मुद्राके कारण क्षुरिका या छुरी भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इसीलिये क्षुरिकाकी महिमा वर्णनके लिये क्षुरिकोपनिषद् रचित हुई है और उस उपनिषद्में बताया

---

१ रामगुन वेलड़ी रे अवधू गोरखनाथि योगी। —क० ग्रं०, पद १६३

२ सो जोगी जाके मनमें मुद्रा। राति-दिवस ना करई निद्रा॥
मनमें आसण मनमें रहणा। मनका जप-तप मनसूं कहणा॥
मनमें खपरा मनमें सींगी। अनहद-वेन बजावै रंगी॥
पचपरजारि भसमकरि भूका। कहै कबीर सोलहसी लंका॥
—क० ग्रं०, पद २०६

गया है कि एक बार क्षुरिकाके स्पर्शसे मनुष्य योगी हो जाता और जन्म-मरणके बंधनसे मुक्त हो जाता है[1] ! नादको ही अनाहद या शृंगी नामसे कहा गया है। आदेश आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा (?) इन तीनोंकी संभूति या मिलनको कहते हैं[2]। इस प्रकार योगियोंके सभी चिह्न असलमें आध्यात्मिक वृत्तियोंके प्रतीकमात्र हैं। परन्तु अवधूतके लिये यह सब नियम अवश्य पालनीय नहीं हैं। वह कहीं भोगी होकर, कहीं त्यागी होकर, कहीं नग्न रह कर, कहीं पिशाच-सा बना हुआ, कहीं राजा होकर, कहीं आचारपरायण बन कर, सर्वमय होता हुआ भी सर्वविवर्जित होकर रह सकता है[3]। इसी भावको बतानेके लिये भर्तृहरिने कहा है कि जिस अवधूत मुनिकी बाह्य क्रियायें प्रशमित हो गई हैं वह न दुःखको दुःख समझता है न सुखको सुख। वह कहीं भूमिपर सो सकता है कहीं पलँगपर, कहीं कन्था धारण कर लेता है कहीं दिव्य वसन, कहीं शाकाहारपर ही दिन गुजार देता है और कहीं मधुर भोजन पाने पर उसे भी पा लेता है[4]। किन्तु कबीरदास इस प्रकार योगमें भोगको पसंद नहीं करते। न तो वे बाहरी भेषभावको पसन्द करते हैं और न सर्वमय होकर सर्वविवर्जित बने रहनेके आचारको। योगी तो वह है जो न भीख माँगे न भूखा सोये, न झोली-पत्र और बटुआ रखे, न अनहद नादके बजानेसे विरत हो, जो पाँच जनेकी जमात (गृहस्थी) का पालन भी करे और संसारसे मुक्ति पानेकी साधना भी जाने। जो ऐसा नहीं वह

---

१ गोरक्ष सिद्धान्त-संग्रह पृ० ९

२ वही पृ० ९

३ कचिद्योगी क्वचित् त्यागी क्वचिन्नग्न. पिशाचवत् ।
कचिद्राजा क्वचाचारी सोऽवधूतो विधीयते ॥

—गो० सि० सं०, पृ० १०

४ क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयन.
क्वचित्कंथाधारी क्वचिदपि च माल्यांबरधरः ।
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च दिव्योदनरुचिः
मुनि. शान्तारंभो गणयति न दु.खं न च सुखम् ॥

—वैराग्यशतक

अवधूत योगी कबीरका आदर्श नहीं हो सकता[1]।

यद्यपि इन योगियोंके संप्रदायके सिद्धोंको ही कबीरदास अवधू कहते हैं तथापि वे साधारण योगी और अवधूतके फर्कको बराबर याद रखते हैं। साधारण योगीके प्रति उनके मनमें वैसा आदरका भाव नहीं है जैसा अवधूतके बारेमें है। कभी कभी उन्होंने स्पष्ट भाषामें योगीको और अवधूतको भिन्न रूपमें याद किया है (तुलना कीजिये—क० ग्रं०, परिशिष्ट, पद १२६, पृ० ३०१)।

इस प्रकार कबीरदासका अवधूत नाथपंथी सिद्ध योगी है।

---

१ बाबा जोगी एक अकेला, जाके तीरथव्रत ना मेला
झोली पत्र बिभूति न बटवा, अनहद बेन बजावै।
माँगि न खाइ न भूखा सोवै, घर-अँगना फिरि आवै।
पाँच जनाँकी जमाति चलावै, तास गुरू मैं चेला।
कहै कबीर उनि देस सिधाये, बहुरि न इहि जग मेला॥

—क० ग्रं०, पद २०७

# ३—नाथपंथियोंके सिद्धान्त और कबीरका मत

## ( १ )

अब देखना चाहिये कि इस नाथपंथी अवधूतका मत क्या था और कबीरदास-पर उसका कुछ प्रभाव पड़ा था या नहीं।

गोरखनाथके योगमार्गमें गुरुकी बड़ी महिमा गाई गई है। गुरु ही समस्त श्रेयोंका मूल है और एकमात्र अवधूत ही गुरुपदका अधिकारी हो सकता है। वह अवधूत जिसके वाक्य-वाक्यमें वेद निवास करते हैं, पद-पदमे तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टिमे कैवल्य या मोक्ष विराजमान होता है, जिसके एक हाथमें त्याग है और दूसरे हाथमे भोग और फिर भी जो त्याग और भोग दोनोंसे अलिप्त है।[१] और जैसा कि सूतसंहितामें कहा गया है, वह वर्णाश्रमसे परे है और समस्त गुरुओंका साक्षात् गुरु है, न उससे कोई बड़ा है और न बराबर।[२] इस प्रकारके पक्षपातविनिर्मुक्त योगीश्वरको ही 'नाथ-पद' की प्राप्ति होती है।

'पक्षपातरहित होने' से मतलब ब्राह्मणत्व आदि आश्रमाभिमानसे रहित होनेसे है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि मैंने गुणकर्मविभागसे वर्णोंकी सृष्टि की है। इसपरसे गोरखपथी लोगोंका कहना है कि सभी वर्ण गुण-मूलक हुए और गुण-मूलक अभिमानके रहते हुए ब्रह्म-प्राप्ति असंभव है। आश्रमोंको भी ये लोग गुणमूलक ही मानते हैं इसीलिये आश्रमाभिमानको भी मुक्तिमें बाधक मानते हैं। इस प्रकार गुणमय वर्ण और गुणमय आश्रमका अभिमान रखनेवालेको गुरु

---

१ वचने वचने वेदास्तीर्थानि च पदे पदे।
दृष्टौ दृष्टौ च कैवल्यं सोऽवधूतः श्रियेऽस्तु नः॥
एकहस्ते धृतस्त्यागो योगश्चैककरे स्वयम्।
अलिप्तस्त्यागयोगाभ्यां सोऽवधूत. श्रियेऽस्तु नः॥

—गो० सि० सं०, पृ० १

२ अतिवर्णाश्रमी साक्षात् गुरूणां गुरुरुच्यते।
न तत्समोऽधिको वास्मिन् लोकेऽस्त्येव न संशयः।

—अष्टा०, पृ० ४५९

नहीं बनाया जा सकता। ऐसेके साथ गुरु-शिष्यसंबंध उसी प्रकार निष्फल है जिस प्रकार दो स्त्रियोंके संबधसे पुत्र-प्राप्तिकी आशा! ( गो० सि० सं० पृ० २-३ )

इस अवधूतका परम पुरुषार्थ मुक्ति ही है पर यह द्वैत और अद्वैतके द्वंद्वसे अतीत है। अवधूत गीतामें कहा गया है कि कुछ लोग अद्वैतको चाहते हैं, कुछ लोग द्वैतको, पर इन दोनोंसे परे,—द्वैताद्वैत विलक्षण तत्त्वको कोई नहीं जानता। यह सम-तत्त्व कहलाता है। यदि सर्वगत देव स्थिर, पूर्ण और निरन्तर हैं तो क्या यह द्वैताद्वैत-विकल्पना महामोह नहीं है ?[1] कबीरदासने कुछ इसी भावसे मिलता जुलता पद कहा है।[2] प्रसिद्ध है कि एक बार काशीके पंडितोंमें द्वैत और अद्वैत तत्त्वका शास्त्रार्थ बहुत दिनोंतक चलता रहा। जब किसी शिष्यने कबीर साहबका मत पूछा तो उन्होंने जवाबमें शिष्यसे ही कई प्रश्न किये। शिष्यने जो कुछ उत्तर दिया उसका सार-मर्म यह था कि विवदमान पंडितोंमें इस विषयमें कोई मत-भेद नहीं है कि भगवान् रूप-रस-गंध-स्पर्शसे परे हैं, गुणों और क्रियाओंके अतीत हैं, वाक्य और मनके अगोचर है। कबीरदासने हँसकर जवाब दिया कि भला उन लड़नेवाले पंडितोंसे पूछो कि जो भगवान् रूपसे निकल गया, रससे अतीत हो गया, गुणोंके ऊपर उठ गया, क्रियाओंकी पहुँचके बाहर हो रहा वह अन्तमें आकर संख्यामें अटक जायगा ? जो सबसे परे है वह क्या संख्याके परे नहीं हो सकता ? यही कबीरका द्वैताद्वैत-विलक्षण समतत्त्ववाद है। नाथपंथी लोग जोर देकर इस द्वैताद्वैत विलक्षण-समतत्त्व-वादका समर्थन करते हैं। इस विषयमें कबीरदासका उनसे सीधा संबंध है। जिस स्वयं-ज्योति

---

१ अद्वैत केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समतत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्।
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तर.।
अहो माया महा मोहो द्वैताद्वैतविकल्पना॥
—गो० सि० स० पृ० ११ में उद्धृत

२ गोरख-राम एकौ नहिं उहवाँ ना वहँ वेद विचारा।
हरिहर ब्रह्मा ना सिव-सक्ती ना वहँ तिरथ-अचारा।
माय-बाप-गुरु जाके नाहीं सो धौं दूजा कि अकेला।
कहहिं कबीर जो अबकी बूझे सोइ गुरू हम चेला॥
—बीजक, शब्द ४३

सच्चिदानन्द मूर्तिकी उपासना ये योगीश्वर लोग करते हैं वह ब्रह्मा भी नहीं है, विष्णु भी नहीं है, इन्द्र भी नहीं है, और पृथ्वी जल-वायु-अग्नि-आकाश भी नहीं है। वह वेद और यज्ञ भी नहीं, सूर्य और चन्द्र भी नहीं, विधि और कल्प भी नहीं,—वह इन सबसे विलक्षण स्वयंज्योति सत्य-स्वरूप है[1]। वह कबीरदासके रामकी भाँति ही सबसे न्यारा निरंजन है। ब्रह्मा भी अंजन है, विष्णु भी अजन है, शिव भी, गोपी भी, पुराण भी, विद्या भी, पूजा भी, देवता भी, दान भी, वेश भी पुण्य भी, तप भी, तीर्थ भी। एकमात्र निरंजन राम है जो सबसे विलक्षण है, सबके अतीत[2]। कबीरदासके मतसे 'नाथ' वह है जो समस्त त्रिभुवनका एकमात्र यती,—परब्रह्म है।[3] यह कथन सिद्ध जलधरके वाक्यमें कहे हुए उस वचनसे मिलता है जिसमें 'नाथ' को द्वैताद्वैत विलक्षण, समस्त यतियोंमें श्रेष्ठ, शंकरस्वरूप कहकर स्तुति की गई है।[4]

---

१ न ब्रह्मा विष्णुरुद्रो न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो,
नैवाग्निर्नापि वायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैव कालः।
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधिर्नैव कल्प:,
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्दमूर्ते ॥—सिद्धसिद्धान्तपद्धति

२ राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे।
अंजन उतपति ओ ओंकार, अंजन माँड्या सब विस्तार।
अंजन ब्रह्मा-संकर-इंद्र, अंजन गोपी सँगि गोविंद ॥
अंजन वाणी अंजन वेद, अंजन कीया नाना भेद।
अंजन विद्या-पाठ-पुराण, अंजन फोकट कथहिं गियान ॥
अंजन पाती अंजन देव, अंजनकी करै अंजन सेव।
अंजन नाचै अंजन गावै, अंजन भेष अनन्त दिखावै ॥
अंजन कहौं कहाँ लग केता, दान-पुनि-तप-तीरथ जेता।
कहै कबीर कोई विरला जागै। अंजन छाड़ि निरंजन लागै॥ —क० ग्रं०, पद ३३६

३ सिध सोइ जो साधै इती। नाथ सोई जो त्रिभुवन जती। —क० ग्रं०, पद ३२७

४ वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरहं भानुतेजस्कर वा,
सत्कर्तृ व्यापक त्वां पवन··तिकरं व्योमवन्निर्भर वा।
मुद्रानादत्रिशूलैर्विमलरुचिधरं खर्परं भस्ममिश्रं,
द्वैतं वाऽद्वैतरूपं द्वयत उत परं योगिनं शंकरं वा ॥

यह मत वेदान्तियों, सांख्यों, मीमांसकों, बौद्धों और जैनोंके मतसे अपना वैशिष्ट्य प्रतिपादित करता है। ये लोग श्रुतिको साधिका नहीं मानते ( गो० सिं० सं० पृ० २२-२८; ७५-७६ )। इनके मतसे वेद दो प्रकारके हैं : स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल वेद यज्ञ-यागका विधान करते हैं, योगियोंको इससे कोई वास्ता नहीं ( पृ० २६ )। उनका मतलब समस्त वेदोंके मूलभूत ओंकार-मात्रसे है। क्योंकि ओंकार ही वेदका सार है। कबीर पंथमें भी स्थूल और सूक्ष्म वेदकी कल्पना की गई है जिसकी चर्चा आगे की जायगी। 'ज्ञानचौंतीसा'के आदिमें कबीरदासने मानों इसी मतका समर्थन करते हुए कहा है कि जो ओंकार या प्रणवको जानता है वह उस पराशक्तिको जानता है जो लिखकर मिटा सकती है अर्थात् जो सब कुछ करनेमें समर्थ है। और इसके बाद ही शायद ओंकारपर बहुत अधिक जोर देनेवाले इन योगियोंको लक्ष्य करके कहा है कि ओंकारकी बात तो सभी किया करते हैं पर इसे समझ सकनेवाले विरले ही हैं[1]।

गोरक्ष सिद्धान्त-संग्रहमें पुस्तकी विद्याकी बड़ी खिल्ली उड़ाई गई है। इसमें कवेषय गीताकी एक कहानी उद्धृत की गई है। दुर्वासा मुनि सब शास्त्र पढ़कर महादेवकी सभामें गये। वहाँपर उनके अध्यात्मज्ञानके अभावको देखकर नारदने उन्हें 'भारवाही गर्दभ' कहा। अमर्षी दुर्वासाने सारी पुस्तकें समुद्रमें फेंक दीं और शिवसे अध्यात्म-विद्याकी भिक्षा माँगी। कबीरदासने भी पोथी पढ़-पढ़कर मर-नेवाले और फिर भी रामको न जान सकनेवाले ज्ञान-मूढ़ोंकी कुछ ऐसी ही खिल्ली उड़ाई है[2]। कबीरदासका स्वर बिल्कुल इन योगियोंसे मिलता-जुलता है। योगियोंके पूर्ववर्ती सहजयानी साधकोंमें भी यह बात पाई जाती है और और भी टटोला

---

१ वो ॐकार आदि जो जानै। लिखिके मेटै ताहि सो मानै।
वो ॐकार कहैं सब कोई। जिन्हि यह लखा सो विरले होई॥
—ज्ञानचौंतीसा १-२

२ तू राम न जपहि अभागी।
वेद पुरान पढ़त अस पांडे खरचंदन जैसें भारा।
राम-नाम-तत समझत नाहीं अंति पड़ै मुखि छारा॥
नारद कहैं, व्यास यों भाखैं सुखदेव पूछो जाई।
—क० ग्रं०, पद ३९

जाय तो यह परम्परा बहुत पुरानी प्रतीत होगी। जो लोग कबीरदासकी इस प्रकारकी उक्तियोंको विदेशी साधकोंसे प्रभावित बताते हैं वे न जाने क्या सोचते रहते हैं। कबीरने जब कहा था कि पोथी पढ़ पढ़कर सारा संसार मर गया मगर पंडित कोई नहीं हुआ, केवल प्रियतमको मिलानेवाला एक ही अक्षर पढ़नेवाला पंडित हो जाता है[1]; तो वे गोरखपंथी योगमार्गियोंके ही स्वरमें बोल रहे थे,—घर-घरमें पुस्तकके बोझ ढोनेवाले विद्यमान हैं, नगर-नगरमें पंडितोंकी मंडली मौजूद है, वन-वनमें तपस्वियोंके झुंड वर्तमान हैं किन्तु परब्रह्मको जानने-वाला और उसे पानेका उद्योग करनेवाला कोई नहीं[2]। इस प्रसंगमें कबीरदासने जो नारदादि मुनियोंका हवाला दिया है वह क्या कवेषय गीताकी उस कहानीके ही आधारपर? (तुल०, क० ग्रं०, पद ३९)

"सभी सम्प्रदाय कहते हैं कि ग्रंथ हजारोंकी संख्यामें हैं। मैं कहता हूँ कि यदि मेरी बात मानो तो सभीको कुएँमें फेंक दो। भला जो लोग आधुनिक समयमें स्वयं मुक्त नहीं हो सके, वे दूसरोंको मुक्तिका उपदेश दे सकते हैं, यह कैसे मान लिया जाय? जो व्यक्ति लोगोंको अचरजमें डाल देनेके लिये, या अभिमानवश या जीविकाके लिये, या व्यसनके लिये, या अन्य किसी अभिलषित वस्तुकी प्राप्तिके लिये ग्रन्थ लिखा करता है वह धर्मार्थी पुरुषोंके आगे कैसे शोभनीय हो सकता है?" (गो० सि० सं० पृ०, ७७) इसीलिये योग-बीजमें कहा है कि "सैकड़ों तर्क-व्याकरणादि ग्रन्थोंसे बद्ध होकर ये ज्ञानमूढ़ लोग शास्त्रोंके जालमें बुरी तरह फँस गये हैं। जिस अनिर्वाच्य-पदको देवता भी नहीं बता सकते उसे ये शास्त्र क्या बतायेंगे[3]?" और कबीरदासने मानों इसीपर

---

१ पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै आखिर पीवका, पढै सु पंडित होइ॥ —क० ग्रं० १–९४, पृ० ३९

२ गृहे गृहे पुस्तकभारभाराः पुरे पुरे पंडितयूथयूथाः।
वने वने तापसवृंदवृंदाः न ब्रह्मवेत्ता न च कर्मकर्ता॥

३ अनेकशतसंख्याभिस्तर्कव्याकरणादिभि.।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः॥
अनिर्वाच्यपदं वक्तुं न शक्यते सुरैरपि।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते॥
—गो० सि० सं० (पृ० ३०) में उद्धृत

मुहर लगाते हुए कहा है कि हे भगवान्, तुम जैसे हो वैसा तुम्हें कोई नहीं जानता। लोग दूसरा ही दूसरा कहते रहते हैं। चारों वेदके चार मतोंमें सारा ससार भूला पड़ा है और इस प्रकार श्रुति और स्मृति इन दोनोंके विश्वाससे जकड़ा हुआ संसार आशा-पाशमें व्यर्थ ही उलझा हुआ है। जब ब्रह्मादि देवता और सनकादि भक्त भी इस जालमें उलझे हुए हैं तो मुझ बेचारेकी क्या हस्ती है'[1]!

अद्वैत मतसे नाथ-मतका उत्कर्ष दिखानेके लिये एक कहानी कही गई है। शंकराचार्य अपने चार शिष्यों सहित नदी तीरपर बैठे थे। वहाँ कापालिक रूपमें भैरवने कहा कि आप तो सन्यासी हैं, आप मित्र और शत्रुका समान-दृष्टिसे आकर देखनेवाले हैं, सो कृपया मुझे अपना सिर काट लेने दीजिये ताकि मैं उससे भैरवकी पूजा कर सकूँ। शंकराचार्य ज़रा सोचमें पड़ गये। यदि दे देते हैं तो पराजय होती है, यदि नहीं देते तो शत्रु मित्रमें तुल्यदृष्टिता सिद्ध नहीं होती। शंकरको इस प्रकार शिथिल देखकर उनके एक शिष्य पद्माचार्यने नृसिंहदेवका स्मरण किया और नृसिंहदेवने भी तत्काल उग्र भैरवपर आक्रमण किया। तब उग्र भैरवने कापालिक वेश परित्याग कर अपना असली स्वरूप प्रकट किया और प्रसन्न होकर मेघ-गम्भीर ध्वनिमें कहा कि, 'अहो अद्वैतवाद आज पराजित हुआ! मैंने चालाक मल्लकी भाँति अपने शरीरकी हानि करके भी प्रतिद्वंदीको चित कर दिया। तुम्हारा सिद्धान्त पराजित हुआ। आओ, युद्ध करो। शंकराचार्य इस ललकारका मुक़ाबला नहीं कर सके, क्योंकि संन्यासी लोग प्रारब्ध कर्ममें विश्वास करते हैं, अर्थात् वे मानते हैं कि ज्ञान प्राप्ति हो जानेपर संचित और क्रियमाण कर्म तो जले हुए बीजकी तरह बेकार हो जाते हैं, पर जिस कर्मका फल मनुष्य भोग रहा है वह प्रारब्ध कर्म तब भी बना रहता है। परन्तु अवधूत लोग सभी कर्मोंको योग-बलसे भस्म कर देते हैं, चाहे वह प्रारब्ध हो या सचित हो या क्रियमाण हो।

---

१ जस तूँ तस तोहिं कोई न जांन, लोग कहैं सब आनहि आन।
चारि वेद चहुँ मतका विचार, इहि भ्रमि भूलि पर्‌यौ ससार।
सुरति सुमृति दुइकौ विसवास, बाझि परै सब आसा-पास।
ब्रह्मादिक सनकादिक सुरनर, मैं बपुरो धूँकामैं काकर।
जिसि तुम्ह तारौ सोईपै तिरई। कहै कबीर नाँतर बाँधे मरई॥

—क० ग्रं०, पद ४७

सो, प्रारब्ध कर्मोंने शंकराचार्यको जड बना दिया। फिर कापालिकने योग मायाका आवाहन किया और उसने आकर शंकरके चारो शिष्योंके सिर उतार लिये और उन्हें जलाकर भस्म कर दिया। अब जाकर आचार्य शंकरको ज्ञान हुआ कि वास्तविक शक्ति उनके अद्वैत ज्ञानमें नहीं बल्कि कापालिकोंके योग-मार्गमे है। इसके पूर्व शंकराचार्यने दक्षिण दिशामे विष्णु-सेवन और कर्मोपासनाका अनुष्ठान किया था, पूर्वमें जाकर वैद्यनाथ-धाममें शिवभक्तिकी साधना की थी और फिर भी पश्चिममे जब शक्तिरहित हो गये थे तो भयसे व्याकुल होकर 'सौन्दर्यलहरी' आदि शक्ति-स्तोत्र लिखे थे। आखिरकार जब वे उत्तरमें आये तो आश्चर्यके साथ देखा कि सारी उत्तर दिशा महासिद्धोंसे भरी है। यहाँ आचार्यकी मुलाकात तारानाथसे हुई। उन्होने पूछा कि 'क्यो जी, तुम्हें तीर्थाटन ही करना है या कुछ अध्यात्म-साधना भी?' शंकर कुछ मतलब नहीं समझ सके। उनकी जिज्ञासा देखकर सिद्ध तारानाथने नाथ-पंथके अनुसार योगका उपदेश दिया। अब शंकराचार्यको वास्तविक ज्ञान हुआ और उन्होंने वज्रसूचिकोपनिषद्[1] लिखी और सिद्धान्तबिंदु नामक योगियोंका एक ग्रंथ भी लिखा। यहाँ यह भूल नहीं जाना चाहिये कि कापालिक वस्तुतः नाथपंथी हैं। क्योंकि शाबरतंत्रमें जिन १२ आचार्योंको और उनके १२ शिष्योंको कापालिक कहा गया है वे वस्तुतः नाथ-पंथी ही हैं।[2]

बारह आचार्य और १२ शिष्योंके इन नामोंमेसे कईकी ऐतिहासिकता संदिग्ध

---

१ वज्रसूची या वज्रसूचिकोपनिषद्का कर्त्ता कौन है, यह विवादास्पद प्रश्न है। १९२१ ई० में हडसनने इसे नेपालमें पाया था। वहाँ उस ग्रंथके रचयिता अश्वघोष बताये गये। बादमें इसकी एक प्रति नासिकमें पाई गई जो शंकराचार्यकी लिखी बताई गई। यह उपनिषदोंमें गिनी जाती है और निर्णयसागर प्रेससे १०८ उपनिषदोंका जो संग्रह छपा है उसमें छपी है। इस पुस्तकमें जातिभेदपर तीव्र आक्रमण किया गया है। इसके हिंदी अनुवादके लिये "भारतवर्षमें जातिभेद" पृ० ४८—५० देखिये।

२ बारह आचार्य ये हैं: आदिनाथ, अनादिनाथ, काल, अतिकाल, कराल, विकराल, महाकाल, कालभैरव, बटुक, भूतनाथ, वीरनाथ और श्रीकंठ। बारह शिष्य ये हैं—नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चंद्र, सत्यनाथ, मीननाथ, गोरक्षनाथ, चर्पट, अवद्य, वैराग्य, कंथाधारी, जालंधर और मलयार्जुन (गो० सि० सं० पृ० १३–१९)

होनेपर भी नागार्जुन, मीननाथ, गोरक्ष और चर्पट आदि नाम सचमुच ऐतिहासिक हैं। म० म० हरप्रसाद शास्त्रीने जब बौद्ध सहजयानके सिद्धाचार्योंके प्रति विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट किया तो जाना गया कि बहुतसे सिद्धगण और नाथपंथके आचार्य एक ही हैं। आगे चलकर जब इस विषयकी और भी चर्चा हुई तो जाना गया कि ये नाम सिर्फ सिद्धों और नाथपंथियोंमें ही समान नहीं हैं, बल्कि, नाथपथियों, निरजन-पंथियो, तान्त्रिकों और कापालिकोंमें भी समानरूपसे प्रचलित हैं। इस सूचीमें निर्गुण-मतके सन्तोंका नाम भी जोड़ दिया जा सकता है। इस प्रकार इस विषयका अध्ययन केवल महत्त्वपूर्ण ही नहीं, काफी मनोरंजक भी सिद्ध हुआ है। दुर्भाग्यवश इस तरफ पंडितोंको जितना ध्यान देना चाहिये उतना अभीतक नहीं दिया गया है। सुप्रसिद्ध विद्वान् म०म० पं० गोपीनाथ कविराजका कहना है कि हठयोगियों अर्थात् मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ आदि नाथपथियों, वज्रयानी और सहजयानी बौद्धों, त्रिपुरा सम्प्रदायके तांत्रिकों, नववैष्णवोका नियमित और वैज्ञानिक अध्ययन ऐसी बहुत-सी बातोंका रहस्योद्घाटन करेगा जो इन सबमें समान रूपसे विद्यमान हैं। महायान बौद्धधर्म और तंत्रमतका संबंध बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और इस संबंधमें सावधानता-पूर्ण और गंभीर अध्ययनकी ज़रूरत है।

नाथपंथके आदि प्रवर्तक आदिनाथ अर्थात् स्वयं शिव माने जाते हैं। मत्स्येंद्र इन्हींके शिष्य बताये जाते हैं। इन्हीं मत्स्येन्द्रनाथके कई शिष्य बड़े पंडित और सिद्ध हुए जिनके प्रभावसे यह मत सारे भारतवर्षमें प्रतिष्ठित हो गया। इन शिष्योंमें सबसे प्रधान गोरक्षनाथ या गोरखनाथ थे। सुप्रसिद्ध तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ (= सिद्ध तारानाथ, जिनसे शंकराचार्यके साक्षात्कारकी किंवदन्तीका ऊपर उल्लेख हो चुका है) का कथन है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बादमें शैव हो गये थे। इसीलिये तिब्बतके लामा लोग गोरखनाथको बड़ी घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। गोरखनाथने ही योग-मार्गके अभिनव रूप हठयोगको प्रतिष्ठित कराया। प्रसिद्ध महाराष्ट्र भक्त ज्ञाननाथने अपनेको गोरखनाथकी शिष्य-परम्परामें माना है। उनके कथनानुसार यह परम्परा इस प्रकार है : आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्षनाथ, गाहिनी ( गैनी ) नाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञाननाथ। ज्ञाननाथ तेरहवीं शताब्दीमें वर्तमान थे। इसलिये गोरखनाथ ११ वीं १२ वीं शताब्दीमें हुए होंगे। इस प्रसंगमें गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह ( पृ० ४० ) में बताई

हुई गुरु-परम्पराका भी स्मरण कर लिया जा सकता है। एवं श्रीगुरु आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ,–तत्पुत्र उदयनाथ-दण्डनाथ-सत्यनाथ-सन्तोषनाथ-कूर्मनाथ-भवनार्जिः। उनके गोरक्षनाथ ईश्वरसन्तान थे। शायद मत्स्येंद्रनाथके पुत्र-क्रमसे उदयनाथादि उत्तराधिकारी थे और शिष्य थे गोरखनाथ। इनके कई शिष्य बताये जाते हैं जिनमें बालनाथ, हालीकपाव, मालीपाव आदि मुख्य थे। बंगालके राजा गोपीचंदकी माता मयनामती भी इन्हींकी शिष्या थीं। हालीकपाव या हाड़िफा हाड़ी नामक अन्त्यज जातिमे उत्पन्न हुए थे। ये पहले बौद्ध थे, बादमें नाथमार्गी हो गये थे। इन्हींका एक और नाम जालंधरनाथ बताया जाता है। गोपीचंद जालंधरनाथके ही शिष्य थे। राजा भरथरी या भर्तृहरि भी इन्हींके शिष्य थे ( तु०—क० ग्रं०, पद २९९, पृ० १८९ )।

इन योगियोंकी अद्भुत और आश्चर्यजनक करामातोंकी सैकड़ों कहानियाँ सारे देशमे फैली हुई हैं। जान पड़ता है कि आगे चलकर इन योगियो और निर्गुण-मतवादी सन्तोंमें लोकपर प्रभुत्व प्राप्त करनेकी होड़-सी मची हुई थी। कबीरदास और गोरखनाथके करामाती दॉव-पेंचोकी कहानियॉ काफी प्रसिद्ध हैं। बंगालके दिनाजपुर आदि ज़िलोंमे गोरक्षमतके अनुवर्ती कहे जानेवाले योगियोंके 'धमाली' नामसे प्रचलित बहुतेरे अत्यन्त अश्लील गानोंका पता लगा है। योगियोंके साथ इन अश्लील गानोंका सबंध कैसे हुआ, यह अनुसंधान करने-योग्य प्रश्न है। अपनी ' हिंदी साहित्यकी भूमिका ' मे मैंने इस प्रसंगमें एक बातकी ओर सुधीवृंदका ध्यान आकृष्ट करना चाहा था। पूर्वी युक्तप्रान्त और बिहारमें होलीके अवसरपर जो अश्लील और अश्राव्य गान गाये जाते हैं उन्हे ' जोगीड़ा ' कहते हैं। साधारणतः इस गानके गानेवाले किसी लड़केको स्त्री रूपमें सजा कर नाच भी कराते हैं और बीच बीचमें ' जोगीजी धीरे धीरे 'की आवाज़ देते रहते हैं। जोगीड़ा गा लेनेके बाद ' कबीर ' गाते हैं जो अश्लीलतामे जोगीड़ोंके भी कान काटनेवाले होते हैं। क्या इन ' जोगीड़ों ' और ' कबीरों'के साथ योगियों और कबीर-पंथियोंकी प्रति-द्वद्विताकी कोई पुरानी स्मृति जड़ी हुई है या ये अश्लील गान भी किसी समय उलटबॉसियोंकी भॉति अप्रस्तुत अन्तर्निहित सत्यकी ओर इशारा करनेवाले माने जाते थे ?

इस प्रसंगमें मेरे मित्र श्री ललितकिशोरसिंहजी ' नटवर ' ने एक महत्त्वपूर्ण बातकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया है। ' हिन्दी साहित्यकी भूमिका 'मे ( पृ०

३७ पर ) मैंने गोरखपंथियोंके पदसे मिलते हुए दादूके पदोंका हवाला दिया था। ' नटवर ' जीने बताया है कि ये पद बिहारमे ' जोगीड़ों 'के रूपमें प्रचलित हैं। ' नटवर 'जीने इन पदोको पटनेमें गाये जाते सुना है। अनुसंधित्सु पाठकोको इस दिशामें खोज करना चाहिये।

( २ )

नाथपंथमे स्मार्त आचारोंको कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। यह बात उसे स्मार्त हिंदू-धर्मसे एकदम विरुद्ध दिशामें खडा कर देती है।

" लोग आचार-आचार कहा करते हैं। भला यह आचार अत्याचार हो कर कैसे निभता है ? भोजनमें जो घी देते हो वह भी तो चर्मपात्र ( पशुका थन ) से ही आता है ? चलते समय जो पैरमें जूता देते हो वह भी तो चमडेका ही है। शयनमें जो स्त्री-संग होता है उसकी तो बात ही जाने दो . । सूर्यादि ग्रहणके अवसरपर मिट्टीके बर्तन और जल आदिको अशुचि समझकर छोड देते हो किन्तु धान्य-घृतादिको क्यों नहीं फेंक देते ? बात यह है कि जलाशयमे जल तो बहुत मिल जाता है और कुम्हारोंके घर मिट्टीके बर्तन भी थोड़े ही दाममें मिल जाते हैं तो फिर क्यों न इनको अपवित्र मानकर आचारवान बन लिया जाय ! पर घी और धान्य वगैरः खरीदनेमें तो बहुत पैसे लगते हैं, फिर इन्हें कैसे अपवित्र मानते ? कहाँ तक ऐसी बातें लिखी जाँय। सही बात तो यह है कि आचार वस्तु ही कल्पित है। बुद्धिमान् लोग इसे बिल्कुल नहीं मानते। पर यह न समझना चाहिये कि हमारे मतमें आचार बिल्कुल ही नहीं है। है, मगर विचार-पूर्वक। और लोग जैसा आचार पालन करते हैं वैसा तो हम करते नहीं, पर जो कुछ करते हैं वह गौण मान कर। उसीको मुख्य मान कर नहीं। " ( गो० सि० सं० पृ० ६०–६१ ) क्या ये युक्तियाँ कबीरदासकी युक्तियोंकी भाँति ही चकनाचूर कर देने वाली नहीं हैं ? फिर बड़े नामी गरामी पंडित किस मुँहसे कहा करते हैं कि भारतवर्षमें कबीरदासके पहले ऐसी युक्तियाँ अपरिचित थीं और कबीरदासमें जो इस प्रकारकी युक्तियाँ मिलती हैं वह विदेशी प्रभावके कारण ?

संक्षेपमें कहा जाय तो ये लोग आचारका खंडन करते हैं; द्वैतवाद, अद्वैतवाद और स्मार्त आदि मतोंमें दोष दिखाते हैं, गार्हस्थ्यवर्जन और काम-त्यागपर जोर देते हैं, शिव-शक्तिमें अभेद साबित करते हैं, रुद्रादि देवतामें भगवद्बुद्धि नहीं रखते, पौराणिक कहानियोंकी खिल्ली उड़ाते हैं और यह मानते हैं कि शक्ति सृष्टि

करती है, शिव पालन करते हैं, काल संहार करते हैं, और नाथ मुक्ति देते हैं। नाथ ही एक मात्र शुद्ध आत्मा हैं, बाकी सभी बद्ध जीव हैं,—शिव भी, विष्णु भी, ब्रह्मा भी ( पृ० ७० )। न तो ये लोग द्वैतवादियोंके 'क्रिया-ब्रह्म' मे विश्वास करते हैं और न अद्वैतवादियोंके 'निष्क्रिय ब्रह्म' में। द्वैतवादियोंके स्थान हैं कैलास और वैकुंठ आदि, अद्वैतवादियोंका माया-शबल ब्रह्म-स्थान है, योगियोंका निर्गुण स्थान है परन्तु बन्धमुक्तिरहित परम-सिद्धान्तवादी अवधूत लोग निर्गुण और सगुणसे परे उभयातीत स्थानको ही मानते हैं क्यों कि नाथ निर्गुण और सगुण दोनोंसे अतीत परात्पर हैं ( पृ० ७१ )। पाठक इस बातको स्मरण रखे। कबीरमतके विकासको समझनेमें यह बहुत आवश्यक होगी।

अद्वैतके भी ऊपर विराजमान निराकार-साकारसे अतीत परमशून्य, निरंजन-स्वरूप नाथसे शुरूमें निराकार ज्योतिनाथ हुए, उनसे साकारनाथ, उनकी इच्छासे सदाशिव भैरव, और उनसे शक्ति भैरवी उत्पन्न हुई। सदाशिव-भैरवसे ही विष्णु उत्पन्न हुए, उनसे ब्रह्मा और उनसे यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। नाथसे दो प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न हुई: नादरूपा और बिन्दुरूपा। हम आगे नाद और बिन्दुका दार्शनिक अर्थ समझनेका प्रयत्न कर रहे हैं। वहाँ वह सैद्धान्तिक अर्थ है। यहाँ एक बार व्यावहारिक अर्थ भी समझ लिया जाय। नादरूपा सृष्टि शिष्य-क्रमसे और बिन्दुरूपा पुत्र-पौत्रादि क्रमसे चलती है। नादसे नव नाथ हुए और बिन्दुसे सदाशिव-भैरव। शब्दसृष्टिमें पहले सूक्ष्म-रूपिणी सृष्टि उत्पन्न हुई फिर स्थूलरूपिणी। सूक्ष्म-रूपिणी सृष्टि है प्रणव, महागायत्री, योगशास्त्र और स्थूलरूपिणी है ब्रह्मगायत्री और वेदत्रयी। योगशास्त्रसे तन्त्रशास्त्र हुआ और वेदसे स्मृत्यादि शास्त्र हुए ( गो० सि० सं० पृ० ७२ )।

इसका मतलब यह हुआ कि इन योगियोंके मतसे योगशास्त्र और तंत्रशास्त्रका सीधा सम्बन्ध है। शारदातिलक नामक प्रसिद्ध तंत्र-ग्रन्थमे सृष्टि-तत्त्वको जिस प्रकार समझाया गया है वह काफी साफ और ऊपरके इस वक्तव्यको समझनेमें सहायक है। शारदातिलकमें सृष्टितत्त्वको समझाते समय कहा गया है कि शिवके दो रूप हैं: निर्गुण और सगुण। प्रकृतिसे रहित रूप निर्गुण है और प्रकृतिसे युक्त सगुण। जब शिवका प्रकृतिसे योग होता है तो सगुण शिव आविर्भूत होते हैं। आधुनिक पंडित इस सगुण शिवको समझानेके लिये अँग्रेजी Energised Consciousness शब्दका व्यवहार करते हैं। तो सगुण शिवसे

शक्ति उत्पन्न होती है जिसे आधुनिक पंडित Conscious energy कहकर समझाया करते हैं। इसी शक्तिसे नाद (पर) या Conscious energy in undifferentiated vibration और उससे बिन्दु (पर) या Conscious energy in undifferentiated consolidation की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सगुण शिव,—शक्ति, परनाद,—परबिन्दु यह क्रम होता है। यहाँ तक नाद और बिंदु अव्यक्त या undifferentiated रहते हैं। यहींसे वे व्यक्त या differentiated हो कर प्रकट होते हैं। ऐसी अवस्थामें परबिंदुसे तीन प्रकारकी अभिव्यक्ति होती है : अपर बिंदु ( Differentiated consciou-s'ness ), बीज ( Differentiated conscious Energy ) और अपर नाद The resolute conscious energy in Vibration due to the coalescence of बिंदु and बीज )। इन्हीं तीनोंसे यथाक्रम रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और फिर सृष्टिका पहिया अविश्रान्त घूमने लगता है[1]।

इसका ध्यान रखना चाहिये कि प्रकृति अर्थात् शक्ति यहाँ साख्यवादियोंके समान जड़ नहीं है। सीधी भाषामें यों समझाया गया है कि निर्गुण शिव विशुद्ध चैतन्य है और सगुण शिव उपाधियुक्त। उपाधियुक्त चैतन्यसे उपाधियुक्त शक्ति उत्पन्न होती है। इन दोनोंके संयोगसे विश्वमे जो एक विक्षोभ होता है वही नाद है और उस विक्षोभका क्रियाशील होना ही बिन्दु है। इस नाद और बिन्दुसे सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त विशेषताहीन नाद और बिन्दुका ही ग्रहण होना चाहिये,—इसी बातको समझानेके लिए इन्हें परनाद और परबिन्दु कहा जाता है। कभी कभी लोग परमनाद और परमबिन्दु भी कह देते हैं। इन्हींसे अपर या विशेषतायुक्त नाद, बीज और बिन्दु उत्पन्न होते हैं जो क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रियाके प्रतीक हैं। अर्थात् अपरनाद इच्छा है, बीज ज्ञान है और अपर बिन्दु क्रिया है। इन्हींसे क्रमशः रुद्र, ब्रह्मा और विष्णुकी उत्पत्ति होती है। यह जो ( पर ) नादसे ( पर ) बिन्दु उत्पन्न हुआ और फिर इस ( पर ) बिन्दुसे ( अपर ) नाद और (अपर) बिन्दु उत्पन्न हुआ वही उस भुलभुलैयावाले प्रश्नके मूलमें है कि पहले नाद प्रकट हुआ कि बिन्दु। इस प्रकार तन्त्रका निर्गुण शिव कबीरपंथके सत्यपुरुषके बराबर है, सगुण शिव निरंजन पुरुष है और शक्ति

१ देखिये 'शारदा तिलक'में ज्ञानेन्द्रलाल मजुमदारका Notes on the First Chapter ( Introduction )

आद्याशक्ति है। नाद ही स्वसवेद्य यानी कबीरदासकी वाणियोंके 'निर्मलवेद' के समान है और बिन्दु उसकी क्रिया। हम आगे चलकर कबीरदासके सृष्टितत्त्वको अच्छी तरह समझनेका अवसर पायेंगे। यहाँ योगियों और तान्त्रिकोंके नाद और बिन्दु, निर्गुण और सगुण, तथा शक्ति और शिवके रहस्यको हमें अच्छी तरह मनमें रख लेनेकी ज़रूरत है। आगे हम कबीरके सृष्टितत्त्वको इनकी सहायतासे आसानीसे समझ सकेंगे। यहाँ इसलिए भी इनकी चर्चा कर रखी गई कि जबतक हम कबीरदासके सृष्टितत्त्वको समझनेका अवसर न पा सकें तबतक बीचमें अगर कदाचित् कबीरसाहब निम्नलिखित प्रश्न कर बैठें तो हमे सोचने-विचारनेकी सामग्री मिली रहे —

प्रथमे गगन कि पुहुमी प्रथमे<br>
प्रथमे पवन कि पाँणी।<br>
प्रथमे चन्द कि सूर प्रथमे प्रभु<br>
प्रथमे कौन विनाणी।<br>
प्रथमे प्राण कि प्यंड प्रथमे प्रभु,<br>
प्रथमे रकत कि रेतं।<br>
प्रथमे पुरुष कि नारि प्रथमे प्रभु<br>
प्रथमे बीज कि खेतं।<br>
प्रथमे दिवस कि रैणि प्रथमे प्रभु<br>
प्रथमे पाप कि पुन्यं।<br>
कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन,<br>
तहाँ कछु आहि कि सुन्यं!

# ४—हठयोगकी साधना

नाथ पंथकी साधना-पद्धतिका नाम हठयोग है। कबीरदासको समझनेके लिये इस साधना-पद्धतिकी अच्छी जानकारी होनी चाहिये। इनके सिद्धान्तानुसार महाकुण्डलिनी नामक एक शक्ति है जो सम्पूर्ण सृष्टिमें परिव्याप्त है। व्यष्टि (व्यक्ति)में व्यक्त होने पर इसी शक्तिको कुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी और प्राणशक्तिको ले कर ही जीव मातृ कुक्षिमे प्रवेश करता है। सभी जीव साधारणतः तीन अवस्थाओंमे रहते हैं: जाग्रत्, सुषुप्ति और स्वप्न। अर्थात् या तो वे जागते रहते हैं या सोते रहते हैं या सपना देखते होते हैं। इन तीनों ही अवस्थाओंमें कुण्डलिनी शक्ति निश्चेष्ट रहती है। इस समय इसके द्वारा शरीर-धारणका कार्य होता है। इस कुण्डलिनीको ठीक ठीक समझनेके लिये शरीरकी बनावटकी कल्पना करनी चाहिये। पीठमें स्थित मेरुदण्ड जहाँ सीधे जाकर पायु और उपस्थके मध्यभागमें लगता है वहाँ एक स्वयभू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्रमें अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्रमें स्थित स्वयंभू लिंगको साढ़े तीन वलयों या वृत्तोंमें लपेट कर सर्पिणीकी भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। इसके ऊपर चार दलोंका एक कमल है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं। फिर उसके ऊपर नाभिके पास स्वाधिष्ठान चक्र है जो छह दलोंके कमलके आकारका है। इस चक्रके ऊपर मणिपूर चक्र है और उसके भी ऊपर हृदयके पास अनाहत चक्र। ये दोनों क्रमशः दस और बारह दलोंके पद्मोंके आकारके हैं। इसके भी ऊपर कण्ठके पास विशुद्धाख्य चक्र है जिसका आकार सोलह दलके पद्मके समान है। और भी ऊपर जा कर भ्रूमध्यमें आज्ञा नामक चक्र है जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही षट्चक्र हैं। इन चक्रोंके भेद करनेके बाद मस्तकमेंका शून्य-चक्र मिलता है जहाँ जीवात्माको पहुँचा देना योगीका चरम लक्ष्य है। इस स्थानपर जिस कमलकी कल्पना की गई है उसमें सहस्र दल हैं, इसीलिये इसे सहस्रार चक्र भी कहते हैं। शून्यचक्र ही गगन मण्डल है। इसीको कैलाश भी कहते हैं[1]।

---

१ अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम्।
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्थ बाह्ये तिष्ठति सर्वदा।
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति॥ —शिवसंहिता ५, १५१-२

कबीरदासने कभी कभी जब इसी शरीरमें कैलाशके उपस्थित रहनेकी बात कही है तो उनका मतलब सहस्रार चक्रसे ही रहता है। बताया गया है कि सन्त मतमें इस सहस्राचार चक्रके भी ऊपर एक अष्टम चक्र,—सुरतिकमल—की कल्पना की गई है। कहते हैं कि सहस्रार तक पहुँचे हुए योगीका चित्त व्युत्थान कालमें अर्थात् समाधि टूटनेके बाद फिर वासनाका शिकार हो जाता है पर सुरति-कमलमें विलास करनेवाले सन्तका चित्त ऐसे खतरेसे निश्चिन्त रहता है। (विचार० पृ० १५४–५)

अब मेरुदण्डमें प्राणवायुको वहन करनेवाली कई नाडियाँ हैं जिनमेंसे कुछ-का आभास हम साँस लेते समय पाते हैं। जो नाडी बाईं ओर है उसे इडा और जो दाहिनी ओर है उसे पिंगला कहते हैं। मौजी कबीरने अनुप्रास मिलानेके लिए इनकी जोडीका नाम 'इंगला-पिंगला' बना लिया था। ये दोनों ही बारी बारीसे चलती रहती हैं। इन दोनोंके बीच सुषुम्ना नाडी है। इसीसे होकर कुण्डलिनी शक्ति ऊपरकी ओर प्रवाहित होती है। असलमें सुषुम्नाके भीतरकी कई सूक्ष्म नाडियाँ हैं। सुषुम्नाके भीतर वज्रा, उसके भीतर चित्रिणी और उसके भी भीतर ब्रह्मनाडी है जो कुण्डलिनी शक्तिका असल मार्ग है। इस प्रकार सुषुम्ना वस्तुतः तीन नाडियोंका एकीभाव है। हिसाबसे इडा, पिंगला और ये तीन नाडियाँ मिलकर पाँच होती हैं। इसीलिये इनको 'पंचस्रोतः' या 'पाँच धारायें' कहनेकी भी प्रथा है (हठ० ३–५२)। परन्तु व्यवहारतः इडा-पिंगला सुषुम्ना इन तीन नाडियोंकी ही चर्चा आती है। इन्हीं तीन नाडियोंको सिद्धाचार्योंने 'ललना-रसना-अवधूती' कहा है (बौ० गा० दो०, पृ० ९)। अवधूती अर्थात् सुषुम्ना। क्योंकि, जैसा कि 'हठयोगप्रदीपिका' में कहा है, वैसे तो शरीरमें ७२ हजार नाड़ियाँ हैं; पर एकमात्र सुषुम्ना ही शाम्भवी शक्ति है, बाकी नाड़ियाँ बेकार ही हैं[1]। कबीरदासके विद्यार्थीको अच्छी तरह याद रखना चाहिये कि इड़ा या इंगला ही 'गंगा' है, पिंगला ही 'यमुना' है और सुषुम्ना ही 'सरस्वती' है। इन तीनोंका जहाँ ब्रह्मरंध्रमें संगम हुआ है, वहीं त्रिवेणी या प्रयाग है। कबीरदास कभी कभी शिवसंहिता आदि हठयोगके ग्रन्थोंकी भाँति इसी त्रिवेणीमें

---

१ द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे।
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः।—हठ० ५-१८

स्नान करनेका विधान करते हैं[1]। कबीरकी उलटबाँसियों और योगात्मक रूपकोंकी कुंजीके समान इन सांकेतिक शब्दोंको नहीं भूलना चाहिये।

साधक नाना प्रकारकी साधनाओंके द्वारा कुण्डलिनी शक्तिको ऊपरकी ओर या ऊर्ध्वमुख उद्‌बुद्ध करता है। साधारण मनुष्योंमें यह कुण्डलिनी अधोमुख रहती है इसीलिये वह काम-क्रोधका क्रीतदास बना रहता है। कुण्डलिनी जब उद्‌बुद्ध होकर ऊपरकी ओर उठती है तो उससे स्फोट होता है जिसे 'नाद' कहते हैं। नादसे प्रकाश होता है और प्रकाशका ही व्यक्त रूप महाबिन्दु है। यह बिन्दु तीन प्रकारका होता है: इच्छा, ज्ञान और क्रिया। पारिभाषिक तौरपर योगी लोग इन्हींको कभी सूर्य, चंद्र और अग्नि कहते हैं और कभी ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी कहते हैं। अब, यह जो नाद और बिन्दु हैं वह असलमें अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त अनाहत नाद या अनहद नादका व्यष्टिमें व्यक्त रूप है। अर्थात् जो नाद अनाहत भावसे सारे विश्वमें व्याप्त है उसीका प्रकाश जब व्यक्तिमें होता है तो उसे नाद और बिन्दु कहते हैं। बद्ध जीव श्वास-प्रश्वासके अधीन होकर (इन श्वासोंकी संख्या दिन-रातके चौबीस घंटोंमें २१,६०० होती है) निरन्तर इडा और पिंगलाके मार्गमें चल रहा है। सुषुम्नाका पथ प्रायः बंद है। यही कारण है कि बद्ध जीवके इन्द्रिय और मनकी वृत्ति बहिर्मुख है। जो अखण्ड नाद जगत्‌के अन्तस्तलमें और निखिल ब्रह्माण्डमें निरन्तर ध्वनित हो रहा है उसे वह नहीं सुन पाता। परन्तु जब क्रिया-विशेषसे सुषुम्ना-पथ उन्मुक्त हो जाता है और कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है, तो प्राण स्थिर होकर शून्य पथसे निरन्तर उस अनाहत ध्वनि या अनहद नादको सुनने लगता है। अनुभवी लोगोंने बताया है कि पहले तो शरीरके भीतर समुद्र-गर्जन, मेघ-गर्जन और भेरी झर्झर आदिका-सा शब्द सुनाई देता है, फिर मर्दल, शंख, घंटा, काहलकी-सी आवाज़ सुनाई देती है और अन्तमें किंकिणी, वंशी, भ्रमर और वीणाके गुंजार-सी मधुर ध्वनि सुनाई देने लगती है। जिस प्रकार मकरंद-पानमें मत्त भौंरा गंधकी ओर ताकता भी

---

१ इडा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्कपुत्रिका।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां सगोऽति दुर्लभः॥
ब्रह्मरंध्रमुखे तासां संगमः स्यादसंशयः।
तस्मिन् स्नाते स्नातकानां मुक्तिः स्यादविरोधतः॥ शिव० ५-१३१

नहीं उसी प्रकार योगीका नादासक्त चित्त नादमें ही रम जाता है, वह दुनियाके किसी और विषयकी परवाह भी नहीं करता।

परन्तु ज्यों ज्यों मन विशुद्ध और स्थिर होता जाता है त्यों त्यों इन शब्दोंका सुनाई देना बंद हो जाता है। क्योंकि चिदात्मक आत्मा उस समय अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाता है और फिर बाह्य प्रकृतिसे उसका कोई सरोकार नहीं रहता। यह नाद मूलतः एक होकर भी औपाधिक संबंधके कारण,—अर्थात् भिन्न भिन्न उपाधियोंसे युक्त होनेके कारण सात स्वरोंमे विभक्त है। शास्त्रमें जिसे प्रणव या ओंकार कहते हैं वही उपाधिरहित शब्द-तत्त्व है। किसी-किसी साधकने तथा वैयाकरणोंने इसीको 'स्फोट' कहा है। यह स्फोट अखण्ड सत्ता-रूप ब्रह्मतत्त्वका वाचक है। स्फोटको ही शब्द ब्रह्म और सत्ताको ही ब्रह्म कहा गया है। यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि स्फोट वाचक शब्द है और सत्ता वाच्य। इस प्रकार वाच्य ( ब्रह्मसत्ता ) को प्रकाशित करनेवाला वाचक शब्द ( स्फोट या नाद ) भी ब्रह्म ही है। इसका मतलब यह हुआ कि ब्रह्म ही ब्रह्मका प्रकाशक है। इस संबंधको लेकर भी सन्तोंने कितने ही गूढ रूपकोंकी रचना की है। यह शब्द मूलाधारसे उठता है और सहस्रारमें जाकर लय हो जाता है। हठयोगकी प्रक्रियाको समझनेके पहले यह सब जान लेना आवश्यक है।

लेकिन हठयोग असलमे लक्ष्य नहीं है, इसे राजयोगका सोपान ही बताया गया है, यद्यपि पक्का हठयोगी इसके सिवा अन्य किसी योगकी बात सुनना ही नहीं चाहता। शुरू शुरूमे हठयोगका उद्देश्य शरीरशुद्धि और मनका सम्मार्जन ही समझा गया था पर नाथ-पथमें काया-साधनसे ही मुक्ति मानी जाने लगी। देह शुद्धिके लिये हठयोगकी क्रियाओंका विशाल ठाठ है : धौति है, वस्ति है, नेति है, त्राटक है, नौलि है, कपालभाति है। इन्हें षट्कर्म कहते हैं। फिर

---

१ आदौ जलधि-जीमूत-भेरी-झर्झर-संभवाः।
मध्ये मर्दल-शखोत्थाः घंटा-काहलजास्तथा॥
अन्ते तु किंकिणी-वंश-वीणा-भ्रमरनिस्वनाः।
इति नानाविधाः शब्दाः श्रूयन्ते देहमध्यगा.॥
मकरन्दं पिबन् भृंगो गंधं नापेक्षते यथा।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि काक्षति॥ —हठ० ४–८३–८५

आसनों, मुद्राओं, प्राणायामों, ध्यानों और समाधिका विराट् आडंबर है। और वैसे तो सभी सिद्धिके सोपान हैं पर सिद्धासनके समान आसन नहीं है, खेचरी मुद्राके समान मुद्रा नहीं है, केवलके समान प्राणायाम नहीं है और नादके समान समाधि नहीं है[1]। सिद्धासनमें नाभिके नीचे मेढ्रस्थानपर बाईं एड़ी और ऊपर दाहिनी एड़ी रखनी पड़ती है, ठुड्डी स्थिर होती है और साधक स्थिर होकर भ्रूमध्यमें ध्यान लगाता है ( हठ० १–३७ )। प्राणायाम तीन प्रकारका होता है : रेचक ( साँसका छोड़ना ), पूरक ( साँसका भरना ) और कुम्भक ( साँसका रोकना )। असल प्राणायाम कुम्भक ही है और यह दो प्रकारका होता है : जब रेचक और पूरककी सहायता ली जाती है तब तो इसे 'सहित' कहते हैं पर जब उन दोनोंकी सहायताके बिना ही यह प्राणायाम सिद्ध हो जाता है तो इसे 'केवल' कहते हैं। इसीकी सहायतासे कुण्डलिनी शक्ति उद्बुद्ध होती है।

कबीरदासकी उलटबाँसियोंके विद्यार्थीके कुछ कामकी चीज खेचरी मुद्रा है। इसमें योगी जीभको उलटकर कपाल कुहरमें प्रविष्ट करता है, और उसकी दृष्टि भ्रुवोंमें निबद्ध होती है ( हठ० ३–३२ )। बड़ी साधना और आयासके बाद यह मुद्रा प्राप्त होती है पर एक बार यदि आधे क्षणके लिए भी यह प्राप्त हो गई अर्थात् योगी अपनी जीभको ऊपरकी ओर उलटकर कपालकुहरमें स्थिर कर सका तो समस्त विघ्नों और व्याधियोंसे मुक्त हो जाता है। इसी मुद्राका विशेष रूप व्योम-चक्र भी कहलाता है। ब्रह्मरंध्रके सहस्राकार पद्मके मूलमें जो योनि नामक त्रिकोणाकार शक्तिका केंद्र है वहीं चन्द्रमाका स्थान है। इसमेंसे सदा अमृत झरता रहता है[2]। खेचरी मुद्रामें योगीकी ऊर्ध्वगा जिह्वा उसी अमृत रसका पान करती रहती है। यही अमृत सोम-रस है। इसको पान कर सकने

---

१ नासनं सिद्ध-सदृशं न कुम्भः केवलोपमः।
न खेचरी-समा मुद्रा न नादसदृशो लयः॥

—हठ०—१-४५

२ ब्रह्मरन्ध्रे हि यत्पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम्।
तत्र कंदे हि या योनिः तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः॥
त्रिकोणाकृतिस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम्।

—शिव० ५–१०३

वाला योगी अमर हो जाता है। और सच पूछिये तो वही योगी कुलीन कहलाता है जो नित्य 'गोमास'का सेवन करता रहता है और ऊपरसे अमर-वारुणी नामक मदिराका पान करता रहता है! और योगी तो कुलघातक हैं, क्योंकि 'गो'का अर्थ जिह्वा है और उसे उलटकर तालु-देशमें ले जानेको ही 'गोमास-भक्षण' कहते हैं। निस्सदेह यह महापातकको नाश करनेवाला है। ऊपर जिस चन्द्रमासे निर्झरित सोम-रसकी चर्चा की गई है वही अमरवारुणी है, इन दो कृत्योंको करनेवाला योगी कुलीन नहीं तो क्या है? सो, कबीर-दासने इसी गोमासेक भक्षण न करनेवाले योगियोकी खबर ली थी[2] और इसी रसको पान करनेके लिये अवधूको ललकारा था[3] और स्वयं भी शायद मनोन्मनी अवस्थामें रहकर भवकी भट्टीमे ज्ञानके गुड और ध्यानके महुएसे इसी महारसको

---

१ गोमासं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीन्।
कुलीन तमह मन्ये इतरे कुलघातकाः॥
'गो'शब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमास-भक्षण तत्तु महापातकनाशनम्॥
जिह्वा-प्रवेश-संभूतः वह्निनोत्पादित· खलु।
चन्द्रात्स्रवति य. सार. स· स्यादमरवारुणी॥

—हठ० ३-४६-८

२ नितै अमावस नितै ग्रहन होइ राहु ग्रास तन छीजै।
सुरही भच्छन करत वेदमुख घन वरिसै तन छीजै॥

—बीजक, शब्द ८२

३ अवधू, गगनमडल घर कीजै।
अंमृत झरै सदा सुख उपजै, वंकनालि रस पीजै।
मूल बॉधि सर-गगन-समाना सुषमन यों तन लागी॥
काम क्रोध दोउ भया पलीता तहॉं जोगणी जागी॥
मनवॉ जाइ दरीबै बैठा मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाहीं सबद अनाहद बागा॥

—क० ग्रं० पद ७०

चुआ कर पिया था। गुरुप्रसादसे उन्हें यह अमृत-फलका रस मिल गया था¹। वस्तुतः, जैसा कि हठयोगप्रदीपिकामें कहा गया है, एक ही सृष्टिमय बीज बीज है, एक ही खेचरी मुद्रा मुद्रा है, एक ही निरालंब देव देव है, और एक ही मनोन्मनी अवस्था अवस्था है²। इस मनोन्मनी अवस्थामें वायु भीतर संचरित हुआ रहता है, मन स्थिर हो गया होता है और सही बात तो यह है कि मनके सुस्थिर होनेको ही मनोन्मनी अवस्था ( कबीरदासके शब्दोंमे 'उन्मुनि रहनी' ) कहते हैं³।

राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्त्व, शून्य, अशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा और तुर्या : ये सब एक ही समाधिके वाचक शब्द हैं। ( ह० ४।३-४ ) यह वह अवस्था है जब मन और प्राण एकीभूत हो जाते हैं और जब चंचल मन स्थिर और वशवर्ती हो जाता है। इंद्रियोंका स्वामी मन है, मनका मारुत, मारुतका लय ( लौ ) और लयका नाद। सो यह लय ( लौ ) मोक्ष है। मन और प्राणके लौ लगनेपर कोई एक अभूतपूर्व आनन्द मिलता है ( हठ० ४,२९-३० )। इसीलिये हठयोगप्रदीपिकामें कहा है कि आत्माको शून्यमें करके और शून्यको आत्मामें करके योगी निश्चिन्त हो जाय। शून्य अर्थात् समाधि,—जब कि आत्मा छह चक्रोंको भेदकर सहस्रार या शून्य-चक्रमें अवस्थित होता है। ऐसी अवस्थामें

---

१ अवधू, मेरा मन मतवारा।
उन्मनि चढ्या गगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।
गुड़करि ग्यान ध्यांन करि महुआ पीवै पीवनहारा॥ इत्यादि
—क० ग्रं० पद ७२

२ एकं सृष्टिमयं बीजं, एका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालंबः, एकावस्था मनोन्मनी।
—हठ० ३-५३

३ मारुते मध्य-संचारे
मनः स्थैर्यं प्रजायते।
यो मनःसुस्थिरीभावः
सैवावस्था मनोन्मनी॥
—हठ० २-४२

उसके भीतर भी शून्य है, बाहर भी शून्य है,—आसमानमें जैसे कोई सूना घड़ा रखा हो ! परन्तु असलमें वह भीतरसे भी पूर्ण होता है, बाहरसे भी, पूर्ण होता है, —समुद्रमें जैसे भरा घड़ा डुबा कर रखा गया हो !—

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः
शून्य कुंभ इवाम्बरे ।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णो
पूर्णः कुंभ इवार्णवे ॥

—हठ० ५।५५

*कबीरदासने मानों इसी भावका अनुवाद करते हुए कहा है—*

जलमें कुंभ कुंभमें जल है,
बाहर-भीतर पानी ।
फूट कुंभ जल जलहिं समाना
यह तथ कहौ गियानी ।
आदै गगना अन्तै गगना
मध्ये गगना भाई ।
कहै कबीर करम किस लागै
झूठी एक उपाई ॥

—क०

ऊपर जो गंगा-यमुना-सरस्वती-त्रिवेणी-कैलास-सूर्य-चन्द्र-गामास-भक्षण-वारुणी-पान-सोमरस आदि पारिभाषिक शब्द आये हैं वे विशेष रूपसे स्मरणीय हैं, क्योंकि आगे इनकी चर्चा अनेक अवसरोंपर विशेष आवश्यक होगी ।

# ५–निरंजन कौन है ?

मध्ययुगके योग, मंत्र और भक्तिके साहित्यमें 'निरंजन' शब्दका बारंबार उल्लेख मिलता है। नाथ-पंथमे भी 'निरंजन' शब्द खूब परिचित है। साधारण रूपमें 'निरंजन' शब्द निर्गुण ब्रह्मका और विशेष रूपमें शिवका वाचक है। जान पड़ता है कि नाथ-पंथकी भाँति एक और प्राचीन पंथ भी था जो निरंजन-पदको परमपद मानता था। जिस प्रकार नाथ-पंथी योगी नाथको परमाराध्य मानते थे उसी प्रकार ये लोग 'निरंजन'को। आजकल निरंजनी साधुओंका एक सम्प्रदाय राजपूतानेमें वर्तमान है। कहते हैं, इस सम्प्रदायके प्रवर्तक स्वामी निरानंद निरंजन भगवान् ( निर्गुण ) के उपासक थे। पर आजकलके निरंजन मतके अनुयायी बहुत कुछ रामानंदी वैरागियोंके समान राम-सीताके उपासक हैं, शालिग्राम-शिला और गोमती-चक्रको मान्य समझते हैं। ( भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय, द्वितीय भाग, पृ० १८९ )। श्री क्षितिमोहन सेनने लिखा है उड़ीसामें अब भी वह निरंजन पंथ जी रहा है जिसने निर्गुण साधनाको प्रभावित किया था। यहींसे इस पंथकी शिक्षाएँ मध्यदेश और पूर्वी प्रान्तोंमें पहुँची थीं। पश्चिमी भारतमें भी इसका प्रभाव अभीतक विद्यमान है ( मिडिएवल मिस्टिसिज़्म पृ० ७०७ )। नाथपंथमें निरंजनकी महिमा खूब गाई गई है। हठयोगी जब नादानुसंधानका सफल अभ्यासी हो जाता है तो उसके समस्त पाप क्षीण हो जाते हैं, उसके चित्त और मारुत निरंजनमें लीन हो जाते हैं[1]। यह योगीका परम साध्य है क्योंकि जब तक ज्ञान निरंजनके साक्षात्कार तक नहीं उठता तभी तक इस संसारके विविध जीवों और नाना पदार्थोंमें भेद-दृष्टि बनी हुई है[2]। एक विशेष पद तक पहुँचनेपर निरंजनका साक्षात्कार होता है। ऐसी हालतमें वह समस्त उपाधियों या

---

१ सदा नादानुसंधानात् क्षीयते पापसंचयाः।
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्त-मारुतौ।

—हठ० ४-१०४

२ यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरंजने।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यंते विविधानि च॥ —शिव० २-४८

विशेषताओंसे हीन हो जाता है और तभी वह अपनेको अखंड ज्ञान-रूपी निरजन कह सकता है[1]। गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह (पृ० ३३) में पद्मपुराणकी कपिला-गीतासे एक वचन उद्धृत किया गया है जिसमें कहा गया है कि बिन्दु-संयुक्त ओंकारका योगी लोग नित्य ध्यान करते हैं। इसके भीतर जो तत्त्व है उसे सद्गुरु ही बता सकते हैं, दूसरा कोई नहीं। ॐकारमे पॉच खण्ड होते हैं, (१) तारक, (२) दण्ड, (३) कुण्डली, (४) अर्द्धचन्द्र और (५) बिन्दु। इन पॉचोंमें पॉच देवताओंका निवास है। तारकमें ब्रह्मा, दण्डमें विष्णु, कुण्डलीमें रुद्र, अर्द्धचन्द्रमें ईश्वर और सबसे ऊपरवाले बिन्दुमें सदाशिवका वास है। इसके भी ऊपर निरंजन हैं जो सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कारण हैं। यही परम तत्त्व है जो सद्गुरुकी कृपाके बिना समझमे नहीं आ सकता, क्योंकि, यदि सद्गुरुकी कृपा न हो तो विषय-त्याग दुर्लभ है, तत्त्व-दर्शन दुर्लभ है, सहजावस्था दुर्लभ है[2]। इससे स्पष्ट है कि निरंजनका साक्षात्कार ही परम पद है। स्वयं कबीरदासकी उक्तियोंमेसे ऐसी ढूँढी जा सकती हैं जिनमें उन्होने निरंजनको परमाराध्य समझा है। पर आगे चलकर कबीर-पंथमे निरंजनकी बड़ी दुर्गति हुई है। निरंजन वहॉ पक्का शैतान बना दिया गया है। इस शब्दका ऐसा विकास कुतूहलजनक है। कबीरदासके नामपर जो दर्जनो ग्रन्थ प्रचलित हैं, उनमे निरंजनकी इस दुर्दशाके समर्थक पद प्रचुरमात्रामें हैं।

---

१ निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः।
तदा विवक्षतेऽखण्ड-ज्ञान-रूपी निरंजनः॥
—शिव० १—६८

२ ईश्वर उवाच—ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
तस्मिन्मध्ये स्थितं तत्त्वं प्रदर्शयति सद्गुरुः॥
तारकं च भवेद् ब्रह्मा दण्डकं विष्णुरुच्यते।
कुण्डल्यां हि तथा रुद्रोऽर्द्धचंद्रे स ईश्वरः।
निरंजनस्तदतीत उत्पत्तिस्थितिकारणम्।
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥
—कपिलगीता (पद्मपुराणान्तर्गत)

'कबीर मन्सूर'में बताया गया है कि सत्य पुरुष समस्त जगत्का उत्पन्न-कर्ता है। वह कभी गर्भमें नहीं आता,—सबसे अतीत, सबसे परे, सबसे ऊपर। कबीरसाहब उसी सत्यपुरुषके अनागत-वक्ता ( भविष्यवक्ता ) हैं। इनमें सब गुण वही हैं जो उक्त सत्यपुरुषमें हैं। वस्तुतः वे उससे अभिन्न हैं और संसारके त्राणकर्ता हैं। यही कबीरसाहब सत्ययुगमें 'सुकृति' नामसे, त्रेतायुगमें 'मुनीन्द्र' नामसे, द्वापरमें 'करुणामय स्वामी' नामसे और कलिकालमें 'कबीर' नामसे अवतीर्ण हुए है।

तो, सत्यपुरुषने स्वयं ही जो अपना स्वरूप उत्पन्न किया वह कबीर साहब हैं। इन्हीं कबीरसाहबके द्वारा ब्रह्म-सृष्टि ( जिसकी चर्चा आगे आ रही है ) को सूक्ष्म वेद दिया गया। यह वेद निर्दोष और निष्कलंक था पर दुर्भाग्यवश सदा ऐसा नहीं रह सका। कारण यह है: सत्यपुरुषने सृष्टिके लिये छह पुत्र उत्पन्न किये थे—( १ ) सहज, ( २ ) अंकुर, ( ३ ) इच्छा, ( ४ ) सुहंग ( =सोऽह ), ( ५ ) अचिन्त ( =अचिन्त्य ) और ( ६ ) अक्षर। ये छहों बड़े तेजस्वी और तपस्वी हुए। सारा जगत् उस समय जलसे परिपूर्ण था और उसमें सत्यपुरुषने अपनी सातवीं सन्तान,—एक अण्डेको छोड़ दिया। यह अण्डा अक्षर-पुरुषके पास,—जो उस समय तपोमग्न था, आकर फूटा और उसमेंसे दुर्दमनीय काल-पुरुष निरंजन पैदा हुआ जिसे पिताने पहलेसे ही असंख्य युग पर्यन्त अखण्ड राजभोगकी अनुज्ञा दे दी थी। इसी अण्डेको मन्वादि शास्त्रोंमें 'हिरण्य-गर्भ' कहा गया है। यह कालपुरुष बड़ा प्रचंड अभिमानी और प्रतापी हुआ। इसीके नाम नाना शास्त्रोंमें नाना भावसे आये हैं। कुछ नाम ये हैं: काल, कैल, अकार, ओंकार, निरंकार, निर्गुण, ब्रह्म, ब्रह्मा, धर्मराय, खुदा, अल्लाह, करीम, अद्वैत, केशव, नारायण, हरी, विश्वंभर, वासुदेव, जगदीश, जगन्नाथ, परमेश्वर, ईश, विश्वनाथ, खालिक़, रब, रब्बिल, आलामी, हक़ इत्यादि।

पिता ( सत्यपुरुष ) की आज्ञासे इसी निरंजनने इस सृष्टिका यह जाल पसारा। इस सारी सृष्टिको बनानेके मसालेको एक कूर्मजीने बड़ी सावधानीसे अपने पेटमें छिपा रखा था। कूर्मजीका आकार कछुएका है और वे सारी सृष्टिके आधार हैं। इनका आकार भी निरंजनसे दूना है। खैर, निरंजन तो सृष्टि करनेका निश्चय कर चुका था। वह कूर्मजीसे मसालेके लिये लड़ पड़ा। कूर्मजी ऐसे दुर्दान्तको सृष्टिका मसाला क्यों देने लगे? लड़ाई हो गई। चालाक निरंजनने कूर्मजीके

तीन सिर चबा डाले और फिर तो रास्ता साफ़ हो गया। कूर्मजीके पेटमें पड़ी हुई सामग्री दिख गई। निरंजनने उसे चुरा लिया और इस भवजालको खड़ा करनेमें समर्थ हो गया। बेचारे कूर्मजीको सत्यपुरुषकी आज्ञा बादमें मालूम हुई और वे चुप हो रहे।

अब सृष्टिको पैदा करनेके लिये कालपुरुष ( निरंजन ) ने आद्या शक्ति या मायाको उत्पन्न किया और उसके संयोगसे सत्त्व-गुण-प्रधान ब्रह्मा, रजोगुण-प्रधान विष्णु और तमोगुण-प्रधान शिवकी सृष्टि की। ज्यों ही ये तीन देवता उत्पन्न हुए वह अन्तर्धान होकर अपने लोकमे चला गया। जाती बार मायासे कहता गया कि इन पुत्रोंको मेरा पता मत बताना। सो, इन्होंने बादमे जब आद्याशक्ति या मायासे पूछा कि तू कौन है, तेरा पति कौन है, हम लोग कौन हैं और हमारे पिता कौन हैं तो मायाने जवाब दे दिया कि वही उनकी पिता है, वही माता और वही पत्नी भी ! तीनो देवता इस उत्तरसे सन्तुष्ट नहीं हुए। बताया गया है कि स्वयं कबीरदासने पहली रमैनीमे इस तत्त्वकी ओर इशारा कर दिया है :

तब बरम्हा पूछा महतारी।<br>
को तोर पुरुष कवन तै नारी ॥

इसपर मायाने उत्तर दिया—

हम तुम तुम हम और न कोई।<br>
तुमहिं पुरुष हमहीं तोर जोई ! —बीजक, प्रथम रमैनी।

इधर जब निरंजन अपने लोकमें जाकर समाधिस्थ हुआ था तो उसने सूक्ष्म वेदको हृदयमे धारण कर लिया था। उसकी सूक्ष्म बाते तो भीतर ही रह गईं पर जो स्थूल अंश था वह उसकी नाकसे साँसके साथ ही साथ गिर गया। यही 'त्वचाज्ञान'वाला आधुनिक वेद है। इसमें रस नहीं, केवल छिल्का ही भर है, इसीलिए कबीरपंथी लोग इसे 'त्वचा-ज्ञान' कहते हैं। यह स्थूल अंश ही आजकल वेदके नामपर चल रहा है। और जब ब्राह्मण लोग भक्ति-गद्गद स्वरमे कहते हैं कि उस परम-पुरुषको नमस्कार है जिसके निःश्वास ही वेद हैं और इन वेदोंसे ही जिसने इस जगत्का निर्माण किया है[1] तो वे असलमें इस धूर्त निरञ्जनकी

---

१ यस्य नि.श्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।<br>
निर्ममे तमहं वंदे ज्ञानरूपं जनार्दनम् ॥

ही स्तुति करते हैं । बेचारे जानते भी नहीं कि वे कितने धोखेमे हैं !

सूक्ष्म वेदके यो जो चार वेद-पुत्र हुए सो 'दोषी तथा पाखंडी निरञ्जनके संसर्गसे' हुए और इसीलिए इनमे कलुषका रह जाना कुछ आश्चर्यकी बात नहीं । निरञ्जन खूब जानता है कि एक बार यदि लोगोंको सूक्ष्म वेदका ज्ञान हो जाय तो कोई उसे पूछेगा भी नहीं, इसीलिये वह बडी होशियारीसे संसारको अपने जालमें फँसाये हुए है । किन्तु कबीरदास जब इस संसारमें भलेमानुसोंके उद्धारके लिये प्रकट हुए तो उन्होंने चारों सूक्ष्म वेदोंको फिरसे पृथ्वीवासियोंके निकट प्रकट कर दिया । इस प्रकार कबीर साहबकी

(१) कूट-वाणी ही सूक्ष्म ऋग्वेद है,
(२) टकसार-वाणी ही सूक्ष्म यजुर्वेद है,
(३) मूलज्ञान-वाणी ही सूक्ष्म सामवेद है, और
(४) बीजक-वाणी ही सूक्ष्म अथर्ववेद है ।

और आजकल जो वेदके नामपर पुस्तकें चल रही हैं वे ओ३म्से निकली हैं, ओ३म्की माता कुण्डलिनी है, कुण्डलिनी महामाया है, महामाया नागिन है और इसीलिये ये स्थूल वेद ज़हरीली नागिनके जहरसे आपाद-मस्तक सिक्त हैं ! ! कहते हैं, इसी महामाया नागिनको लक्ष्य करके कबीर साहबने कहा है—

अन्तरजोत सबद एक नारी । हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी ॥
—बीजक, प्रथम रमैनी ।

इस प्रकार आद्या, ब्रह्मा, विष्णु और शिवने चार खान और चौरासी लाख योनियोंकी सृष्टि की है । आद्याने अण्डज, ब्रह्माने पिंडज, विष्णुने अश्मज (=ऊष्मज) और शिवने स्थावर सृष्टि की । फिर इनकी शक्तियाँ बनीं, नरक बने, स्वर्ग बने और तीनों लोक इन्हींकी पूजामें व्यस्त हो रहा । गोया ये ही परम दैवत हों ! क्वचित् कदाचित् कोई अगर निरंजनको जान गया तो वह अपनेको धन्य समझने लगा । परन्तु निरजन भी तो अत्यन्त निचला स्तर है । यह निरंजन बराबर महात्माओंके मार्गमें विघ्न खड़ा करता रहता है, बराबर ज्ञान प्राप्तिसे उन्हें वंचित करनेकी चेष्टा कर रहा है । अब तक कई बार तो कबीर साहबसे ही उसकी मुठभेड़ हो चुकी है । यद्यपि यह मायाका स्वामी है पर निष्कलुष तो नहीं है । वेद विचारे करें तो क्या ? उन्हें निरंजनके ऊपरके किसीकी खबर भी तो हो ! लेकिन इस व्यापारका सबसे मनोरंजक अंश यह है कि जिस प्रकार निरंजनने सत्यपुरुषका

नाम लोप करके अपनी ही पूजा चलानी चाही थी उसी प्रकार उसके गुरुमार पुत्रोंने अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिवने निरजनका नाम भी लोप कर देना चाहा। उन्होंने संसारमें अपनी ही पूजा फैलाई । सचमुच ही निरंजनका नाम मद्धिम पड़ गया ।

हम लोग जिस कर्मलोक पृथ्वीपर निवास कर रहे हैं उसके नीचे सात पाताल या नरक हैं । सबसे नीचे जो है उसका नाम पाताल है । उसके ऊपर क्रमशः तलातल, रसातल, महातल, सुतल, वितल, अतल : ये लोक हैं । इनके ऊपर हमारी पृथ्वी है । ( १ ) इसके भी ऊपर देवताओं और सिद्धोंकी पुरी है, — साधारणतः इसे स्वर्ग कहा जाता है । फिर निम्न लिखित नवलोक एकके ऊपर दूसरे क्रमसे विराजित हैं । ( २ ) दह्य अंशका स्थान जहाँ सालोक्य मुक्ति होती है, ( ३ ) विष्णुका वैकुंठ जहाँ सामीप्य मुक्ति मिलती है, ( ४ ) निरंजनका झाँझरी-द्वीप जहाँ सारूप्य मुक्ति मिलती है, ( ५ ) अक्षरका अरण्यद्वीप जहाँ सायुज्य मुक्तिकी व्यवस्था है, ( ६ ) अचिन्तका अचिन्त्य-द्वीप, ( ७ ) सोऽहंका सुहंग-द्वीप, ( ८ ) इच्छा-पुरुषका इच्छा-द्वीप, ( ९ ) अंकुर-पुरुषका अंकुर-द्वीप और ( १० ) सहज पुरुषका सहज-द्वीप । इन सबके बहुत ऊपर सत्यपुरुषका सत्यलोक है जो परम धाम है, जहाँसे समय समयपर सत्यपुरुषकी अनुज्ञा पाकर सद्गुरु कबीर अवतीर्ण हुआ करते हैं । देवताओं और सिद्धोंके स्थानके ऊपरकी नौ पुरियोंको मुसलमानी शास्त्रके साथ सामंजस्य लगाकर क्रमशः ( १ ) नासूत, ( २ ) मलकूत, ( ३ ) जबरूत, ( ४ ) लाहूत, ( ५ ) हाहूत, ( ६ ) वाहूत, ( ७ ) साहूत, ( ८ ) राहूत, ( ९ ) जाहूत कहा गया है[1] ।

यहाँ यह उल्लेख-योग्य है कि कुछ सूफियोंके अनुसार साधकको चार लोकोंको पार करना होता है । ये चार लोक 'आलम' नामसे प्रसिद्ध हैं । नासूत ( मानव लोक ), मलकूत ( अदृश्य लोक ), जबरूत ( उच्चतम लोक ) और

---

१ जुलमत नासूत मलकूतमें फिरिस्ते नूर जल्लाल जबरूतमें जी ।
लाहूतमें नूर जम्माल पहिचानिये हक मकान हाहूतमें जी ॥
बका वाहूत साहूत मुर्सिद पार है जो रब्ब राहूतमें जी ।
कहत कब्बीर अविगति आहूतमें खुद खाविंद जाहूतमें जी ॥

—विश्व० पृ० २४३

लाहूत ( परम लोक ) : ये चार आलम हैं। पर कुछ दूसरे सूफी पाँच मानते हैं। ये लोग इस सूचीमे ' सम लोक ' या ' आलमे मिशाल ' को और जोड़ देते हैं। दारा शिकोहने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक मजमुल बहरईन ( दो समुद्रोंका संगम ) नामक ग्रंथमे उपर्युक्त चार आलमोंके साथ वेदान्तियोंकी चार अवस्थाओ,— जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयकी समानता बताई है[१]। यह ठीक समझमें नहीं आया कि कबीर पथके नौ लोक इन्हीं चार आलमोंका विस्तार हैं या किसी सूफी सम्प्रदायमें सचमुच ही नौ लेकोंकी कल्पना है। महाराज विश्वनाथसिंहजूदेवने ' हाहूत 'को इस्लाम-सम्मत पॉचवॉ स्थान बताया है जहॉ केवल मुहम्मद साहबकी ही गति थी[२]। हम नहीं कह सकते कि उनका वक्तव्य किसी शास्त्रीय ग्रंथके आधारपर है या नहीं, पर उन्होंने ' पनाह अता ' नामक किसी मुस्लिम कविकी एक कविता प्रमाण-स्वरूप उद्धृत की है जो काफी मनोरंजक है[३]। इनके परिचयमें उन्होने इतना ही कहा है कि " पीरान पीर साहबके पास पहुँचे हैं, ऐसे जे हैं सलेलके मालिक पनाह अता तिनको कवित्त। "

इस सारे भवजालको जिसने सिरपर धारण किया है वह शेषनाग हैं जो स्वयं शूकरपर आरूढ हैं। शूकर भी एक गौपर चढ़े हैं और गौजी भी कूर्मजीपर। यही वह कूर्मजी हैं जिनको श्री सत्यपुरुषने सृष्टि बनानेकी सामग्री दी थी और वे उसे बडी सावधानीसे सॅभाल रहे थे। इन्हीकी तीन गर्दने काटकर निरंजनने सृष्टिकी सामग्री प्राप्त की थी। निरंजनके साथ कबीरदासके जो झगड़े होते रहे हैं उसकी बात यहॉ नहीं उठाई जा रही है क्योंकि उससे अनावश्यक विस्तार बढ़ेगा, पर इतना पाठकको हमेशा याद रखना चाहिये कि कबीरसाहबने सदा

१ MAJAMUL BAHARAIN, Ed. M. Mahfuzal Huq B.A.S. Calcutta 1929, p. 11.

२ विश्व०, पृ० २४२

३ देह नासूत सुरै मलकूत औ जीव जबरूतकी रूह बखानै।
अरशीमें निराकार कहै जेहि लाहुतै मानिकै मजिल ठानै।
आगे हाहूत-लाहूत है जाहूत खुद खाविन्द जाहूत मैं जानै।
सोई श्रीराम पनाह सर्व जग-नाह पनाह अता यह गानै।
तजै कर्म नासूत लहि निरखे तब मलकून।
तहा न मरै न बीछुरै जात न तहँ जमदूत॥

ज्ञानियों और भक्तोंको निरंजनके जालसे छुडानेका प्रयत्न किया है। इस कलि-कालमें ही अबतक वे लगभग एक दर्जन बार आ चुके हैं। इसी निरंजनके धोखेसे बचनेके लिये कबीरदासके मुखसे यह पद कहलवाया गया है—

अवधू, निरंजन जाल पसारा।
स्वर्ग-पताल-जीव-मृत मण्डल तीन लोक विस्तारा।
ब्रह्मा-बिस्नु-सिव प्रगट कियो है ताहि दियो सिर भारा॥
ठॉव ठॉव तीरथ-व्रत थाप्यौ ठगनेको ससारा।
माया-मोह कठिन विस्तारा आवु भयौ करतारा॥
सतगुरु शब्दकों चीन्हत नाहीं कैसो होय उबारा।
जारि-भूँजि कोइला करि डारै फिरि फिरि लै अवतारा॥
अमरलोक जहॉ पुरुष बिराजै तिनका मूँदा द्वारा।
जिन साहबसे भये निरजन सो तो पुरुष है न्यारा॥
कठिन कालते बॉचा चाहो गहो सब्द टकसारा।
कहैं कबीर अमर करि राखौ मानो शब्द हमारा॥ शब्दा०—पृ० ३४

कबीरदासने कितनी ही बार कहा है कि जो कुछ पिंडमें है, वही ब्रह्माण्डमें है। पिंडमें ब्रह्माण्ड है और ब्रह्माण्डमे पिंड है। ऊपर जो ब्रह्माण्डका विचार किया गया है तदनुसार पृथ्वीके ऊपरके दस मुकामोंकी स्थिति इस प्रकार हुई:—

| संख्या | मुकामोंके नाम | हिंदू समशील नाम[1] | मुसलमानी समशील नाम |
|---|---|---|---|
| १ | सत्य-लोक | गो-लोक | |
| २ | सहज-द्वीप | ( द्वितीय ) सत्यलोक | आहूत |

१ तु०—श्रीसौमित्रिरुवाच—
महर्लोक· क्षितेरूर्ध्वमेककोटिप्रमाणतः । कोटिद्वयेन विख्यातो जनलोको व्यवस्थित· ॥
चतुष्कोटिप्रमाणं तु तपोलोको विराजित. । उपरिष्टात्ततः सत्यमष्टकोटिप्रमाणतः ॥
आयु.प्रमाणं कौमार कोटिषोडशसंभवन् । तदूर्ध्वोपरिसंख्यातमुमालोकं सुनिष्ठितन् ॥
शिवलोक· तदूर्ध्वं तु प्रकृत्या च समागतन्। . . तदूर्ध्वं सर्वतत्त्वानां कार्यकारणमानिनान् ॥
निलयं परमं दिव्यं महावैष्णवसंज्ञकन् ।... ...तदूर्ध्वं तु परं दिव्यं सत्यमन्यद् व्यवस्थितन् ॥
न्यासिनां योगिना स्थानं भगवद्भावितात्मनान् । महाशंभुर्मोदतेऽत्र सर्वशक्तिसमन्वितः ॥
तदूर्ध्वं तु स्वयं भातं गोलोकं प्रकृतेः परन् ।—विश्व०, पृ० २४० में सदाशिवसंहिताके वचन ।

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३ | अंकुर-द्वीप | विष्णु-लोक | राहूत |
| ४ | इच्छा द्वीप | शिव-लोक | साहूत |
| ५ | सोऽहं द्वीप | शक्ति-लोक | बाहूत |
| ६ | अचिन्त द्वीप | कौमार-लोक | हाहूत |
| ७ | अरण्य द्वीप | (प्रथम) सत्य लोक | लाहूत |
| ८ | झाझरी द्वीप | तपःलोक | जबरूत |
| ९ | वैकुण्ठ | जनलोक | मलकूत |
| १० | दह्माश | भुवःलोक | नासूत |
| | पृथ्वी | भूलोक | आलमे फानी |

पृथ्वीके नीचे सात नरक-लोक हैं। इन सबकी कल्पना पदतल-एड़ी-गिट्ट-पिंडली-जानु-जघा और तड़ागीमें की गई है। अर्थात् मानव-देह (पिंड) में आधार-चक्रके नीचे सातों नरक हैं। आधारचक्र पृथ्वीका समकक्ष है। उसके ऊपर ११ अन्य चक्रोंकी कल्पना की गई है। अब तक हम योगियोंके सात चक्र ही जानते आये हैं। इन सात चक्रोंमें कई नये जोडकर दो उद्देश्य सिद्ध किये गये हैं। एक तो पिंड और ब्रह्माण्डकी समशीलताकी रक्षा और दूसरा योगियोंसे कबीर-पदका अतिशय उत्कर्ष-साधन। ये चक्र इस प्रकार हैं—

१३ अक्षर-भगवान्
१२ ब्रह्मरंध्र-देह
१२ अलख-निरंजन
१० पूर्णगिरि
९ आज्ञा चक्र
८ बलवान् चक्र
७ विशुद्ध-शक्ति चक्र
६ अनाहत चक्र
५ मनोमहाराज चक्र
४ मनःपौरुष चक्र
३ कुण्डलिनी देवता
२ स्वाधिष्ठान चक्र
१ आधार चक्र

इन समस्तसे अतीत सत्यपुरुषका स्थान है। मध्ययुगमें इन चक्रोंको बढाकर दिखानेकी होड-सी मची हुई थी। एक एक सिद्ध पुरुष उत्पन्न होते थे और वे पुराने बड़े सिद्धके सर्वोत्तम कहे हुए चक्रको भेद कर एक अभिनव परमपदका आविष्कार करते थे। वे स्वयं करते हों या नहीं, चेले करा छोड़ते थे। सिख सम्प्रदायके एक ग्रंथमें इनसे कहीं अधिक चक्रोंकी कल्पना है। कबीरदासकी ही

भाँति गुरु नानकदेवने भी कहा था कि 'जो ब्रह्मंडे सोई पिंडे, जो खोजे सो पावे।' जिस प्रकार ब्रह्माण्डके तीन स्तर हैं : अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्व-लोक उसी प्रकार पिंडके भी। इनकी जैसी सुन्दर विवेचना श्री सन्त पूर्णसिंहजीने की है वह केवल सिख सम्प्रदायके ही नहीं कबीरदासके लोक-संस्थान और पिंड-ब्रह्माण्डैक्यको समझनेमें भी बड़ी सहायक है। उसके आवश्यक अंशोंको हम यहाँ संग्रह कर रहे हैं।

सप्त अधोलोकोंका ब्यौरा तो वही है जो हम पहले दे चुके हैं। अर्थात् एड़ीसे लेकर तडागी तकके सात अंगोंमें सात नरकोंकी कल्पना की गई है। मध्यलोकमें सात लोक हैं जो मानव देहके सात चक्रोंमें प्रतीक रूपसे स्थित हैं—( १ ) चतुर्दल मूलाधार चक्रमें भूलोक, ( २ ) षट्दल स्वाधिष्ठान चक्रमें भुवर्लोक, ( ३ ) दशदल मणिपूर चक्रमें स्वर्लोक [ इसीसे थोड़ा हटकर अष्टदल चक्र है जिसपर मन भरमा करता है। ], ( ४ ) द्वादश दलवाले अनाहत चक्रमें महर्लोक, ( ५ ) षोडशदल विशुद्ध चक्रमें जनलोक ( ६ ) द्विदल आज्ञा चक्रमें तपलोक और ( ७ ) आनिक दल सहस्रार चक्रमें सत्यलोक। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि यह पहला सहस्रार चक्र है। साधारण योगियोंकी यहीं तक गति होती है।

इसके बाद इस पिंडमें ब्रह्माण्डकी ही भाँति ऊर्ध्व लोक है। ( १ ) ब्रह्माण्डी मनका स्थान—जो षट्दल कमलके आकारका है और जहाँ त्रैलोक्यपति महान् देवका वासस्थान है; ( २ ) शिव-शक्ति-समवाय-स्थान-जिसे प्रथम शून्य, मध्यशून्य या महाशून्य पद कहते हैं; (३) निरालंब पुरी—अन्तःशून्य पद; (४) शब्दब्रह्मस्थान—प्रणव तथा बिन्दुपदाधार; ( ५ ) निजपद—३२ दलका श्वेतकमल या भँवर गुफा; ( ६ ) गुरुपद—निरंकार देश; ( ७ ) दूसरा सहस्रार चक्र या पूर्ण पद।

यह जो द्वितीय सहस्रार पद है वह भी अन्तिम पद नहीं है। बहुत-से योगी तो प्रथम सहस्रारको ही परमपद मान लेते हैं पर जो गोरखनाथ जैसे सिद्ध हैं वे दूसरे सहस्रार तक पहुँच जाते हैं। पर यह भी सब कुछ नहीं है। नानकदेव इसके भी ऊपर कई स्थानोंको पार कर महामहिमावती विहंगम पुरीमें जा सके थे जो देश-कालके परिच्छेदसे शून्य पारावाररहित अकथ ( अवाच ) पद है। विशेष विस्तारके लिए प्राण० प्रस्तावना पृ० ७५–८४ देखना चाहिए।

अस्तु, यह तो अवान्तर बात हुई। प्रासंगिक यह है कि कबीरदासने पृथ्वीके ऊपर दस मुकाम माने हैं। वे दस मुकाम जिस प्रकार ब्रह्माण्डमें हैं उसी प्रकार

पिंडमें भी। स्वयं कबीरसाहबने इसका साक्षात्कार किया था, इसका प्रमाण उनकी वाणियोंमें है—

चला जब लोकको शोक सब छॉड़िके हंसको रूप सद्गुरु बनाई।
भृङ्ग ज्यों कीटको पलटि भृंगी किया आप सम रंग दे-ले उड़ाई॥
छोड़ नासूत-मलकूतको पहुँचिया विष्णुकी ठाकुरी देख जाई।
इन्द्र कुब्बेर जहँ रभा निरत है देव तेतीस कोटिक रहाई॥ १॥
छोडि बैकुण्ठको हंस आगे चला शून्यमे ज्योति जहाँ जगमगाई।
ज्योति परकाशमें निरख निःतत्त्वको आप निर्भय हो भय मिटाई॥
अलख-निर्गुन जेहि वेद अस्तुति करै तीनहू देवको है पिताई।
भगवान तिनके परे सेत मूरति धरे भागको आन तिनको रहाई॥ २॥
चार मुक्कामपर खण्ड सोरह कहैं अण्डको छोर ह्यांते रहाई।
अण्डके परे स्थान अचिन्तको निरखिया हंस जब उहाँ जाई।
सहस औ द्वादशै रूह हैं सगमें करत कल्लोल अनहद बजाई।
तासुके बदनकी कौन महिमा कहौं भासती देह अति नूर छाई॥ ३॥
महल कंचन-बने मणिक तामे जडे बैठ तहँ कलस आखंड छाजै।
अचिंतके परे स्थान सोहंगका हंस छत्तीस तहवा विराजै।
नूरका महल औ' नूरका भूम्य है तहाँ आनंदसों द्वंद भाजै।
करत कल्लोल बहु भॉतिके संग यक हंस सोहंगके जो समाजै॥ ४॥
हंस जब जात षट्चक्रको बेधिकै सात मुक्काममें नजर फेरा।
सोहंगके परे सुरति इच्छा कही सहस बामन जहँ हंस हेरा।
रूपकी राशिते रूप उनको बना नहीं उपमा इंद्रजी निबेरा।
सुरतिसे भेंटिके शब्दको टेकि चढ़ि देखि मुक्काम अंकूर केरा॥ ५॥

---

१. खेल ब्रह्माण्डका पिंडमें देखिया जगतकी भर्मना दूरि भागी।
बाहरा-भीतरा एक आकासवत सुषुमना डोरि तहँ उलटि लागी॥
पवनको उलटि करि सुन्नमें घर किया धरियामें अधर भरपूर देखा।
कहै कब्बीर गुरु पूरकी मेहरसों तिरकुटीमद्ध दीदार पेखा॥

—शब्दा०, पृ० १०५

शून्यके बीचमें विमल बैठक जहाँ सहज अस्थान है गैबकेरा।
नवो मुक़ाम यह हंस जब पहुँचिया पलक विलंब ह्वा कियो डेरा।
तहाँसे डोरि क्रम तार ज्यों लागिया ताहि चढ़ि हंस गो दे दरेरा।
भये आनंदसे फंद सब छोड़िया पहुँचिया जहाँ सतलोक मेरा।
हंसनी हंस सब गाय बजायके साजिके कलश वहि लैन आये।
युगन युग बीछुरे मिले तुम आइकै प्रेमकरि अंगसों अंग लाये।
पुरुषने दर्शन जब दीन्हिया हंसको तपनि बहु जनमकी तब नसाये।
'पलटिके रूप जब एकसे कीन्हिया मनहुँ तब भानु षोड़श उगाये।
पुहुपके दीप पीयूष भोजन करै शब्दकी देह जब हंस पाई।
पुहुपके सेहरा हंस औ हंसिनी सँच्चिदानंद सिर छत्र छाई।
दिपैं बहु दामिनी दमक बहु भाँतिकी जहाँ घन शब्दको घुमड़ लाई।
लगे जहँ बरषने गरज घन घेरिके उठा तहँ शब्द धुनि अति सोहाई।
सुनै सोइ हंस तह यूथके यूथ है एक ही नूर इक रंग रागै।
करत बीहार मनभामिनी मुक्तिमें कर्म औ भर्म सब दूरि भागै।
रंक और भूप कोई परखि आवै नहीं करत कल्लोल बहु भाँति पागै।
काम और क्रोध-मद लोभ अभिमान एक छाँड़ि पाखण्ड सत शब्द लागै ॥९॥
पुरुषके वदनकी कौन महिमा कहाँ जगतमें ऊपमा कछु न पाई।
चन्द्र और सूरगण ज्योति लागै नहीं एक ही नक्खय परकाश भाई।
पान परवान जिन वंशका पाइया पहुँचिया पुरुषके लोक जाई।
कहै कब्बीर यहि भाँतिसो पाइहौ सत्यकी राह सो प्रगट गाई ॥ १० ॥

—विश्व० पृ० २३९-४०, क० मन० पृ० ५७६

ध्यानसे देखा जाय तो नाथपंथी योगियोंके सूक्ष्म वेद ( देखिये ऊपर पृ० ३४ ) द्वैताद्वैतविलक्षणवाद ( दे० ऊपर पृ० ३२ ) निरंजन पद ( दे० ऊपर पृ० ५२–५३ ) नाथपद ( दे० ऊपर चौथा अध्याय ) आदिके भीतर ही ऐसी उद्भट कल्पनाके बीज वर्तमान थे। यह सारा बखेड़ा असलमें एक बड़ी पुरानी परम्पराका विकास जान पड़ता है। कबीरदासके नामपर चलनेवाले बहुत से पद इस कल्पनाके पोषक बताये जा सकते हैं। हमने पहले ही एक वाणीमें लक्ष्य किया है ( ऊपर पृ० ५९ ) कि निरंजन एक महाठग है और उसने सारे जगत्को धोखा देनेके लिये यह जाल पसार रखा है। स्वयं बीजकसे इस आशयके पद ढूँढ़े जा सकते हैं

जिनमें बताया गया है कि अलख निरंजनके बाँधनेसे सारा जगत बँधा हुआ है। उसीने नाना प्रकारके कर्मचक्र बनाये हैं जिनमें संसार चक्कर मार रहा है, उसीने वेदों और शास्त्रोंका, तीर्थों और व्रतोंका, दान और पुण्यका चक्का चलाया है[1]। बीजककी इक्कीसवीं रमैनीके अन्तमें एक साखी उद्धृत की गई है, 'मैं ही सिरजता हूँ, मैं ही मारता हूँ, मैं ही जलाता हूँ ( या जीर्ण करता हूँ ), मैं ही खाता हूँ, मैं ही जल और स्थलमें रमा हुआ हूँ,—मेरा ही नाम निरंजन है!'[2] इन सबसे यह साबित होता है कि निरंजन कोई सचमुच ही वैसा ही पदार्थ है जैसा हम देख आये हैं। शास्त्रीय विचारके टीकाकार श्री विचारदासने इस जगह निरंजनका अर्थ 'यम' किया है। परन्तु एक बार यदि हम चित्तसे निरंजनकी ऊपर बताई कल्पना हटा दें तो कमसे कम बीजकके इन पदोंमें निरंजनका अर्थ सर्वशक्तिमान् निर्दोष ब्रह्म किया जा सकता है। उसे शैतान समझनेकी बिलकुल ज़रूरत नहीं।

फिर बीजकके ११४ वे शब्दके अनुसार भी आदिपुरुष-निरंजन-त्रिदेव आदिकी परम्पराका समर्थन होता है और यह भी समर्थित होता है कि कबीरदास

---

१ अलख निरंजन लखइ न कोई। जेहि बंधे बंधा सब लोई।
जिहि झूठे बंधा सो अयाना। झूठा वचन साचि करि माना।
धंधा बंधा कीन वेवहारा। करम बिबरजित बसै निनारा।
षट आश्रम षट दरसन कीन्हा। षटरस वस्तु खोट सब चीन्हा।
चारि बिरिछ छव साख बखानै। विद्या अगिनित गनै न जानै।
औरो आगम करै बिचारा। ते नहि सूझे वार न पारा।
जप-तीरथ-ब्रत कीजे पूजा। दान पुन्न कीजै बहु दूजा।

साखी : मंदिल तो है नेहका मति कोइ पैठे धाय।
जो कोइ पैठे धाइके बिन सिर सेती जाय॥

—रमैनी २२

२ मैं सिरजौं मैं मारहूँ, मैं जारौं मैं खाँव।
जल-थलमें मैं रमि रह्यौं, मोर निरंजन नाँव॥

—रमैनी २१ की साखी

सचमुच ही इस विपत्तिसागरसे मनुष्योंका उद्धार करनेका दावा करते थे[1] । परन्तु प्राचीन पोथियोंमें पाये गये पदोंको पढ़नेसे ऐसा लगता है कि निरंजनवाली पौराणिक कल्पना चाहे जितनी प्राचीन परम्पराका विकसित रूप क्यों न हो कबीरदास उसे ज्योंका त्यों नहीं मानते थे। वे ब्रह्म या निरंजनको शैतान तो मानते ही नहीं थे, उल्टे उसे परम काम्य समझते थे। यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि कबीरदास द्वैताद्वैत-विलक्षणवादमें योगियोंसे प्रभावित थे (ऊपर पृ० ३२-३३) फिर यह भी निश्चित है कि वे उस परम सहजावस्थाको महान् पद समझते थे जहाँ अल्लाह या रामकी गम नहीं होती[2] । कई पदोंसे स्पष्ट है कि कालसे उनका मतलब निरंजनसे नहीं है और ब्रह्म न तो उनकी दृष्टिमें ठग ही है और न ब्रह्मज्ञान हेय ही[3] ।

---

१. 'सार' शब्दसे बाँचिहो मानहु इतबारा हो ।
आदि-पुरुष इक वृच्छ है निरंजन डारा हो ।
तिरि देवा साखा भये पत्ता संसारा हो ।
ब्रह्मा वेद सही कियो सिव जोग पसारा हो ।
विस्नु मया उतपति किया उरले व्यवहारा हो ।
तीन लोक दसहूँ दिसा जम रोकिन द्वारा हो ।
कीर भये सब जीयरा लिए विषके चारा हो ।
जोति-सरूपी हाकिमा जिन अमल पसारा हो ।
करमकी बंसी लायके पकर्यौ जग सारा हो ।
अमल मिटावौं तासुका पठवौं भव पारा हो ।
कइहिं कबीर निरभय करौं परखो टकसारा हो ।—बीजक शब्द ११४

२. सुर नर मुनि अरु औलिया, ए सब बेलैं तीर ।
अलह रामकी गम नहीं, तहँ घर किया कबीर ॥—स० क० सा० पृ० ६४

३. अब मैं पाइवौ रे पाइवौ ब्रह्म गियान ।
सहज समाधैं सुखमैं रहिवौ, कोटि कल्प विश्राम ।

× × ×

आपैमें तब आपा निरष्या अपनपैं आपा सूझ्या ।
आपै कहत सुनत पुनि अपना अपनपैं आपा बूझ्या ।
अपनै परचै लागी तारी अपनपै आप-समानां ।
कहै कबीर जे आप विचारै मिटि गया आवन-जांनां ॥—क० ग्रं० पद ६

कबीर-ग्रन्थावलीमें एक ऐसा पद है जिससे पता चलता है कि भिन्न भिन्न चक्रोंमें देवताओंके निवासका जो विवरण कबीरदासने दिया है वह अपेक्षाकृत सहज है और सर्वांशमें ऊपर बताई हुई व्यवस्थाके अनुकूल नहीं है। षट्दल-कमलमें कालका अभाव बताया गया है और शायद 'मनके मोहन बीठुला' या विट्ठल भगवानका वह निवासस्थान है, अष्टदल कमलमें श्रीरंग केलि करते हैं पर द्वादशदल-विहारी भगवानके रूपका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया। यह जरूर बताया गया है कि त्रिवेणी ( देखिये ऊपर पृ० ४५ )-स्नानके बाद सनकादिकका साथ हो जाता है,—अर्थात् शायद वैकुण्ठ विहारी विष्णुका स्थान नजदीक आ जाता है। फिर गगन-गुफामें अनन्ततारका-दर्शन बताया गया है और षोडशदल कमलमें बनवारीके मिल जानेकी बात है[1]। ऐसा जान पड़ता है कि कबीरदासका

---

१ मनके मोहन बीठुला यहु मन लागौ तोहि रे।
चरनकँवल मन मांनियाँ और न भावै मोहि रे।
षट्दल-कँवल-निवासियाँ चहुँको फेरि मिलाइ रे।
दहुँके बीच समाधियाँ तहँ काल न व्यापै आइ रे।
अष्टकँवल-दल भीतरां तहाँ श्रीरंग केलि कराइ रे।
सतगुरु मिलै तो पाइये नहीं तौ जन्म अक्यारथ जाइ रे।
कदली-कुसुमदल भीतरा तहां दस अंगुल्का बीच रे।
तहाँ दुआदस खोजि ले जनम होत नहिं मींच रे।
बंक-नालिके अन्तरै पछिम दिसाकी बाट रे।
नीझर झरै रस पीजिये तहाँ भँवर-गुफाके घाट रे।
त्रिवेणी मनाह न्हवाइये सुरति मिलै जो हाथि रे।
तहाँ न फिरि मघ जोइये सनकादिक मिलिहैं साथि रे।
गगन गरजि मघ जोइये तहां दीसैं तार अनन्त रे।
बिजुरी चमकि घन बरषिहैं तहाँ भीजतहैं सब सन्त रे।
षोडश कँवल जब चेतिया तब मिलि गये श्रीबनवारि रे।
जरा-मरण-भ्रम भाजिया पुनरपि जनम निवारि रे।
गुरु गमितैं पाईये झंखि मरै जनि कोइ रे।
तहीं कबीरा रमि रह्या सहज समाधी सोइ रे॥ —क० ग्रं०, पद ४

मतलब इस पदमें उस सहज समाधिसे है जिसमें पद पदपर भगवानका दर्शन होता है और इस पदमें आये हुए विट्ठल, श्रीरंग, बनवारी आदि पद पारिभाषिक नहीं बल्कि सीधे-सादे ढंगसे भगवान्‌के वाचक हैं। सच पूछा जाय तो कबीरदास योगमार्गकी क्लिष्ट साधनाओंको भी बाह्याचार ही समझते रहे। उनके जैसा उन्मुक्त विचारका मनुष्य किसी प्रकारकी रूढियोंका कायल नहीं हो सकता था। बारंबार वे जिस सहज-समाधिकी घोषणा कर गये हैं उसमें नाना प्रकारके प्राणायाम, आसन, समाधि और मुद्राएँ परम-तत्त्वकी उपलब्धिके साधन हैं, साध्य नहीं। सहज समाधिसे ही अगर वह उद्देश्य सिद्ध हो जाता है तो कायाको क्लेश देनेसे क्या लाभ है ? आँख मूँदे बिना, मुद्रा धारे बिना, आसन लगाये बिना खुली आँखोंसे परमाराध्यका मनोहर रूप देख सकना ही सहज समाधि है। ऐसे साधकका हिलना-डुलना सब कुछ परिक्रमा है, सोना-बैठना ही दण्डवत् है, बोलना ही नाम-जप है, खाना-पीना ही पूजा है। एक बार इस सहज समाधिमें जो साधक रम गया वह उस अपूर्व अनहद नादको निरन्तर सुनता रहेगा जिसके सुनने मात्रसे रोम रोम थकित हो जाते हैं, समस्त इन्द्रिय श्लथबंध हो जाते हैं, मन आनन्दसे परिपूर्ण हो जाता है।[1] उसीमें समस्त कुशलोंका कुशल है जिसमें सहज समाधि प्राप्त हो जाती है। यह उपाधिमय शरीर सहज-समाधिमय बन जाता है, दुःखके दुर्गमें सुखका

---

१ साधो सहज समाधि भली।
गुरुप्रताप जा दिनतें उपजी दिन दिन अधिक चली।
जहँ जहँ डोलों सोइ परिकरमा जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवों तब करों दण्डवत् पूजों और न देवा।
कहों सो नाम सुनों सो सुमिरन खाँव-पियों सो पूजा।
गिरह-उजाड़ एकसम लेखों भाव न राखों दूजा।
आँख न मूँदों कान न रूँधों तनिक कष्ट नहिं धारों।
खुले नैन पहिचानों हँसि हँसि सुंदर रूप निहारों।
सबद निरंतरसे मन लागा मलिन वासना त्यागी।
ऊठत-बैठत कबहुँ न छूटै ऐसी तारी लागी।
कह कबीर यह उनमुनि रहनी सो परगट करि भाई।
दुख-सुखसे कोइ परे परम पद तेहि पद रहा समाई। —शब्दा०

विश्रामागार बन जाता है, शत्रु मित्र हो जाते हैं, शाक्त वैष्णव बन जाते हैं। एक बार यदि साधक आत्माराम बन सके,—आप ही आपमें रम सके तो फिर कोई विघ्न सता नहीं सकता, मन सनातन हो जाता है, जन्म-मरणका ज्ञान हस्तामलककी भाँति सहज हो जाता है। वैसी हालतमें न तो साधकसे कोई उद्विग्न होता है और न किसी औरसे साधक ही उद्वेग पाता है।[1]

अनुमानतः कबीरदासके समयका एक अपेक्षाकृत सहज मतवाद बादमें चलकर जटिल हो गया है। स्पष्ट है[2], कबीरदास निर्गुण या निरंजन ब्रह्मको शैतान-जैसा नहीं समझते थे। परन्तु यह बात भी सन्देहके परे है कि गोरखनाथके योगमार्गमें वेदान्त, वेद, अद्वैत और निर्गुण ब्रह्मको द्वैताद्वैत-विलक्षण और सगुण-निर्गुणसे अतीत परमतत्वकी अपेक्षा छोटा समझा गया है और कबीरदासमें यह भाव ज्योंका त्यों रह जाता है। वस्तुतः कबीरके मतसे भगवान्‌के निर्गुण होनेका अर्थ सगुण-निर्गुणातीत होना होता है और यह दोनों बातें अर्थात् भगवानको निर्गुण, निरंजन और गुणातीत कहना असगत नहीं है। यह जानी हुई बात है कि भगवान् अलौकिक गुणोंके आश्रय हैं और इसीलिये लोकमें जो बात परस्परविरोधी दिखती है वह भगवान्‌में संगत हुआ करती है।

---

१ अब हम सकल कुसल करि मांनां।
स्वांति भई तब गोव्यंद जांनां॥
तनमें होती कोटि उपाधि। उलटि भई सुख सहज समाधि॥
जमथैं उल्टि भया है रांम। दुख बिसरा सुख किया विश्रांम।
वैरी उलटि भये हैं मीता। सापत उलटि सजन भये चीता।
आपा जानि उलटि ले आप। तौ नहीं व्यापै तीन्यूँ ताप।
अब मन उलटि सनातन हूवा। तब हम जानां जीवत मूवा।
कहै कबीर सुख सहज समाऊँ। आप न डरौं न और डराऊँ॥

२ आगे भी निरंजन शब्दका थोड़ा विचार किया गया है। देखिये, क० ग्रं०, पद २१९, २३७ और २३८

# पाँचवें अध्यायका परिशिष्ट

'आदि मङ्गल' नामसे निम्नलिखित पद्य कबीरदासके नामपर चलते हैं। ये पद्य विश्वनाथसिंहजूकी टीकाके आरम्भमे दिए हुए हैं तथा 'कबीर मन्सूर' और 'सत्य कबीरकी साखी'में भी संग्रहीत हैं। इस 'आदिमङ्गल'से निरंजनवाली कथाका समर्थन किया जाता है। यहा विश्व० का पाठ दिया जा रहा है। यह ध्यान देनेकी बात है कि इस आदिमङ्गलकी शैली प्रश्नोत्तरकी है और स्पष्ट ही जान पड़ता है कि इसे कबीरदास स्वयं नहीं लिख रहे हैं :

### अथ आदि मंगल

दोहा—प्रथमै समरथ आप रहे, दूजा रहा न कोइ।
दूजा केहि विधि ऊपजा, पूछत हैं गुरु सोइ॥
तब सतगुरु मुख बोलिया, सुकृत सुनो सुजान।
आदि अन्तकी पारचै तोसो कहौं बखान॥
प्रथम सुरति समरथ कियौ, घटमें सहज उचार।
ताते जामन दीनिया, सात करी विस्तार॥
दूजे घट इच्छा भई, चितमन सातो कीन्ह।
सात रूप निरमाइगा, अविगत काहु न चीन्ह॥
तब समरथके श्रवणते, मूल सुरति भइ सार।
शब्द कला ताते भई, पाँच ब्रह्म अनुहार॥
पाँचौ पाँचै अण्ड धरि, एक एकमा कीन्ह।
दुइ इच्छा तहँ गुप्त है, सो सुकृत चित चीन्ह॥
योगमया यकु कारणे, ऊजे अक्षर कीन्ह।
या अविगति समरथ करी, ताहि गुप्त करि दीन्ह॥
श्वासा सोहं ऊपजै, कीन अमी बंधान।
आठ अंस निरमाइया, चीन्हौ संत सुजान॥
तेज अंड अंचिन्त्यका, दीन्हों सकल पसार।
अंड सिखापर बैठिकै, अधर दीप निरधार॥
ते अचिन्तके प्रेमते, उपजी अक्षर-सार।
चारि अंश निर्माइया, चारि वेद विस्तार॥

तब अक्षरका दीनिया, नींद-मोह-अलसान ।
वे समरथ अविगति करी, मरम कोइ नहिं जान ॥
जब अक्षरके नींद गइ, दबी सुरति निरबान ।
श्याम वरण इक अंड है, सो जलमें उतरान ॥
अक्षर घटमें ऊपजे, व्याकुल संशयशूल ।
किन अंडा निरमाइया, कहा अंडका मूल ॥
तेहि अंडके मुक्खपर, लगी शब्दकी छाप ।
अक्षर दृष्टिसे फूटिया, दसद्वारे कढि बाप ।
तेहिते ज्योति निरंजनौ, प्रकटे रूप-निधान ।
काल अपरबल बीरभा, तीनि लोक परधान ॥
तातें तीनो देव भे, ब्रह्मा-विस्नु-महेश ।
चारि खानि तिन सिरजिया, मायाके उपदेश ॥
चारि वेद षट शास्त्रऊ, औ दस-अष्ट पुरान ।
आसा दै जग बाँधिया, तीनों लोक भुलान ॥
लख चौरासी धारमां, तहाँ जीव दिय वास ।
चौदह यम रखवारिया, चारि वेद विश्वास ॥
आपु आपु सुख सब रमैं, एक अंडके माहिं ।
उतपति परलय दुःख-सुख, फिरि आवहिं फिरि जाहिं ॥
तेहि पाछे हम आइया, सत्य शब्दके हेत ।
आदि-अन्तकी उतपती, सो तुमसों कहि देत ॥
सात सुरति सब मूल है, प्रलयहु इनही माँहिं ।
इनही माँसे ऊपजे, इनही माँह समाहिं ॥
सोई ख्याल समरत्थकर, रहे सो अछप छपाइ ।
सोई सधि लै आइया, सोवत जगहिं जगाइ ॥
सात सुरतिके बाहिरे, सोरह संखके पार ।
तहँ समरथको बैठका, हंसनकेर अधार ॥
घर घर हम सबसों कही, शब्द न सुनैं हमार ।
ते भवसागर डूबहीं, लख चौरासी धार ॥
मंगल-उतपति आदिका, सुनियो संत सुजान ।
कह कबीर गुरु जाग्रत, समरथका फुरमान ॥

---

## ६—कुछ अन्य शब्दोंके भाग्य-विपर्यय

'निरंजन' शब्दके इस भाग्य-विपर्ययको देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिये। भारतवर्षकी जलवायुमें ही कुछ ऐसा गुण है कि यहाँके साधक और पण्डित समस्त प्रचलित पौराणिक परम्पराको स्वीकार करते हैं, अपने विशेष मतकी पुष्टिके लिये उससे संगति बैठाते हैं और अपने उपास्य देवको सबके सिरपर बैठा देते हैं। विष्णुको भजनेवाले शिवको विष्णुका दास बताते हैं और शिवको भजनेवाले विष्णुको शिवका भक्त और फिर शक्तिके उपासक शिवकी छातीपर कालीका कराल ताण्डव देखकर भाव-विह्वल हो उठते हैं! यह चिरपरिचित घटना है। निरंजन बेचारेको ज़रा कड़ा दण्ड मिला है। वह ईश्वरसे शैतान हो गया है,—अवश्य ही कबीरदासके हाथों नहीं, बल्कि उनके चेलोंकी कृपासे!—परन्तु इस प्रकारकी मनोरंजक परिणति तक कई अन्य शब्दोंको भी जाना पड़ा है। दुर्गतोंकी जमातमें निरंजन अकेला नहीं है।

सबसे अधिक मनोरंजक हैं शून्य और सहज, नाद और बिंदु तथा खसम और घरनी। शून्य और सहज तो भारतीय साहित्यके अत्यधिक मनोरंजक शब्दोंमेंसे हैं। बौद्ध महायान सम्प्रदायके दार्शनिकोंकी दो शाखायें हैं। एक मानती है कि संसारमें सब कुछ शून्य है, किसीकी भी कोई सत्ता नहीं और दूसरी शाखावाले मानते हैं कि जगत्‌के सभी पदार्थ बाहरी तौरपर असत् होनेपर भी चित्‌के निकट सत् हैं। असत् अर्थात् सत्ता-रहित या नॉन एक्ज़िस्टेंट और सत् अर्थात् सत्तावान् या एक्ज़िस्टेंट। इन दोनों शाखाओंमेंसे पहलीको शून्यवाद कहते हैं और दूसरीको विज्ञानवाद। नागार्जुनने शून्यकी व्याख्या करते हुए कहा है कि इसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं कह सकते और दोनों (=शून्याशून्य) भी नहीं कह सकते। फिर यह भी नहीं कह सकते कि यह शून्य भी नहीं है और अशून्य भी नहीं है। इसी भावकी प्रज्ञप्तिके लिये 'शून्य'का व्यवहार होता है[1]। इस प्रकार यह सिद्धान्त बहुत कुछ अनिर्वचनीयतावादका रूप ग्रहण कर लेता है।

---

१ शून्यमिति न वक्तव्यं अशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं नैव प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥

हमने ऊपर देखा है ( पृ० ४४ ) कि नाथपंथी लोग अपने सबसे ऊपरी सहस्रार चक्रको 'शून्य चक्र' कहते हैं। उनके मतसे जब जीवात्मा नाना प्रकारकी यौगिक क्रियाओंद्वारा इस चक्रमें पहुँचता है तो वह समस्त द्वंद्वोंसे ऊपर उठता है और 'केवल' रूपमें विराजता है। यही शून्यावस्था है जिसमें आत्माको और किसी प्रकारकी अनुभूति नहीं होती, न सुखकी न दुःखकी; न रागकी, न द्वेषकी; न हर्षकी, न अमर्षकी : इन समस्त द्वंद्वोंसे रहित केवलावस्थाको शून्यावस्था कहना अनुचित नहीं है। पर स्पष्ट ही यह अर्थ बौद्ध अर्थसे कुछ दूर हट गया है। मजेदार बात यह है कि योगी लोग इस केवल 'शून्यावस्था'को 'शून्याशून्य-अवस्था' भी कहते हैं और इस प्रकार शब्दोंमें नागार्जुनके बताये हुए परम लक्ष्यको ज्योंका त्यों स्वीकार करते हुए भी अर्थमें एकदम भिन्न हो गये हैं।

यह जो केवलावस्था है वह और भी पुराने कालसे सम्बद्ध है। सहजयानी सिद्ध लोग इसी केवलावस्थाको बारबार शून्य पदसे पुकारते हैं ( चर्या० १३–१; १७–२; २८–५; ३१–१ इत्यादि )। इन सहजयानी सिद्धोंने प्रायः 'शून्य' और 'सहज' शब्दका व्यवहार एक साथ किया है। यह परम्परा अर्थात् 'शून्य' और 'सहज'का साथ साथ व्यवहार करना नाथपंथी योगियोंमें ज्योंकी त्यों चली आई है और कबीरदास आदि सन्तोंने भी इस परम्पराको लुप्त होने नहीं दिया है। कबीरदास प्रायः 'सहज-शून्य'का एक ही साथ प्रयोग करते हैं और कितनी ही जगह एक ही अर्थमें भी प्रयोग किया है। हम पहले ही देख आये हैं कि सहजावस्था जो नाथपंथियोंकी चरम साधना है इस शून्यावस्थासे भिन्न नहीं है। यही बात सहजयानी सिद्धोंके विषयमें भी कही जा सकती है। इस मतमें चार प्रकारके आनन्द माने गये हैं : प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। परन्तु योगियोंके 'सहजानन्द'से सहजयानियोंके 'सहजानन्द'का तात्त्विक भेद है। योगीको जहाँ इस अवस्थामें आत्मोपलब्धि होती है, वह आत्माराम हो जाता है अर्थात् अपनेमें आप ही रमने लगता है, वहाँ सहजयानीको इस अवस्थामें इन्द्रियबोधके लोप हो जानेका तो अनुभव होता ही है, अपने आपके जाननेकी स्थिति भी लुप्त हो जाती है। वहाँ वह केवल एक ऐसी अवस्थामें पहुँच जाता है जिसे किसी शब्दसे कह कर नहीं समझाया जा सकता, जो अनुभवैकगम्य है। सरहपाद यही बात बतानेके लिये कह गये हैं कि—

इन्दिअ जत्थ विलअ गउ, णट्ठिउ अप्प सहावा।
सो हले सहज न तनु फुड़, पुच्छहि गुरु पावा॥

कबीरदासके आविर्भावके अव्यवहित पूर्वकालमें एक ऐसी भी अवस्था बीती है जब सहयानी सिद्ध लोग शून्यको धनात्मक बतानेके लिये एक अन्य शब्दका व्यवहार करने लगे थे। यह शब्द है 'सुखराज' या 'महासुख'। इतना वे भी मानते थे कि सर्वज्ञ भगवान् बुद्धदेवने इस शब्दका कभी प्रयोग नहीं किया और इस भावकी प्रज्ञप्तिके लिये भी कुछ नहीं कहा। वस्तुतः 'सुखराज' अर्थात् धनात्मक 'सुख'की कल्पना बौद्ध धर्ममे बहुत परवर्ती घटना है। परन्तु साथ ही इस मतके माननेवाले बुद्धदेवके मौनका अपने पक्षकी पुष्टिमें ही उपयोग करते थे। उनका कहना था कि यद्यपि भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ थे तथापि वे इस महासुख-राजके विषयमें जो मौन रह गये वह इसलिये कि यह वाणीसे परे था, 'जय हो इस कारणरहित सुखराजकी, जो जगत्‌के नाशमान चंचल पदार्थोंमें एकमात्र स्थिर वस्तु है और सर्वज्ञको भी इसकी व्याख्या करते समय वचन-दरिद्र हो जाना पड़ा था': :

जयति सुखराज एप कारणरहितः सदोदितो जगतां।
यस्य च निगदन-समये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः॥

सो यह सुखराज ही सार है, यही शून्यावस्था है। क्यों कि इसका न आदि है, न अन्त है, न मध्य है। न इसमें अपना ज्ञान रहता है न परायेका। न यह जन्म है न मोक्ष, न भव, न निर्वाण। इसी अपूर्व महासुखराजको सरहपादने इस प्रकार कहा है—

आइ ण अन्त ण मज्झ णउ, णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण॥

—ज० डि० लें० पृ० १३

किस प्रकार यह सहजमत बादमें चलकर सहजिया वैष्णव सम्प्रदायमें बदल गया यह साधनाके इतिहासमें बड़ी मनोरंजक कहानी है, पर हम उधर नहीं जा सकते क्यों कि वह कबीरदासके बादकी घटना है।

कबीरदासने 'शून्य' और 'सहज'से जिस प्रकारकी समाधिकी बात कही है वह योगियोंकी सहजावस्थासे भिन्न है। वे उस सन्तको अपना सारा जप-तप दलालीमें भेंट कर देनेको तैयार थे जो उन्हें सहज सुखके योग्य बना दे, जो उन्हें एक

बूँद भी राम-रस चखा दे। यह राम ही उनकी सहजावस्थाका सुख है[1]। इसी 'राम-रस'का आस्वादन उन्होंने सहज-शून्यमें किया था। इसी 'राम-रस'से शिव सनकादि मत्त हो गये थे। इड़ा और पिंगलाकी भट्ठी बनाई, उसमें ब्रह्म-अग्नि जला दी, सूर्य और चंद्रसे दसों दरवाजे बंद कर दिये और उल्टी गंगा बहा कर पानीकी व्यवस्था की, तब जाकर पांचों प्राणोंको साथ लेकर 'राम-रस' चुआया गया और कबीरदासने छक कर पान किया। सद्गुरु न मिले होते तो यह विचित्र रस सम्भव न होता। खैर, कबीरदास भाग्यशाली थे उन्हें राम-रसका चस्का लग गया और वे दिनरात इस महारसमें बुड़ बने रहे[2]। इस प्रकार कबीरदास हद छोड़कर बेहदमें पहुँच सके थे और वहाँ 'शून्य'-सरोवरमें आप्राण मज्जन करके ऐसे महलमें विश्राम कर सके थे जहाँ मुनिजन भी नहीं पहुँच पाते[3]। सहजावस्था भी कबीरदासके मतसे वह है जहाँ भक्त सहज ही भगवान्‌को पा सके। पुत्र-कलत्र और वित्तका त्याग करना कुच्छ्रता है, कोई एक ऐसा योग है जिसमें ये चीज़ें स्वयं छूट जाती हैं।

---

१. है कोउ सन्त सहज सुख उपजै जाकों जप-तप देउँ दलाली।
एक बूँद भरि देइ रांम-रस, ज्यूं भरि देइ कलाली। इत्यादि।
—क० ग्रं० पद १५५

२. बोलौ भाई रांमकी दुहाई।
इहि रस सिव-सनकादिक माते पीवत अजहूँ न अघाई।
इला-प्यंगुला भाठी कीन्ही, ब्रह्म-अगनि परजारी।
ससिहर सूर द्वार दस मूँदे लागी जोग जुग तारी।
मन मतिवाला पीवै रांम-रस दूजा कछु ना सुहाई।
उल्टी गंग नीर बहि आया अंमृत धार चुआई।
पंच जनें सो संग करि लीन्हें चलत खुमारी लागी।
प्रेम-पियालै पीवन लागे सोवत नागिनि जागी।
सहज सुंनिमैं जिन रस चाख्या सतगुरथैं सुधि पाई।
दास कबीरा इहि रस माता कबहूँ उछकि न जाई॥
—क० ग्रं०, पद ७४

३ हद छाड़ि बेहद गया, किया सुंनि असनान।
मुनिजन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम॥
—क० ग्रं०, ५-२१ (पृ० १३)

कबीरदासने उसी अनासक्ति-योगको अपनाया था और उन्हें अपने पुत्र और कलत्रकी ममता और अर्थ और कामकी चिन्ता सहज ही चली गई थी,—वे 'एकमेक' होकर रामसे सहजही मिल सके थे—

> सहजैं सहजैं सब गए, सुत-बित कामिणि-कांम।
> एकमेक ह्वै मिलि रह्या, दासि कबीरा राम॥
> सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
> जिन्ह सहजैं हरिजी मिलैं, सहज कहीजै सोइ॥
>
> —क० ग्रं० २१, ३-४ (पृ० ४२)

किन्तु हमने ऊपर देखा है कि कबीरपंथी लोगोंने इस 'सहज' शब्दका भी लोक-विशेषके अर्थमें ही प्रयोग किया है। कबीरदासने यद्यपि यहाँ सहज ही हरिको पा लिया था पर कबीरके शिष्योंको यह पसन्द नहीं था कि उन्हे सहज ही छोड़ दिया जाय। सो सहज शून्यकी नैरात्म्य, कैवल्य, महासुख, राम-रस-निर्झरसे होती हुई सहज लोक तक पहुँचनेकी यात्रा बड़ी ही मनोरजक है। फिर भी इतना तो सन्तोष किया ही जा सकता है कि इस परिणतिके पश्चात् भी सहजलोकमें वास करनेवाला सहज-पुरुष निरंजन जैसा ठग और धोखेबाज़ नहीं बताया गया है और वह सत्यलोक-रूप परमपदसे बस एक ही सीढी नीचे है!

'खसम' शब्द और भी मनोरंजक है। सिद्धोंके गानों और दोहोंमे यह कई जगह आया है। सरोजवज्रकी निम्नलिखित चौपाईमे यह दो बार आया है। एक जगह केवल 'खसम' है और दूसरी जगह 'खसम-सहावें' या 'खसम-स्वभावेन'के रूपमें है—

> सब्ब रूअ तहि खसम करिज्जइ।
> खसमसहावें मण वि धरिज्जइ॥

दुर्भाग्यवश इस चौपाईपर अद्वयवज्रकी टीका खण्डित मिली है। आखिरी पंक्तिका अर्थ उन्होंने 'मनश्च खसमस्वभावेन धार्यते' अर्थात् 'मन भी खसम स्वभावसे धारण किया जाता है' इस प्रकार किया है। परन्तु इसके बादकी चौपाईकी टीकामे जो कुछ लिखा है उससे कोई सन्देह नहीं रह जाता कि 'खसम' वस्तुतः सहजयानी लोगोंकी सहजावस्था या शून्यावस्थाका वाचक शब्द है। 'खसम'का शब्दार्थ भी 'शून्यके समान' या 'आकाशके समान' (नाथ पंथियोंके शब्द 'शून्योपम' और 'गगनोपम'से तुलना कीजिये।) है। अद्वयवज्र

लिखते हैं कि, "तथा सोऽपि खसमस्वरूपं मनः तस्मिन्मनः क्रियते। एवं यः करोति स उत्तमः पुरुषः सहजस्वभावे रम्यते क्रीडत इति यावत्।" अर्थात् 'आकाशके समान व्यापक मनमें जो साधक अपने मनको लीन कर देता है वह उत्तम पुरुष निश्चय ही सहज स्वभावसे क्रीड़ा करता है। (सहजाम्नाय-पंजिका पृ० ११०-१११)

इसी तरह शबरपादके निम्नलिखित पदमें 'खसमे-समतुला' शब्द आया है—

हेरिये मेरि तइला बाड़ी खसमे समतुला
पुकड़ए सेरे कपासु फुटिला।

टीकाकारने यहाँ 'खसमे समतुला'का अर्थ 'प्रभास्वरतुल्यभूता' अर्थात् 'अत्यन्त उज्ज्वल' किया है। जान पड़ता है कि सहजयानी लोगोंमें इस शब्दका प्रयोग शून्यावस्था और नैरात्म्य-भावके लिये किया जाता था। इस भावके व्यंजक जितने भी पुराने शब्द योगियों और तान्त्रिकोंके साहित्यमें बच रहे हैं उनका अर्थ थोड़ा बदल गया है। नैरात्म्यका स्थान 'भावाभावविनिर्मुक्तावस्था' ने ले लिया है अर्थात् बौद्ध लोग जहाँ इन शब्दोंसे आत्माके लुप्त होनेका भाव लिया करते थे (नैरात्म्य), वहाँ योगी और तान्त्रिक लोग एक ऐसी अवस्थाका अर्थ समझने लगे जिसमें साधकको न भावका अनुभव होता है न अभावका— न तो वह 'है' को महसूस करता है और न 'ना'को (भाव-अभाव-विनि-मुक्त-अवस्था)। यही योगियोंकी दुर्लभा सहजावस्था है। ध्यान देनेकी बात है कि इस अवस्थाके लिये योगियोंने 'खसम' शब्दके तुल्यार्थक 'गगनोपम' शब्दका व्यवहार किया है। 'अवधूत-गीता'में अवधूतकी इस गगनोपमावस्थाका विस्तारपूर्वक वर्णन है। गगनोपमावस्था (या ख-सम-अवस्था) जहाँ द्वैत और अद्वैत, नित्य और अनित्य, सत्य और असत्य, देवता और देवलोक आदि कुछ भी प्रतीत नहीं होते, जो माया-प्रपंचके ऊपर है, जो दम्भादि व्यापारके अतीत है, जो सत्य और असत्यके परे है, जो ज्ञानरूपी अमृतपानका परिणाम है—

अद्वैतरूपमखिलं हि कथं वदामि
नित्यं ह्यनित्यमखिलं हि कथं वदामि।
सत्यं ह्यसत्यमखिलं हि कथं वदामि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥

ब्रह्मादयः सुरगणाः कथमत्र सन्ति
स्वर्गादयो वसतयः कथमत्र सन्ति।
यद्येकरूपममलं परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं **गगनोपमोऽहम्**॥
माया-प्रपञ्च-रचना न च मे विकारः
कौटिल्य-दम्भ-रचना न च मे विकारः।
सत्यानृतेति रचना न च मे विकारः
ज्ञानामृतं समरसं **गगनोपमोऽहम्**॥
न शून्यरूपं न विशून्यरूपं
न शुद्धरूपं न विशुद्धरूपं।
रूपं-विरूपं न भवामि किंचिद्
स्वरूपरूपं परमार्थतत्त्वम्॥

जब यह शब्द कबीरदास तक पहुँचा तबतक इससे मिलता-जुलता एक अरबी शब्द ख़सम (=पति) भारतवर्षकी सीमामें पहुँच चुका था। कबीरदासको यह शब्द दो मूलोंसे प्राप्त हुआ। हठयोगियोंके माध्यमसे यह आत्माके शून्यचक्रमें पहुँचकर समभावकी अवस्थाको प्राप्त होनेके अर्थमें आया और मुसल्मानी माध्यमसे पतिके अर्थमें। हमने पहले ही देखा है कि कबीरदास योगियोंके कृच्छ्राचारद्वारा प्राप्त समाधिको बहुत ऊँची अवस्था नहीं मानते थे। मेरुदण्डपर दुलैचा डालकर समाधि लगानेको वे कच्चा योग ही समझते थे—

मेरुदण्डपर डारि दुलैचा जोगी तारी लावैं।
सो सुमेरकी खाक उड़ैगी कच्चा योग कमावैं॥

बीजकके ६५ वें पदमें यह बताया गया है कि योगियोंका महाकालको धोखा देनेकी धुनमें लगे रहना कितना हास्यास्पद है। भला हृदयमे भगवद्भक्ति न हो तो शरीरकी साधना कहाँ तक साथ दे सकती है? जो रस बधनेमें है ही नहीं, उसे टोंटीके रास्ते गिरानेका प्रयत्न हास्यापद नहीं तो क्या है—

जरि गौ कंथा धज गौ टूटी। भजि गौ डंड खपर गौ फूटी।
कहहिं कबीर इ कलि है खोटी। जो रहै करवा सो निकरै टोंटी!!

इसीलिए कबीरदासने शून्य-समाधिवाली गगनोपमावस्था या खसम-भावको सामयिक आनंद ही माना है, बड़ी चीज़ तो सहज समाधि है जिसके लिये न

डंडेकी जरूरत है न कथाकी, न मुद्रा आवश्यक है न आसन ( पृ० ६७ टि० देखिये ) । यही कारण है कि खसमका अर्थ सब समय उन्होंने 'निकृष्ट पति' समझा। इन्द्रिय वधुओंका खसमके साथ 'सूतने' अर्थात् यौगिक क्रियाओंद्वारा मुग्ध बने रहनेको उन्होंने कुछ इसी अर्थमें प्रयोग किया है। फिर खसम वह पति है जो अपनी पत्नीको वश न कर सके और इंद्रियोंके दास मनको भी इसीलिये कबीर-दासने कभी कभी खसम कहा है। कमसे कम कबीरदासके नामपर चलनेवाले बहुत से परवर्ती भजनोंमें इसका इस दूसरे अर्थमें ही प्रयोग अधिक है। टीकाकारों और भक्तोंने अपनी उर्वर कल्पनाके बलपर इस शब्दका अर्थ कभी जीव, कभी मन और कभी परमात्मा भी किया है।

मेरा अनुमान है कि कबीरदास 'खसम' शब्दकी पुरानी परम्परासे जरूर वाकिफ थे और उन्होंने जान-बूझकर खसमावस्थाकी तुलना निकृष्ट पतिसे की है। उद्देश्य योगियोंकी कचाई बताना था। तिहत्तरवीं रमैनीमें यह शब्द इस प्रकार आया है :

जाइन मरै सुपेदी सौरी, खसम न चीन्है बरनि मै बौरी।
साँझ-सकारा दियना बारै, खसम छोड़ि सुमिरै लगवारे।

ठीक इसी प्रकारकी उक्तियाँ सिद्धोंकी वाणियोंमेंसे खोजी जा सकती हैं। सिद्ध लोग 'घरणि' या घरनीका अर्थ तीन वृत्तियोंमेंसे कोई एक समझते हैं। यद्यपि इन तीनों वृत्तियोंके नाम उस जमानेकी नीच समझी जानेवाली जातियोंके नामपर हैं पर वे बौद्ध तान्त्रिक साधनाकी बहुत ऊँची अवस्थाओंकी द्योतिका हैं। सहज-मतकी ये तीन वृत्तियाँ ( या मार्ग ) ये हैं : ( १ ) अवधूती, ( २ ) चाण्डाली, ( ३ ) डोम्बी या बंगाली। अवधूतीमें द्वैत-ज्ञान बना रहता है, चाण्डालीमें द्वैत-ज्ञानके बने रहनेको कह भी सकते हैं नहीं भी कह सकते, पर डोम्बी या बंगालीमें विशुद्ध अद्वैत-ज्ञान ही विराजा करता है। एकका रास्ता इड़ा मार्गसे है, दूसरीका पिंगला मार्गसे और तीसरीका सुषुम्नासे। भूसुकपादने इसी लिए अपनेको सम्बोधित करके कहा है कि 'ऐ भूसुक, तूने चाण्डालिन घरनीको तो अपना लिया, अब आज बंगालिन घरनी भी बना ले और इस प्रकार सर्वद्वन्द्व-विनिर्मुक्त खसम-भावको प्राप्त हो'—

आजि भुसु बांगाली भइली, णिअ घरणी चाण्डाली लइली!

इस प्रकार इस साहित्यमें 'घरणी' शब्द प्रायः ही तीन वृत्तियोंके अर्थमें संकेतित है। इस अर्थके प्रकाशमें कबीरदासकी ऊपरवाली रमैनीका विचार किया जाय तो

अर्थ बहुत साफ़ हो जाता है। खसम भावको पहचाननेवाली वृत्ति सुषुम्णावाहिनी है, अन्य मार्ग जो द्वैतज्ञानमूलक हैं, उन्हें यह वृत्ति पहचानती नहीं।

इसी प्रकार निम्नलिखित साखीमें भी खसम भावकी अपेक्षा भक्तिप्रतिपाद्य भगवद्भावको श्रेष्ठ बताया गया है—

मेरै भूली खसमकै, कबहुँ न किया विचार।
सतगुरु साहिब बताइया, पूरबला भरतार॥

परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि या तो कभी कभी कबीरदास स्वयं खसम शब्द परम्परासमर्थित अर्थमें प्रयोग नहीं करते थे या फिर ऐसे पद कबीरदासके नाम-पर बादमें चल पड़े होंगे। बीजकमे ही खसम शब्दका ऐसा प्रयोग पाया जाता है जिसका बहुत खींच-तान करने पर भी 'खसमावस्था' अर्थ नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ,

भाई, मैं दूनो कुल उजियारी।
बारह खसम नैहरे खायो; सोरह खायो ससुरारी।
इत्यादि (शब्द ६२)

हमने यह पहले ही देखा है कि कबीरदासजीने शून्य-सहजमें 'रांम-रस' पानेका अनुभव किया था। अपने आपको खसमावस्था या गगनोपम भावके ऊपर उठाकर प्रेम-प्रवण 'हरिरस'की ओर उन्मुख करके लिए वे जो कुछ कहते हैं उससे तो खसम शब्दका पुराना अर्थ ही समर्थित होता है—

धीरौ मेरे मनवॉ तोहिं धरि टॉगौं. तैं तो कियो मेरे खसम सूं खांगौं।
प्रेमकी जेवरिया तेरे गले बॉधूं, तहॉ लै जाउँ जहॉ मेरे माधौ।
काया नगरी पैसि किया मैं बासा, हरि-रस छॉडि बिषै-रसि माता॥
कहै कबीर तन-मनका ओरा, भाव-भगति हरिसूं गँठ-जोरा॥

इस प्रकार 'सहज' और 'शून्य'की भॉति 'खसम' और 'धरनी'की परिणति भी साधना-साहित्यकी एक मनोरंजक घटना है।

---

## ७—योगपरक रूपक और उलटबाँसियाँ

कबीरदासके नामपर बहुतसे योग-परक रूपक और उलटबाँसियोंका पाया जाना बड़े भारी भ्रम और विवादका विषय बन गया है। ऐतिहासिक दृष्टिसे न देख सकनेके कारण अनेक पण्डित इसके वास्तविक रहस्यको नहीं समझ सके। कबीरदास जिस वंशमें उत्पन्न हुए थे उसमें योग-चर्चा अत्यन्त मामूली धर्म-चर्चाके समान थी। बाहर भी योगियोंका बहुत ज़बर्दस्त प्रभाव था। इन योगियोंकी अद्भुत क्रियायें साधारण जनताके लिए आश्चर्य और श्रद्धाका विषय थीं। परन्तु इन योगियोंका किसी भी विषयमें साधारण जनतासे साम्य नहीं था। बल्कि ये लोग गर्वपूर्वक घोषणा करते फिरते थे कि वे तीन लोकसे न्यारे हैं। सारी दुनिया भ्रममें उलटी बही जा रही है, सही रास्तेपर वे ही लोग हैं जो हठयोगके सिद्धान्तो और व्यवहारोंको मानते हैं। 'गोरक्ष-सिद्धान्त-सग्रह' में कहा गया है कि "एक योगसम्प्रदायके सिवा अन्य सभी मतोंकी बात उल्टी है। नाथका अंश नाद है, नादका अंश प्राण और उधर शक्तिका अंश बिन्दु है और बिन्दुका अंश शरीर। इससे स्पष्ट है कि नाद और प्राण बिन्दु और शरीरसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, अर्थात् पुत्र-क्रमकी अपेक्षा शिष्य-क्रम अधिक मान्य है। दुनियाके लोग ठीक इसके उल्टे चलते हैं। उनकी दृष्टिमें पुत्रक्रम ही अधिक मान्य है और शिष्य-क्रम अल्प-मान्य। परन्तु नाथ-पन्थी लोग शिष्यक्रमको प्रधान मानते हैं और यही ठीक भी है! दुनियाका क्रम है: धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष; ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास; शृंगार-हास्य-करुण-रौद्र-बीभत्स-भयानक-अद्भुत-शान्त; पृथ्वी-जल-तेज-वायु आकाश; ब्रह्मा-विष्णु-शिव इत्यादि,—सब उल्टा!! क्योंकि जो श्रेष्ठ है उसको पहले स्थान देना चाहिए अपेक्षाकृत कम श्रेष्ठको बादमें। इस प्रकार वास्तविक क्रम बिल्कुल उल्टा होगा। यथा, मोक्ष-धर्म-अर्थ-काम; संन्यास-वानप्रस्थ-गार्हस्थ्य-ब्रह्मचर्य, शान्त-करुण-अद्भुत-वीर-रौद्र-हास्य-भयानक बीभत्स-शृंगार...इत्यादि। यही योग-सम्प्रदायकी रीति है, यही तंत्र-सम्प्रदायकी।" (पृ० ५८-५९)। इस साम्प्रदायिक वृत्तिका परिणाम यह हुआ कि योगी और तान्त्रिक लोग दुनियासे उल्टी बात कहनेके अभ्यस्त हो गये। विरोधाभास यह कि ऐसा कहनेसे उनकी

प्रतिष्ठा बढती ही गई, घटी बिल्कुल नहीं! और ये लोग अधिकाधिक उत्साहसे डकेकी चोट सीधी बातको भी उल्टी करके, जटिल करके, धक्कामार बनाके कहते गये : तुम कहते हो सूर्य प्रकाश और जीवन देता है?—बिल्कुल गलत है। वही तो मृत्युका कारण है। चन्द्रमासे जो कुछ अमृत झरा करता है वह सूर्य ही चट कर जाता है। उसका मुँह बन्द कर देना ही योगीका परम कर्तव्य है[1]। क्योंकि जो आकाशमे तप रहा है वह वास्तवमें सूर्य नहीं है, असलमे सूर्य नाभिके ऊपर रहता है और चन्द्रमा तालुके नीचे (हठ० ३–७८)। तुम कहते हो गोमांस-भक्षण महापाप है? वारुणी पीना निषिद्ध है?—भोले हो तुम। यही तो कुलीनका लक्षण है क्योंकि 'गो' जिह्वाका नाम है और उसे तालुमें उलटकर ब्रह्मरंध्रकी ओर ले जाना ही 'गोमासभक्षण' है। तालुके नीचे जो चन्द्र है उससे जो सोमरस नामक अमृत झरा करता है वही तो अमर-वारुणी है। इसका पाना तो बड़े पुण्यका फल है (हठ० ३–४६, ४८)! तुम कहते हो बालविधवा सम्मान और पूजाकी वस्तु हैं? सारे समाजको उनके सम्मानकी और रक्षाकी जिम्मेदारी लेना चाहिये? —एकदम उल्टी बात है। क्योंकि गंगा और यमुनाकी मध्यवर्ती पवित्र भूमिमें वास करनेवाली एक तपस्विनी बालविधवा है, उसको बलात्कारपूर्वक ग्रहण करना ही तो विष्णुके परमपदको प्राप्त करनेका सही रास्ता है! कारण स्पष्ट है। गंगा इडा है, यमुना पिंगला। इन दोनोंकी मध्यवर्तिनी नाडी सुषुम्नामें कुण्डलिनी नामक बालरण्डाको जबर्दस्ती ऊपर उठा ले जाना ही तो मनुष्यका परम लक्ष्य है[2]। तुम कहते हो कि पंचम-वर्णी अवधूत बनकर मंत्र-तंत्र करनेसे सिद्धि मिलेगी? —बेतुकी बात है यह। अपनी घरनीको ले कर जब तक केलि नहीं करते तब तक बोधि-प्राप्तिकी आशा बेकार है। इस तरुणी घरनीके बिना जप-होम सब व्यर्थ हैं! क्योंकि घरनी तो असलमे महामुद्रा है। उसके बिना निर्वाण-पद कैसे

---

१ यत् किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यः तेन पिण्डो जरायुतः॥—हठ० ३–७६

२ गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम्॥
इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा तु कुण्डली॥—हठ० ३–१०१,२

मिल सकता है [1]!

योगियों सहजयानियों और तान्त्रिकोंके ग्रंथोंसे ऐसी उलटबाँसियोंका संग्रह किया जाय तो एक विराट् पोथा तैयार हो सकता है। परन्तु हमें अधिक संग्रह करनेकी जरूरत नहीं। इस प्रकरणमें जो प्रसंग उत्थापित किया जा रहा है उसीको सुन कर धैर्य सम्हाल रखना आसान काम नहीं है।

सहजयानियोंमें इस प्रकारकी उल्टी बानियोंका नाम 'सन्ध्या-भाषा' प्रचलित था। म० म० हरप्रसाद शास्त्रीके मतसे 'सन्ध्या-भाषा'से मतलब ऐसी भाषासे है जिसका कुछ अंश समझमें आये और कुछ अस्पष्ट लगे पर ज्ञानके दीपकसे जिसका सब कुछ स्पष्ट हो जाय। इस व्याख्यामें 'सन्ध्या' शब्दका अर्थ 'साँझ' मान लिया गया है और यह भाषा अंधकार और प्रकाशके बीचकी,—सन्ध्याकी भाँति ही कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट बताई गई है। किन्तु ऐसे बहुतसे विद्वान् हैं जो उक्त भाषाका यह अर्थ स्वीकार नहीं करना चाहते। एक पंडितने अनुमान भिडाया है कि इस शब्दका अर्थ संधि देशकी भाषा है। सधि-देश भी, इस पंडितके अनुमानके अनुसार, वह प्रदेश है जहाँ बिहारकी पूर्वी सीमा और बंगालकी पश्चिमी सीमा मिलती है। यह अनुमान स्पष्ट ही बेबुनियाद है, क्योंकि इसमें मान लिया गया है कि बगाल और बिहारके आधुनिक विभाग सदासे इसी भाँति चले आ रहे हैं। म० म० पं० विधुशेखर भट्टाचार्यका मत है कि यह शब्द मूलतः 'सन्धा भाषा' है, 'सन्ध्या भाषा' नहीं। अर्थ अभिसंधिसहित या अभिप्राययुक्त भाषा है। आप 'सन्धा' शब्दको संस्कृत 'संधाय' ( =अभिप्रेत्य ) का अपभ्रष्ट रूप मानते हैं। बौद्ध शास्त्रके किसी किसी वचनने सहजयान और वज्रयानमें यह रूप धारण किया है। असलमें, जैसा कि भट्टाचार्य महाशयने सिद्ध कर दिया है, वेदों और उपनिषदोंमेंसे भी ऐसे उदाहरण खोज निकाले जा सकते हैं जिनमें संधाभाषा जैसी भाषाके प्रयोग मिल जाते हैं। परन्तु बौद्ध धर्मकी अन्तिम यात्राके समय यह शब्द और यह शैली

---

१ एक न किज्जइ मन्त न तन्त। णिअ घरणी लेइ केलि करन्त॥
णिअ घर घरणी जाव ण मज्जइ। ताव कि पंचवण्ण विहरिज्जइ॥
एप जप-होमे मण्डल-कम्मे। अनुदिन अच्छसि काहिउ धम्मे।
तो विणु तरुणि निरन्तर नेहे। बोहि कि लागइ एण वि देहे।
—कृष्णाचार्यका दोहा; बौद्ध० पृ० १३१-२ और उसकी संस्कृतटीका।

अत्यधिक प्रचलित हो गई थी और साधारण जनतापर इसका प्रभाव भी बहुत अधिक था।

हमने ऊपर जिस योगसिद्धान्तकी चर्चा की है उससे ही स्पष्ट है कि योगियोंके पारिभाषिक शब्दोंमें उल्टी बानीको प्रभावशाली और अद्भुत बना देनेकी शक्ति है। हठयोगप्रदीपिका, शिव-संहिता और घेरण्ड-संहिता आदि ग्रंथोंमे उपमानरूपमे निम्नलिखित विषयोंके लिये निम्नलिखित संकेत कहे गये हैं। कबीरदास तथा अन्य परवर्ती संतोंकी उलटवाँसियों और योगशास्त्रीय रूपकोंको समझनेमें ये उपमान ( या संकेत ) कामके सिद्ध हुए हैं। नीचे उनका संग्रह किया जा रहा है।

चित्त—भ्रमर ( हठ० ४–८९ ), अग्नि ( हठ० ४–९७ )

मन—मत्त गजेंद्र ( हठ० ४–९० ), खग ( हठ० ४–९१ ), पारद ( हठ० ४–९५ )

{ अन्तःकरण—हरिण ( हठ० ४–९८ )
{ अन्तरंग ( अन्तःकरण )—भुजंगम ( हठ० ४–९६ ), हरिण ( हठ० ४–९३ )

वायु—सिंह, गज, व्याघ्र ( हठ० २–१५ )

ब्रह्मनाड़ी—बिल ( हठ० ३–८८ )

नाद—शिकारी ( हठ० ४-९२ ), गंधक ( हठ० ४-९४ ) काष्ठ ( ४-९७)

उन्मनी—कल्पलता

इड़ा—सूर्य-अंग ( हठ० ३-१५ ), वरुणा ( शिव० ५-१०० ), गंगा ( हठ० ३-१०२ )

पिंगला—चन्द्र-अंग ( हठ० ३-१५ ), यमुना ( हठ० ३-१०२ ), असी ( शिव० ५-१०० )

सुषुम्ना—शून्य पदवी ( शून्य-मार्ग ), राजपथ, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग ( हठ० ३-४ ); ब्रह्मनाड़ी ( हठ० ३-६८ ); सरस्वती ( शिव० ५-१२३ )

कुण्डलिनी—कुटिलांगी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती ( हठ० ३.९७ ) बालरण्डा ( ३-१०१ ]

मूलाधारपद्म—( नाभिके ऊपर )—सूर्य ( शिव० ५-१०६ )

ब्रह्मरन्ध्र ( तालुके नीचे )—चन्द्र ( शिव० ५-१०३ ),

चन्द्रका रस—सोम-रस, अमर-वारुणी ( वही तथा हठ० ३,४६–४८ )

ब्रह्मरन्ध्र—त्रिवेणी ( शिव० ५–१३२ ); शून्य कमल कूप गगन इत्यादि[१]।

परन्तु रूपकों और उलटबाँसियोंको समझनेके लिये केवल ऊपर बताये हुए शब्द ही पर्याप्त नहीं हैं। वस्तु-धर्मके साथ जिस किसी भी उपमानका साधर्म्य हो सकता है उसे ही अतिशयोक्ति-अलंकारकी शैलीपर उस वस्तुका वाचक मान लिया गया है। उदाहरणार्थ चित्त चञ्चल है, इसलिये हरिण–मच्छ–आदि कई चाञ्चल्य-धर्मी उपमानोंको चित्तका वाचक मान लिया गया है। इसी तरह संसारमें विषयी लोग डूब जाते हैं, इसीलिये वह सागरका समानधर्मा है जिसमें एक बार पड़ जानेवालेको मार्ग नहीं मिलता। फिर वह गहन वनके समान भी है जहाँ पद पदपर हिंस्र जन्तुओंके समान कुवृत्तियोंका भय है। इस प्रकार संसारके लिये 'सागर' और 'वन' पर्यायवाची हो गये हैं।

योगियोंके उक्त शब्दोंके साथ कबीरदासके अपने शब्द भी मिले हुए हैं। 'बिलैया', 'मूसा', 'पूत', 'बाँझ माता' आदि शब्द योगियोंके साहित्यमें नहीं मिलते। कमसे-कम मुझे देखनेको नहीं मिले। इन स्थानोंपर उद्देश्य माया और जीवसे होता है। इस प्रकार श्री विचारदासजीने अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तकमें इन शब्दोंको संकेतित माना है :

मन—मच्छ, माछ, मीन, जुलाहा, सावज, सियार, रोझ, हस्ती, मतंग, निरंजन आदि।

जीवात्मा—पुत्र, पारथ, जुलाहा, दुलहा, सिंह, मूसा, भौंरा, योगी आदि।

माया—माता, नारी, छेरी, गैया, बिलैया।

संसार—सायर, वन, कीचड़।

नर-तन—यौवन, दिवस, दिन।

इन्द्रिय—सखी, सहेली, इत्यादि। —विचार० पृ० ४०

---

[१] खोज की जाय तो कबीरदासके पदोंमें इन शब्दोंसे मिलते-जुलते संकेतित बहुतसे शब्द ढूँढ़े जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, विहंगम (क० ग्रं० पद ६); मृग (पद १); सिंह (पद १) गंगा-यमुना (पद १४ और १८); बेलि (पृ० २६, साखी ५८, ३–४); सूर्य (पद ६,१८,१७३); चन्द्र (पद ६,१८,१७३) त्रिवेणी (पद ४,१८) इत्यादि भूरिशः पाये जा सकते हैं।

श्री विचारदासजीका दावा है कि ये शब्द संप्रदायमें स्वीकृत हैं। परन्तु उन्होंने भी यह दावा नहीं किया कि ये ही सब कुछ हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से शब्द हैं जिनकी चर्चा उन्होंने विस्तार-भयसे नहीं की है। परन्तु यह बात अच्छी तरहसे समझ लेना चाहिये कि अतिशयोक्ति अलंकारकी शैलीपर कहे जानेपर भी वे स्वयं अतिशयोक्ति अलंकार नहीं हैं। इनमें कुछका तो तत्तत् शास्त्रमें संकेतितार्थ निश्चित ही है अर्थात् वहाँ उपमेयोपमान भावकी कल्पना ही नहीं की गई। उदाहरणार्थ, जब इडा और पिंगलाको गंगा और यमुना कहा गया है तो प्रस्तुत गंगा-यमुनामे ( उपमानमें ) अप्रस्तुत इडा-पिंगलाके ( उपमेयके ) अर्थका 'निगिरण-पूर्वक अध्यवसान' नहीं है, जबकि ऐसा होना ही अतिशयोक्ति अलंकारका बीज है,—बल्कि वहाँ गंगा-शब्दका संकेतितार्थ ही इड़ा है और पिंगला शब्दका संकेतितार्थ ही यमुना है। इस प्रकार जितनी उलटबाँसियाँ हैं उनमें साधारण तौरसे विपरीत भाव दीखनेपर भी योगशास्त्रीय परिभाषाओंका ही व्यवहार है। परन्तु यही बात रूपकोंके बारेमें ठीक नहीं है ( 'रूपक'से यहाँ अलंकार रूपकका विशिष्ट अर्थ न लेकर सामान्य अर्थ ही लेना चाहिए )। अधिकांश रूपकोंमें प्रस्तुत अर्थका निगिरण सचमुच ही हुआ है जिसका परिणाम यह हुआ है कि टीकाकारोंकी कल्पनाको यथेष्ट स्वाधीनता मिल गई है। एक ही पदमें आये हुए एक ही शब्दको भिन्न भिन्न टीकाकारोंने भिन्न भिन्न अर्थमे ग्रहण किया है। इस तरह ऊपर श्री विचारदास द्वारा बताये गये संकेतोंको साम्प्रदायिक संकेत मान भी ले तो इनके अतिरिक्त बहुतेरे शब्द रह जाते हैं जिनके लिये अलग अलग कल्पनाकी गुंजाइश रह जाती है।

परम्परा निस्सन्देह किसी तत्त्वके समझनेका उत्तम साधन है, पर परम्पराका ऐतिहासिक विकास और भी अधिक महत्त्वपूर्ण साधन है। सहजयानी सिद्धों, नाथपंथी योगियों और निर्गुण मतके सन्तोंके सांकेतिक शब्दोंकी तुलना करनेपर हम निस्सन्देह इस परिणामपर पहुँचते हैं कि दूसरी श्रेणीके संकेतितार्थोंमें,—अर्थात् जहाँ प्रस्तुतार्थका अप्रस्तुतार्थ द्वारा निगिरण हो गया होता है वहाँ धर्म ही संकेतका कारण है, धर्मी नहीं। दूसरे शब्दोंमे कहा जाय तो जब ये सिद्ध, योगी और सन्त लोग मनको मच्छ या हरिण कहते हैं तब 'मन'से संकेतित चाञ्चल्य-धर्म होता हैं, चाञ्चल्य-धर्मी हरिण नहीं। वह हरिण किसी अन्य साधर्म्य-

वश किसी अन्य वस्तुका द्योतक भी हो सकता है। 'हरिण' या 'मच्छ' शब्दसे साधर्म्यके प्रसंगवश कई पदार्थ ग्रहण किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ हरिणका भीतियुक्त स्वभाव कभी कमजोर साधकका भी द्योतक हो सकता है।

अधिक निश्चित उदाहरणके लिये भूसुकपादका यह पद लिया जाय—

अपणा मांसे हरिणा वैरी। खनह न छाडअ भूकु अहेरी ॥
तिण न छुअइ हरिण पिवइ न पाणी। हरिणा हरिणीर निलअ न जाणी ॥

यहाँ—हरिण=चित्त
आखेटिक=स्वयं भूसुकपाद ( साधक )
हरिणी=ज्ञानमुद्रा

इसमें 'हरिण' और 'हरिणी' शब्द जो भिन्न भिन्न अर्थोंमे प्रयुक्त हुए हैं वे दो भिन्न धर्मोंके कारण, यह बात टीकाकारने साफ़ साफ़ स्वीकार की है।[1] धर्म भी एक अर्थगत है दूसरा शब्दगत। चित्तको हरिण इसलिये कहा गया है कि वह चांचल्य-धर्मी है और ज्ञानमुद्राको हरिणी इसीलिये कहा गया है कि विषपान और भवग्रह आदिको हरण करती है आर भूसुकपाद अपनेको आखेटिक इसलिये कहते हैं कि उनमें गुरुके वचनरूपी बाणोंसे चित्त-चाञ्चल्यको वेध सकने योग्य आखेटकत्व धर्म विद्यमान है।

इसी प्रकार कृष्णाचार्यके,

मारिअ शासु ननँद घरे शाली।
माअ मारिअ कान्ह भइल कपाली ॥

इस पदमें,

सास = श्वास, ननँद = इन्द्रिय, माँ = काया, कपाली = स्वयं कृष्णाचार्य ( = साधक )[2]।

---

१ अपणेत्यादि। अतएव स्वयं कृतविद्यामात्सर्यदोषेण चांचल्यतया पुनः स एव चित्तहरिणः सर्वेषां वद्धवैरी। क्षणमपि चित्तहरिणं विहाय भूसुकपाद आखेटिकः सद्गुरु-वचन-बाणेनैनं प्रहरति। विषपानं भवग्रहान् हरति खण्डयति। हरिणीति संध्याभाषया सैव ज्ञानमुद्रा नैरात्मा।

—चर्या० पृ० १२-१३

२ चर्या० ११-५; पृ० २१-२२

इन शब्दोंमें साधर्म्यकी प्रधानता ही संकेतका कारण समझी गई है। उदाहरणोंकी संख्या और भी बढाई जा सकती है। स्वयं कबीरदासने भी कभी जीवात्माको दूल्हा कहा है और कभी मनको ही इस शब्दसे स्मरण किया गया है। कभी उनके राम भी इस दूल्हापदको सुशोभित करते हैं। अगर सर्वत्र 'दुलहा' में एक ही धर्मका आरोप होता तो ऐसा होना संभव नहीं था।

'निरंजन' शब्दके बारेमें जो साम्प्रदायिक विचार बादमें प्रतिष्ठित हुआ था उसे देखते हुए निरंजनको मनका वाचक समझ लेना कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है। हम पहले ही देख चुके हैं कि न तो परम्परा ही और न कबीरदासकी पुरानी वाणियाँ ही निरंजनको मन (या भगवानके अतिरिक्त और कोई वस्तु) समझनेका समर्थन करती हैं। कबीरदासने तो स्पष्ट रूपमें 'निरंजन'से निरुपाधि निर्गुण गोविन्दको संबोधित किया है,—गोविंद जिसका कोई रूप नही, रेख नहीं, मुद्रा नहीं माया नहीं; जो समुद्र भी नहीं, पहाड़ भी नहीं,—सबसे विलक्षण, सबके अतीत[1]! कबीरदास संसारको ही अंजन समझते हैं: उत्पत्ति भी, परिवर्तन भी, आवागमन भी, योग भी,—सबकुछ अंजन है, सब कुछ कलुष है। निरञ्जन या निष्कलुष अकेले राम हैं जो सब घटमे समाये हुए हैं[2]। एक अन्य पदमें तो निरंजनसे मन लगानेका उपदेश देकर उन्होंने मानों साफ़ साफ़ घोषणा कर दी है कि निरंजन कोई और

---

१ गोव्यंदे, तूं निरंजन, तूं निरंजन, तूं निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं, रेख नाहीं, मुद्रा नाहीं माया॥
समंद नाही, सिखर नाहीं, धरती नाही गगना।
रवि-ससि दोउ एकै नाहीं, बहत नाहीं पवना॥
नाद नाहीं, व्यंद नाहीं, काल नहीं काया।
जलते जल ब्यंब न होते तब तूंही राम राया॥

इत्यादि, क० ग्र० पद २१९

२ अंजन अलप निरंजन सार। यहै चीन्हि नर करहु विचार।
अंजन उतपति बरतनि लोई। बिना निरंजन मुक्ति न होई।
अंजन आवै अंजन जाइ। निरंजन सब घटि रह्यौ समाइ।
जोग-ध्यांन-तप सबै बिकार। कहै कबीर मेरे राम अधार॥

—क० ग्र० पद ३३७

है, मन कुछ और। फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कबीरके उत्साही चेलोंने 'निरंजन'को जिस सीमा तक घसीटा है उसके आधारपर सम्प्रदायमें 'निरंजन'का अर्थ मन हो जाना बहुत अन्याय नहीं है।

इतनी नीरस चर्चाके बाद हम कबीरदासकी बहुतेरी उलटबाँसियों और अधिकांश योगपरक रूपकोंके समझने योग्य अवस्थामें आ गये हैं। जहाँ शास्त्रीय संकेतोंको ग्रहण किया गया है ( अर्थात् गंगा, यमुना, सरस्वती, त्रिवेणी, बाराणसी, सूर्य, चन्द्र, सोमरस, वारुणी, मदिरा, गोमास, ब्रह्मपथ, भुजंगी, नागिन, बिल, अमृत, श्मशान, बेलि, लता, शून्य, गगन, आदि ) वहाँ तो विशेष सुविधा है। हम आँख मूँदकर असली रहस्यको समझ सकते हैं। इस प्रकार, पूतके (जीवके) पहले बाँझ माताका (मायाका) जन्म, बाँबीका (ब्रह्म-नाडीका ) भुजगको ग्रास कर जाना ( क० ग्रं० पद, १६२ ); किसी विचित्र वेलिका ( उन्मनीका ) लहलहाना और ( विषय-वारिसे ) सींचनेपर कुम्हला जाना और आकाश ( शून्य-चक्र ) में फल देना ( क० ग्रं० पृ० ८६, साखी ५८-२); चन्द्र ( तालुके नीचे ) और सूर्यके ( नाभिके ऊपर ) खंभोंमें बंकनालकी ( कुंडलिनीकी) डोरी बाँधकर झूलती हुई सखियोंकी ( इन्द्रियोंकी ) क्रीड़ासे दुलहिनका ( मनका ) आकर्षित होना; नीचेसे ऊपरको बहती हुई गंगा-यमुना, [ इड़ा पिंगला — मूलकमल ( नाभिकमल ) के घाटपर और संगम त्रिवेणीके पास है ] और उनमें षट्चक्रकी गगरीका भरा जाना ( क० ग्रं० पद १८ ); धागेके ( ध्यानके ) टूटनेसे गगनका ( शून्य-समाधिका ) विनष्ट होना और सबदका गायब हो जाना ( क० ग्रं० पद ३२ ); जहाँ सूर्य और चन्द्रका प्रकाश नहीं जाता वहाँ ( अर्थात् सहस्रार चक्रमें ) आनन्दरूपका दर्शन पाना, ( क० ग्रं० ३१ ); शून्यमें अनाहत तूर्यका बजना (क० ग्रं० पद ७); डाइनका ( मायाका ) कुत्तेपर ( मनपर ) डोरा डालना, पाँच कुटुंबियोंका ( तत्त्वोंका ), शब्दका बजना, रोझ, मृग या शशकका (मनका) पारधीको (जीवको) घेर लेना ( क० ग्रं० पद ९ ) आदि बातें अत्यन्त सरल हो जाती हैं।

---

१ ना हज जाऊँ ना तीरथ-पूजा। एक छिपाण्यां तौ क्या दूजा॥
कहै कबीर भरम सब भागा। एक निरंजनसूँ मन लागा॥
—क० ग्रं० पद ३३८

परन्तु बहुत-सी बातें फिर भी अनुमान-सापेक्ष रह जाती हैं क्योंकि उनका संकेत निश्चित नहीं है और कौन-सा धर्म उनमे आरोपित करना उचित है, यह सपूर्णतया श्रोतापर निर्भर करता है। बहुत बार केवल संख्यावाचक विशेषण ही अर्थावगमका कारण होता है। पॉच कुटुम्ब (क० ग्रं० पद ९) में 'पॉच' शब्दका आना ही सूचित करता है कि या तो ये पॉच इन्द्रिय हैं या पॉच तत्त्व। प्रसंगानुसार यह निश्चित करनेमें विशेष कठिनाई नहीं पड़ती कि वे तत्त्व ही हैं। ऊपर जो योगशास्त्रीय सिद्धान्त बताये गये हैं और और भी आगे चलकर जो भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त कहे जायॅगे उन्हें ध्यानमे रखकर अर्थ करनेवाला कल्पनाशील श्रोता कोई भी सिद्धान्त-सम्मत अर्थ उनमेसे निकाल सकता है। एक पद बीजकसे उद्धृत किया जा रहा है। यह पद 'कबीर-ग्रन्थावली'मे भी थोडे पाठान्तरके साथ है। प्रधान पाठ-भेद यह है कि जहॉ बीजकमें 'सन्तो' संबोधन है, वहॉ 'कबीर-ग्रंथावली'मे 'अवधूत'। कहना नहीं होगा कि इस संबोधन-भेदसे अर्थमें बड़ा अन्तर आ जाता है। हम पहले लक्ष्य कर चुके हैं कि कबीरदास सन्तोंको संबोधन करके अपना मत व्यक्त करते हैं पर अवधूको संबोधन करके उसके मतका खण्डन करते हैं। मुझे 'कबीर-ग्रंथावली'वाला पाठ (क० ग्रं० पृ० १४१-१४२) ठीक जॅचता है। अप्रासंगिक होनेपर भी यहॉ स्मरण करा दिया जा सकता है कि बीजकका पाठ भी ऑख मूँदकर नहीं ग्रहण करना चाहिये। पद इस प्रकार है :

> सन्तो, जागत नींद न कीजै।
> काल न खाय, कल्प नहिं व्यापै, देह जरा नहिं छीजै।
> उलटि गंग समुद्रहिं सोखै ससि औ' सूर गरासै।
> नवग्रह मारि रोगिया बैठे जलमे बिंब प्रकासै।
> बिनु चरणनको दस दिसि धावै, बिनलोचन जग सूझै।
> ससा सो उलटि सिंहको ग्रासै, ई अचरज कोउ बूझै।
> औंधे घड़ा नहीं जल डूबै, सूधेसो घट भरिया।
> जेहि कारण नर भिन्न भिन्न करु गुरुप्रसादतें तरिया।
> पैठि गुफामें सब जग देखै, बाहर कछुक न सूझै।
> उलटा बान पारधिहि लागै, सूरा होय सो बूझै।

गायन कहै, कबहुँ नहिं गावै, अनबोला नित गावै।
नटवर बाजी पेखनी पेखै अनहद हेतु बढावै।
कथनी-बदनी निजुकै जोहैं, ई सब अकथ कहानी।
धरती उलटि आकासहिं बेधै, ई पुरुषहिकी बानी॥
बिना पियाला अमृत अचवै, नदी नीर भरि राखै।
कहै कबीर सो जुग जुग जीवै, राम-सुधारस चाखै॥

—बीजक, शब्द[1] २

---

१ 'कबीर ग्रन्थावली'का पाठ इस प्रकार है—

अवधू, जागत नींद न कीजै।
काल न खाइ कल्प नहीं ब्यापै, देही जुरा न छीजै।
उलटी गंग समुद्रहि सोखै ससिहर सूर गरासै।
नवग्रिह मारि रोगिया बैठे जलमैं ब्यंब प्रकासै।
डाल गह्याँ थैं मूल न सूझै मूल गह्याँ फल पावा।
बवँई उलटि शरपकौं लागी धरणि महारस खावा।
वैठि गुफामैं सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।
उलटै धनकि पारधी मारयौ यहु अचरज कोइ बूझै॥
औंधा घडा न जलमैं डूबै सूधा सू भर भरिया।
जाकौं यहु जग घिणकरि चालै ता प्रसादि निस्तरिया।
अम्बर बरसै धरती भीजै यहु जाणै सब कोई।
धरती बरसै, अम्बर भीजै, बूझै बिरला कोई॥
गाँवणहारा कदे न गावै अणबोल्या नित गावै।
नटवर पेखि पेखता पेखै अनहद बैन बजावै।
कहणी-रहणी निज तन जाणै यहु सब अकथ कहाणी।
धरती उलटि अकासहिं ग्रासै यहु पुरुषाकी बाणी॥
बाझ पियालै अमृत सोख्या नदी-नीर भरि राख्या॥
कहै कबीर ते बिरला जोगी धरणि महारस चाख्या॥

—क० ग्रं० पद १६२

इस पदके सांकेतिक शब्दोंका क्या अभिप्राय है, इस बातको भिन्न भिन्न टीकाकारोंके अर्थपरसे तुलना करना मनोरंजक सिद्ध होगा—

| सांकेतिक शब्द | अभिप्राय | | |
|---|---|---|---|
| | विश्वनाथ० | विचार० | शास्त्रीय परम्परा |
| १ उल्टी गंगा | संसार मुखी रागरूपी गंगाका ब्रह्म-मुखी होना। | ब्रह्माण्डमे चढ़ाई हुई श्वासा। | इड़ा |
| २ समुद्र | संसार | संताप | संसार ( भव ) |
| ३ शशि | एक जीवात्माको मानना। | इड़ा | इड़ा या नाभिके ऊर्ध्वभागका सूर्य |
| ४ सूर्य | नाना निरंजनादि ईश्वरनको मानिबेकौ ज्ञान। | पिंगला | पिंगला या तालुके अधोभागका चन्द्र |
| ५ नवग्रह | वैशेषिकके नौ पदार्थ | नवद्वार | × |
| ६ जल | राग | ब्रह्माण्ड | × |
| ७ बिंब | शुद्ध साहबका अंश | ब्रह्मज्योति | × |
| ८ रोगिया | ग्रह-ग्रस्त संसारी | योगी | संसारी |
| ९ शश | अहंब्रह्म विचार | मन | मन |
| १० सिंह | 'तैं' ( मूढ़ ) | जीवात्मा | जीवात्मा |
| ११ औंधा घड़ा | साहबकी ओर पीठ किया हुआ मनुष्य। | बहिरंग-वृत्ति | जगत-मुख शरीर |
| १२ सूधा घड़ा | साहबकी ओर मुख किया हुआ मनुष्य। | अन्तरंग-वृत्ति | उद्बुद्धकुण्डलीक शरीर |
| १३ गुफा | शरीर | गगन-गुफा | ? |
| १४ उलटा बाण | सुरति ( जो जगत्-मुख, ब्रह्म-मुख ईश्वर-मुख और जीवात्मा-मुख है ) | श्वास | प्राणवायु |

| साकेतिक शब्द | अभिप्राय | | |
|---|---|---|---|
| १५ पारधी | पार्थिव परम पुरुष | (वीर) मन | मन |
| १६ नटवर बाजी | निर्गुण ब्रह्मको देखना नटकी बाजीके समान धोखा है। | (नटवर बाज) =अनाहत नाद | × |
| १७ धरती | जड़ माया | पिण्डाण्ड | मूलाधार |
| १८ आकाश | ब्रह्म | ब्रह्माण्ड | शून्यचक्र |
| १९ प्याला | स्थूल-सूक्ष्मादि पंच शरीर। | अन्यान्य साधन | इन्द्रिय ? |
| २० अमृत | साहबके प्रति प्रेम | निजानंद रूप अमृत | अमरवारुणी |
| २१ नदी | जगत् | आत्माकार वृत्ति | नाड़ी ? |
| २२ नीर | राग | | श्वास ? |
| २३ राम सुधारस | राम-प्रेम | आनंदामृत | सहजामृत |

इनकी तुलना करनेसे स्पष्ट ही जान पड़ेगा कि टीकाकारोंने काफी स्वाधीन कल्पनासे काम लिया है। ऊपरकी दो टीकाओंमेंसे विचारदासजीकी टीका विश्वनाथसिंहजीकी अपेक्षा परम्पराके अधिक नजदीक है। वस्तुतः जिन शब्दोंका संकेतितार्थ शास्त्रीय परम्परासे समर्थित है उनके ही विषयमें निश्चित रूपसे कहा जा सकता है; बाकी जितने भी संकेत-शब्द हैं उनका तद्गत धर्मके अनुसार ऐसा कोई भी अर्थ किया जा सकता है (और किया भी गया है) जो प्रसंगके अनुकूल हो और कबीरदासके सिद्धान्तके विरुद्ध न हो। इसका मतलब यह हुआ कि यदि कबीरदासके सिद्धान्तोंका ज्ञान करना है तो योग-रूपक और उलटबाँसियाँ बहुत कम सहायता कर सकती हैं, क्योंकि वे अपनी व्याख्याके लिये स्वयं सिद्धान्तोंकी अपेक्षा रखती हैं। ऊपरके टीकाकारोंमें श्री विश्वनाथसिंहजू देव साकेत-वासी रामको ही कबीरका प्रतिपाद्य समझते हैं जब कि श्री विचार-दासजी निर्गुण निराकार ब्रह्मको। दोनों ही विचार कबीरके नहीं हो सकते। फिर भी अपने अपने सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये दोनोंने अपने मनोऽनुकूल अर्थ लगा लिये हैं। इसीलिये यह दृढतापूर्वक कहा जा सकता है कि कबीरदासके सिद्धान्तोंकी

जानकारीके लिये उनकी सीधी-सादी वाणियाँ और पद ही सहायक हो सकते हैं। किसी भी योगपरक रूपक और उलटबाँसीका अर्थ करते समय दो बातोंका ध्यान रखना परम आवश्यक है—( १ ) शास्त्रीय परम्परा और ( २ ) कबीरदासका व्यक्तिगत मत। पहले विषयकी चर्चा हमने पिछले अध्यायोंमे कर ली है, जो थोड़ा बाकी है उसकी अगले अध्यायमें कर लेंगे। परन्तु दूसरी बातका कहना जरा कठिन है। शास्त्रीय परम्परा, वंशगत प्रभाव और पारिपार्श्विक अवस्थाओंकी छलनीसे छानकर ही हम कबीरदासके व्यक्तित्वका कुछ अनुमान लगा सकेंगे। अगले अध्यायोंमे उस तरफ हमारा प्रयत्न रहेगा।

योगशास्त्रीय मतोंका यह जो ऊपर ब्यौरा दिया गया है उसकी सहायतासे ही हम कबीरके योगपरक रूपको और उलटबाँसियोका अर्थ समझ सकते हैं। तब प्रश्न हो सकता है कि क्या कबीरदास वही मानते थे जो हठयोगी लोग माना करते थे? ऊपर हमने कई बार कहा है कि कबीरदास योगियोके द्वारा प्रभावित तो बहुत हैं, पर वे स्वयं वही नहीं हैं जो योगी हैं। हम यहाँ फिर एक बार कहते हैं कि कबीरदास यौगिक क्रियाओको भी बाह्य आचार ही मानते थे। वे उन सारी क्रियाओंको सहजावस्थाकी प्राप्तिका कारण नहीं मानते थे। उनके मतसे इन क्रियाओंके द्वारा प्राप्त शून्य-भाव ( या ख-सम भाव ) शराबीके नशेकी भाँति अस्थायी है। योग-द्वारा प्राप्त शम-भाव है तो ठीक पर शाश्वत नहीं है। शाश्वत है सहज समाधि, सहज भजन। अनहदनाद बजता ठीक है पर वही परम सत्य नहीं है, चरम वह है जो उसे बजाता है[1]। जो तोड़ भी सकता है और जोड़ भी सकता है, जो बना भी सकता है और बिगाड़ भी सकता है। वह षड्दर्शनका विषय नहीं है और न छान्नबे पाखण्डोंकी पहुँचके भीतर है और न जप-तप-पूजा-अर्चाका ही विषय है। शास्त्र लिख लिख कर लोगोंने लोगोंको धोखा ही दिया है। कबीरदासका कहना है कि योगी हो या जंगम सब झूठी आशा ले लेकर ही अपनी साधना कर रहे हैं। जो चरम सत्य और परमतत्त्व है वह भक्तिसे

---

१ बाजै जन्त्र नाद-धुनि होई। जो बजावै सो औरै कोई॥
बाजी नाचै कौतिग देखा। जो नचावै सो किनहुँ न पेखा॥
—क० ग्रं० पृ० २३०-३१

ही मिल सकता है[1]। कैसा विपरीत है यह तमाशा! अनहद-नादकी दुराशामें फँसकर ये योगी वहाँ चले गये जहाँ शून्य है,—जहाँ कुछ भी नहीं है!—निरालंब शून्यमें भटकनेवाले इस जीव (योगी) ने किसी ऐसे लाज-बचावनहारेकी परवा तक न की, उसका हाथ भी छोड़ दिया और खुद बेहाथ हो गया! संसार सशयका शिकार है, काल-अहेरी सबको मार रहा है। भलेमानसो, रामका सुमिरन करो। कालने चुटिया पकड़ रखी है, कौन जाने कहाँ और कब दे मारेगा!—

अनहद-अनुभवकी करि आसा।
देखौ यह विपरीति तमासा!
इहै तमासा देखहु (रे) भाई।
जहवाँ सुन्न तहाँ चलि जाई।
सुन्नहिं बाँध सुन्नहिं गयऊ।
हाथा छोड़ि बेहाथा भयऊ॥
संसय सावज सब संसारा।
काल-अहेरी साँझ-सकारा॥
सुमिरन करहू रामका, काल गहे कर केस!
ना जानौं कब मारिहै, का घर का परदेस?

—बीजक० रमैनी १९

* * * *

यह अनहदको बजानेवाला, शरणागत-रक्षक काल-अहेरीका नियामक अपरंपार महिमाशाली राम कौन है?

---

१ भाई रे बिरले दोस्त कबीरके, यहु तत बार बार कासों कहिये॥
भांगण-घडण-संमारण-संम्रथ ज्यूँ राखै त्यूँ रहिये॥
आलम-दुनी सबै फिरि खोजी हरि-बिन सकल अजानां।
छह-दरसन-छयानवे-पाखण्ड आकुल किनहूँ न जाना॥
जप-तप-संजम-पूजा-अरचा जोतिग जग बौराना।
कागद लिखि लिखि जगत भुलानां मन ही मन न समानां
कहैं कबीर जोगी अरु जंगम ए सब झूठी आसा।
गुरु-प्रसाद रटौ चात्रिग ज्यौं निहचै भगति निवासा॥
—क० ग्रं० पद ३४

## ८ ब्रह्म और माया

सभी परम्परायें इस बातका समर्थन करती हैं कि कबीरदासका रामानंदके साथ संबंध था। कबीरदासने स्वयं स्वीकार किया है कि रामानंदने उन्हे चेताया था पर क्या चेताया था और स्वयं क्या चेते हुए थे इस विषयमें नाना मुनियोंके नाना मत हैं। पं० रामचंद्र शुक्लने लिखा है कि " तत्त्वदृष्टिसे रामानुजाचार्यजीके मतावलंबी होनेपर भी अपनी उपासना इन्होने अलग की। इन्होंने उपासनाके लिये वैकुण्ठनिवासी विष्णुका स्वरूप न लेकर लोकमे लीला-विस्तार करनेवाले उनके अवतार रामका आश्रय लिया। इनके इष्टदेव राम हुए और मूल-मंत्र रामनाम। ...कर्मके क्षेत्रमें शास्त्र-मर्यादा इन्हें मान्य थी पर उपासनाके क्षेत्रमे किसी प्रकारका लौकिक प्रतिबंध ये नहीं मानते थे। सब जातिके लोगोंको एकत्र कर राम-भक्तिका उपदेश ये देने लगे और रामनामकी महिमा सुनाने लगे।...इनकी उपासना, दास्य-भावकी थी...( इन्होने ) ब्रह्म-सूत्रपर आनन्द-भाष्य, श्रीमद्-भगवद्गीताभाष्य, वैष्णव-मतातर-भास्कर, श्रीरामार्चना-पद्धति आदि कई ग्रन्थोंकी रचना की जिनमेंसे अब बहुतोंका पता नहीं लगता " ( शुक्ल पृ० १२२-४)। खेद है कि शुक्लजीने यह नहीं लिखा कि ऊपर बताई हुई पुस्तकोंमे जो लापता हैं वह कौन कौन हैं और जो बची हैं वे कौन हैं तथा अपना उक्त मत शुक्लजीने किन पुस्तकोंके आधारपर स्थिर किया है। उन्होने श्रीरामानंददिग्विजय और वैष्णवमतान्तर-भास्करसे दो श्लोक अपनी पुस्तकमें उद्धृत किये हैं और इसीलिये यह अनुमान किया जा सकता है कि इस मतको शुक्लजीने इन्हीं दो पुस्तकोंके आधारपर स्थापित किया होगा। मुझे ये पुस्तके देखनेको नहीं मिलीं और उनके प्रतिपादित मतको उपर्युक्त उद्धरणोंके रूपमें मान लेनेके सिवा कोई चारा नहीं है। पर कुछ पण्डितोंका दावा है कि रामानन्दजी और चाहे जिस दृष्टिसे रामानुजके मतावलम्बी क्यो न रहे हों तत्त्वदृष्टिसे तो वे उनके मतावलम्बी नहीं ही थे। कुछ दूसरे पण्डित ठीक इसके विरुद्ध मतका प्रतिपादन करते हैं, वे तत्त्वदृष्टिसे तो रामानन्दको रामानुजका अनुयायी मानते हैं पर उपासना-पद्धतिमें एकदम अलग। इसमें कोई संदेह नहीं कि सारी परम्पराये रामानन्दका रामानुज-सम्प्रदायसे

सम्बन्ध बताती हैं पर साथ ही कुछ ऐसी दलीलें भी उपस्थित की गई हैं जिनसे इस अनुमानकी पुष्टि होती है कि दोनों आचार्योंका सम्बन्ध दूरका ही था। कहा गया है कि रामानंदके प्रवर्तित सम्प्रदायमें राम और सीताको जिस प्रकार एकमात्र परमाराध्य माना जाता है उस प्रकार रामानुजके प्रवर्तित श्रीवैष्णव-सम्प्रदायमें नहीं। श्रीवैष्णव लोग सभी अवतारोंकी उपासना करते हैं। फिर रामानंदी लोगोंमें जो मंत्र प्रचालित है वह भी रामानुज-संप्रदायके मत्रसे भिन्न है। उनका तिलक भी यद्यपि रामानुजी मतके तिलकसे मिलता-जुलता है फिर भी हू-ब-हू वही नहीं है, थोड़ा भिन्न है। स्वयं रामानंदजी त्रिदण्डी संन्यासी नहीं थे, यह भी सिद्ध किया गया है। फिर और भी एक विचारणीय बात है। रामानंदी संप्रदायका नाम हू-ब-हू वही नहीं है जो रामानुजीय संप्रदायका। इस प्रकार नीचे लिखी तालिकासे स्पष्ट हो जायगा कि दोनों संप्रदायोंमें सभी महत्त्व-पूर्ण बातोंमें भेद है।

| | रामानुजीय | रामानंदीय |
|---|---|---|
| सम्प्रदाय— | श्रीवैष्णव सम्प्रदाय | श्री सम्प्रदाय |
| मन्त्र— | ॐ नमो नारायणाय | ओं रामाय नमः |
| भाष्य— | श्रीभाष्य | आनंदभाष्य |

फिर भी परम्परासे रामानंदका संबंध रामानुजीय सम्प्रदायसे सिद्ध है। इसका समाधान इस प्रकार किया गया है: अनुमान कर लिया गया है कि तामिल देशमें बहुत पुराने जमानेसे कोई राम-सम्प्रदाय चला आ रहा था जो कभी श्री-वैष्णवोंमें अन्तर्भुक्त हो गया था। रामानंद उसी संप्रदायके आचार्य थे। कहा गया कि ऐसा मान लेनेसे सभी बातोंकी सन्तोषजनक मीमांसा हो जाती है[1]। पहले एक संशय खड़ा करके फिर उसका समाधान करनेका प्रयत्न भारतीय साधना और साहित्यके इतिहासमें यह अकेला ही नहीं है।

इधर पं० वैष्णवदासजी त्रिवेदी न्यायरत्न वेदान्ततीर्थने 'कल्याण' में एक लेख लिखा है। उसमें रामानंदाचार्यके आनंदभाष्यके आधारपर बताया गया है कि आचार्यने (रामानंदने) विशिष्टाद्वैत मतको ही ब्रह्म-सूत्र-सम्मत बताया है। अर्थात् तत्त्व-दृष्टिसे वे रामानुजके मतको ही मानते थे। इस प्रकार "रामानंदा

१ फर्कुहर पृ० ३२४—६

चार्यने अनन्यभक्तिको ही मोक्षका अव्यवहितोपाय माना है, प्रपत्तिको मोक्षका हेतु माना है, कर्मको भक्तिका अंग माना है, जगत्का अभिन्न निमित्तोपादानकारण ब्रह्मको माना है। जीवोंका परस्पर भेद और नानात्व माना है। तथैव जीवोंका स्वरूपतः अणुत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और नित्यत्व इत्यादि माना है। जीवोंका ब्रह्मसे भेद माना है। विद्योपकारिका वर्णाश्रम-व्यवस्थाको स्वीकार किया है। विवर्तवादका वारंवार प्रत्याख्यान किया है। 'नारदपंचरात्र'को बहुधा प्रमाण-रूपसे स्वीकार किया है। 'निर्विशेष-ब्रह्म'का अनेक स्थलोंपर निरास करके 'सविशेष-ब्रह्म'का प्रतिपादन किया है। 'सत्ख्यातिवाद'को स्वीकार किया है और वेदोंका अपौरुषेयत्व माना है।"[2] चूंकि इस मतके लिये आनंद-भाष्यके उद्धरण उद्धृत किये गये हैं इस लिये फर्कुहरके अनुमानाश्रित मतकी अपेक्षा यह निश्चय ही अधिक मान्य है।

परन्तु एक दूसरी दलील जो फर्कुहरने पेश की है, काफी वज़नदार है। कहा जाता है कि रामानंद ही पहले पहले 'अध्यात्म-रामायण' और 'अगस्त्यसुतीक्ष्ण-संवाद' अपने साथ ले आये थे और इस बातमें तो कोई संदेह ही नहीं कि उनके सम्प्रदायमे इन ग्रंथोका आज भी बहुत समादर है। प्रसिद्ध राम-भक्त गोसाई तुलसीदासजीके 'रामचरित-मानस'पर अध्यात्म-रामायणका प्रभाव सबको मालूम है। आज भी रामानंदी वैष्णव इन ग्रंथोंको संप्रदायमान्य ग्रंथ मानते हैं, और यह आश्चर्यकी बात है कि ये ग्रंथ विशिष्टाद्वैतकी अपेक्षा शाकर-अद्वैत-मतकी ओर अधिक

---

१ 'परिणामवाद' अर्थात् अव्यक्त प्रकृतिसे उत्तरोत्तर विकार या परिणामद्वारा सृष्टिका विकास अपने आप होता है ऐसा सांख्य-शास्त्रका मत है। 'आरंभवाद,' अर्थात् ईश्वरकी इच्छासे परमाणुद्वारा सृष्टि होती है, ऐसा न्याय-शास्त्रका मत है। इन दोनोंके विरुद्ध अद्वैतवेदान्ती 'विवर्तवाद'को मानते है।—अर्थात् जगत् ब्रह्मका विवर्त या कल्पित रूप है, ऐसा मानते हैं। सीपीको यदि कोई भ्रमवश चाँदी समझ ले तो चाँदीको सीपीका विवर्त कहा जायगा। रामानुजीय मतमें 'परिणामवाद'को माना जाता है। दूधका विकृत रूप दही है, वह अन्य वस्तु तो हो जाता है पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह दूधसे भिन्न ही है। परिणामवाद और विवर्तवादको 'सत्कार्यवाद' या 'सत्ख्यातिवाद' कहते हैं और आरंभवादको 'असत्कार्यवाद'। माध्ववेदान्ती भी नैयायिकोंकी भाँति 'असत्कार्यवादी' हैं।

२ हिन्दुत्व, पृ० ६८४-६८७

झुके हैं (तु० अध्यात्म रामायण १,३२–५१)। म० म० पं० गिरिधर शर्माजीने सप्रमाण सिद्ध किया है कि गोस्वामीजीने रामायणमें अद्वैतमतको ही मान्य समझा है (तुलसी ग्रंथावली, नि० ६३–१३०)। इस प्रकार यह अनुमान असंगत नहीं जँचता कि रामानंदजीके मतमें भक्ति ही सबसे बड़ी चीज़ थी, तत्त्ववाद नहीं। उनके शिष्योंमें और सम्प्रदायमें अद्वैत-वेदान्तका पूर्ण समादर है, यद्यपि वे स्वयं विशिष्टाद्वैत-वादके प्रचारक थे। इसी तरह उनके शिष्योंमें केवल एक बातको छोड़कर अन्य बातोंमें काफी स्वतंत्रताका परिचय पाया जाता है। वह बात है भक्ति—अनन्य भक्ति। उनके कितने ही शिष्य उनकी भाँति वर्णाश्रम-व्यवस्थाको नहीं मानते, जीवोंका ब्रह्मसे भेद नहीं मानते और कितने ही यह तक नहीं मानना चाहते कि "दिव्य गुणोंसे भगवान्‌का सगुणत्व भी सिद्ध होता है और संपूर्ण वेदान्त-शास्त्र सगुण-ब्रह्मका ही प्रतिपादक है ( १,१-२ )।'केवल एक ही बात उनके सर्व शिष्योंमें समान भावसे समादृत है : अनन्यभक्ति ही मोक्षका अव्यवहित उपाय है। प्रपत्ति या शरणागति ही मोक्षका परम साधन है'।

ऐसी हालतमें यह प्रश्न बहुत कुछ गौण हो जाता है कि कबीरने जो कुछ रामानंदसे चेता था वह रामानंदके चेते हुए ज्ञानका कौन-सा रूप है। रामानंदके प्रधान उपदेश अनन्य-भक्तिको कबीरने शिरसा स्वीकार कर लिया था। बाकी तत्त्वज्ञानको उन्होंने अपने संस्कारों, रुचि और शिक्षाके अनुसार एकदम नवीन रूप दे दिया था। अबतक हम उनके संस्कारोंकी ही चर्चा करते आये हैं। यहाँ वेदान्त-शास्त्रके उन सामान्य सिद्धान्तोंकी चर्चा कर लेना आवश्यक है जिनका प्रभाव उनके पदों और साखियोंमें है और, खूब संभव है, जिनका ज्ञान उन्हें रामानंदजीके सत्संगसे प्राप्त हुआ था। यही ज्ञान कबीरदासको अक्खड सिद्धों और योगियोंकी परम्परासे अलग कर देता है। कबीरके विद्यार्थीके लिये इसका बहुत महत्त्व है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि जब हम शंकर, रामानुज और रामानंदके वेदान्त-मतकी चर्चा करते हैं तो हमारा मतलब एक पूरे तत्त्ववाद ( फिलासॉफिकल सिस्टम ) से होता है किन्तु कबीरकी वाणियाँ वह चीज़ नहीं हैं। वेदान्त-मतको पाँच मोटे विभागोंमें बाँट लिया जा सकता है : धर्मविज्ञान ( थियॉलॉजी ), सृष्टि-तत्त्व ( कास्मोलॉजी ), अंतःकरणविज्ञान ( साइकोलॉजी ), मोक्षविज्ञान ( लिबरेशन ) और जन्मान्तर-व्यवस्था। इनमें प्रथम और अन्तिमके विषयमें तो

कबीरदासने स्पष्ट भाषामें अपना मत व्यक्त किया है पर बाकी तीनके विषयमें उनका मत अनुमान-सापेक्ष ही है।

वेदान्तशास्त्रके अनुसार मनुष्यका सबसे बड़ा लक्ष्य या पुरुषार्थ मोक्ष है,—मोक्ष अर्थात् छुटकारा। यह संसार दुःखरूप है और मोक्ष ब्रह्म-स्वरूप ही है। अन्य दर्शनोंकी भाँति वेदान्त इसे प्राप्य नहीं मानता। कहा गया है कि मनुष्य जब जान जायगा कि वह क्या है, और उसके आत्माका बड़े आत्मासे,—अर्थात् परमात्मासे क्या सम्बन्ध है तो वह छूट जायगा। क्योंकि वह जो छूट नहीं रहा है, उसका कारण अज्ञान है या फिर ग़लत ज्ञान है। इसीलिये सही ज्ञान ही छुटकारा है। इस सही ज्ञानको 'विद्या' कहते हैं। इसलिये 'विद्या'का एकमात्र विषय है 'आत्मा' या 'ब्रह्म'का ज्ञान। यही कारण है कि इस विद्याको 'आत्मविद्या', 'आत्मविज्ञान', 'ब्रह्मविद्या और 'ब्रह्मज्ञान' शब्दसे पुकारते हैं।

यह जो ब्रह्मकी जानकारी है वह दो प्रकारकी होती है। एकको ऊँची जानकारी या 'परा विद्या' कहते हैं और दूसरीको घटिया जानकारी या 'अपरा विद्या'। पहले प्रकारकी जानकारी ( परा विद्या ) ही ठीक ठीक समझने ( सम्यग्दर्शन ) में सहायक है, इसका एकमात्र फल मोक्ष है। दूसरी जानकारी ( अपरा विद्या ) का लक्ष्य ब्रह्मोपासना है। इससे कर्म-समृद्धि होती है, सुख और कल्याण ( अभ्युदय ) प्राप्त होते हैं और धीरे धीरे मुक्ति भी मिल सकती है (क्रममुक्ति)। पहली विद्याका विषय परब्रह्म है, दूसरीका अपरंब्रह्म।

श्रुतियोंके परिशीलनसे स्पष्ट ही जान पडता है कि ऋषियोंके मस्तिष्कमें ब्रह्मके दो स्वरूप थे: एक गुण, विशेषण, आकार और उपाधिसे परे,—निर्गुण, निर्विशेष, निराकार और निरुपाधि; और दूसरा इन सब बातोंसे युक्त अर्थात् सगुण, सविशेष साकार और सोपाधि। पहला परंब्रह्म है और दूसरा अपरंब्रह्म। आपात दृष्टिसे ऐसा जान पड़ता है कि यह बात एकदम असंगत है कि एक ही वस्तु एक ही साथ सगुण भी हो और निर्गुण भी, साकार भी हो और निराकार भी, सविशेष भी हो और निर्विशेष भी, सोपाधि भी हो और निरुपाधि भी। इसके उत्तरमें वेदान्ती लोग कहते हैं कि ब्रह्म अपने आपमें तो निर्गुण, निराकार, निर्विशेष और निरुपाधि ही है परन्तु अविद्या या ग़लतफहमीके कारण, या उपासनाके लिये हम उसमें उपाधियों या सीमाओंका आरोप करते हैं। वस्तुतः सोपाधिक ब्रह्म भ्रम-मात्र है, ठीक उसी तरह तो नहीं जिस तरह सीपीको चाँदी समझना समझनेवालेका

भ्रम-मात्र है, असलमें वह आर्थभ्रम है; फिर भी गलतीसे यदि कोई सीपीको चाँदी समझ ले तो भी सीपी सीपी ही रहेगी, चाँदी नहीं हो जायगी। इसी प्रकार निर्गुण और निरुपाधि ब्रह्मको जब हम गलतीसे सगुण और सोपाधि मान लेते हैं तब भी वस्तुतः हमीं भ्रममें होते हैं, ब्रह्म तो निर्गुणका निर्गुण और निरुपाधिका निरुपाधि ही बना रहता है। इसीलिये जो 'परं निर्गुणं' ब्रह्म है उसे श्रुतियाँ बार बार इस प्रकार प्रकट करती हैं "वह मोटा भी नहीं, पतला भी नहीं, छोटा भी नहीं, बड़ा भी नहीं, लोहित भी नहीं, स्नेह भी नहीं, छायायुक्त भी नहीं, अन्धकार भी नहीं, वायु भी नहीं, आकाश भी नहीं..." इत्यादि (वृहदारण्यक ३।८।८); या "यह भी नहीं, वह भी नहीं,—नेति नेति ( वही २-३-६ );" या "वह शब्द-रहित, स्पर्शरहित, रूपरहित व्ययरहित, रसरहित, गन्धरहित है ( कठ० ३-१५)" इत्यादि। किन्तु ये सभी बातें अतद्व्यावृत्ति रूपसे कही गई हैं अर्थात् इस प्रकारके कथनका अर्थ यह है कि 'परंब्रह्म' समस्त ज्ञात वस्तुओं, गुणों और विशेषणोंसे विलक्षण है। इसका अभावरूप अर्थ नहीं है। कबीरदासने इस शैलीका आश्रय करके भगवान्‌के विषयमें अनेक पद गाये हैं[1]।

भावरूपसे कहनेके लिये वेदान्ती लोग दो-तीन शब्दोंका व्यवहार करते हैं। सर्वाधिक प्रचलित शब्द हैं सत् और चित्। इन दो शब्दोंसे वेदान्ती बताना चाहते हैं कि 'ब्रह्म है' ( सत् ) और वह 'चैतन्यस्वरूप' ( चित् ) है। जिस प्रकार नमकके ढेलेमें बाहरसे भीतरतक सर्वत्र नमकीनी ही नमकीनी है उसी प्रकार ब्रह्म भी शुरूसे आखिरतक केवल चैतन्य ही चैतन्य है। इन दो भाव-रूपोंके अतिरिक्त एक और भावरूप भी परवर्ती वेदान्त-ग्रन्थोंमें महत्त्वपूर्ण स्थान अधिकार कर सका है। वह है आनन्द। अर्थात् ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। किसी

---

१ तुल०—रामकै नांइ नीसान बागा। ताका मरम न जानैं कोई।
भूख-त्रिषा-गुण वाकै नाहीं। घट घट अन्तरि सोई॥

वेद-विवर्जित भेद-विवर्जित विवर्जित पाप रु पुन्यं
ग्यांन-विवर्जित ध्यान-विवर्जित विवर्जित आस्थूल सुन्यं।
भेष-विवर्जित भीख-विवर्जित विवर्जित डचँभक रूपं।
कहै कबीर तिहुँ-लोक विवर्जित ऐसा तत्त अनूपं॥

क० ग्रं० पद, २१९

किसी पण्डितने कहा है कि शुरूके ग्रन्थोंमें इस बातको इतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया है। शायद इसलिये कि वह दुःखाभावका ही रुप है क्योंकि श्रुतिमें ही कहा गया है कि व्यावहारिक रूपमें ब्रह्म-भिन्न सब कुछ दुःखरूप है (बृह० ३,४,२), इसका मतलब यह हुआ कि जो कुछ हम देख रहे हैं, ब्रह्म उससे भिन्न है और जो कुछ हम देख रहे हैं वह दुःखरूप है इसलिये ब्रह्म दुःखाभावरूप है[1]।

लेकिन श्रुतिमें ब्रह्मको और भी दो प्रकारसे कहा गया है: (१) "वह सब कुछ करनेवाला है, सब कामनाओंसे भरा-पूरा है, सब रसोंका आश्रय है, सर्व गन्धमय है".. इत्यादि (छान्दोग्य ३–१४); फिर "अग्नि उसका सिर है, सूर्य-चन्द्र ऑखें हैं, दिशाये कान हैं"...(मुण्डक० २-१-४) इत्यादि। इन वाक्योंमें स्पष्ट ही ब्रह्ममें सीमाओंका और गुणोंका आरोप किया गया है। यह इसलिये कि यहॉ लक्ष्य ज्ञान नहीं, उपासना है। ब्रह्मका इस प्रकार सोपाधिक, सविशेषक और सगुण रूप विचार करनेवालेका उद्देश्य ज्ञान नहीं होता, उपासना हुआ करती है। ऐसा करनेसे मोक्ष या निःश्रेयसकी सिद्धि नहीं होती, अभ्युदय या कल्याणकी प्राप्ति होती है। इससे स्वर्ग मिल सकता है, अपवर्ग नहीं। परन्तु जो साधक उत्तम ज्ञानके अधिकारी नहीं हैं वे इस मार्गसे चल कर भी धीरे धीरे मुक्ति पा लेते हैं। (२) कभी कभी ब्रह्मको श्रुतिमें 'छोटेसे छोटा', 'अंगुष्ठ-मात्र पुरुष,' 'हृदय-कमल-वासी' और 'वामन' आदि भी कहा गया है। ऐसे स्थलोंपर अभिप्राय जीवात्मासे होता है।

यह जो गुणमय अपरंब्रह्म है उसीपरसे वेदान्त-शास्त्रका ईश्वरसम्बन्धी विचार विकसित हुआ है। इस गुणमय ईश्वरसे ही संसारका कारबार चलता है। यही जीवको उसके कर्मोंके शुभाशुभ फलका दाता है। मायावादी वेदान्ती कहते हैं कि मायोपाधिक चैतन्य ही परमेश्वर है। इसे और मायाको ठीक ठीक समझनेके लिये थोड़ा और भी अवान्तर प्रसंग उठाना पड़ेगा।

साधारणतः समस्त भारतीय मनीषियोंने इस गुणमय जगत्पर विचार करके यह निष्कर्ष निकाला है कि इसमें दो अत्यंत स्पष्ट तत्त्व हैं: एक शाश्वत है, दूसरा परिवर्तनशील; एक सदा एक-रस है, दूसरा नाशमान्; एक चेतन है, दूसरा जड़। मतभेद तब शुरू होता है जब उनके संबंधोंपर विचार किया जाता है। एक तरहके पंडित हैं जो इन दोनों तत्त्वोंको स्वतंत्र मानते हैं,—इन दोनोंका

१ उपासक० पृ० ४५७

संबंध केवल योग्यताका संबंध है, परंतु दूसरे आचार्य हैं जो मानते हैं कि वस्तुतः इन दोनोंकी सत्ता नहीं है, दूसरा पहलेकी ही शक्ति है। पहलेको आत्मा कहते हैं, साख्यवादी उसे 'पुरुष' कहते हैं और दूसरे तत्त्वको 'प्रकृति' या 'माया' कहते हैं। गीतामें भगवानने प्रकृतिको अपने ही अधीन बताया है और कहा है कि मेरे द्वारा नियोजित होकर ही प्रकृति इस सचराचर सृष्टिको प्रसव करती है (गीता—९, १०)। वेद-बाह्य बौद्धादि संप्रदायके लोग यह मानते हैं कि यह चेतन सत्ता साधनाके द्वारा जब प्रकृतिके बंधनोंसे मुक्त होती है तो उसी प्रकार लुप्त हो जाती है जिस प्रकार दीपककी लौ; परतु इस बातमे वे भी विश्वास करते हैं कि शरीर और इंद्रियादिकी अपेक्षा वह वस्तु अधिक स्थायी है। वह सैकड़ों जन्म ग्रहण करनेके बाद सैकड़ों शरीरों और इंद्रियोंसे युक्त हो लेनेके बाद 'निर्वाण'की अवस्थाको अर्थात् बुझ जानेकी अवस्थाको प्राप्त होती है।

साख्यशास्त्रियोंके मतसे पुरुष अनेक हैं और प्रकृति उन्हें अपने मायाजालमे बाँधती है। पुरुष विशुद्ध चेतन-स्वरूप, उदासीन और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस स्वरूपका ज्ञान नहीं हो जाता, तभी तक वह प्रकृतिके जालमें फँसा रहता है। यह दृश्यमान जगत् वस्तुतः प्रकृतिका ही विकास है। प्रकृति सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम है। सारे दृश्यमान जगत्को साख्यवादी प्रधानतः चार भागोंमें बाँटते हैं: (१) प्रकृति, (२) प्रकृति-विकृति, (३) विकृति, (४) न-प्रकृति-न-विकृति। चौथा 'पुरुष' है जो न प्रकृति ही है और न उसका विकार ही (साख्य-कारिका—३)। बाकी तीनमें 'प्रकृति' तो अनादि ही है। प्रकृतिसे 'महान्' या 'बुद्धि तत्त्व' उत्पन्न होता है, उससे 'अहंकार' और उससे पाँच 'तन्मात्र' (अर्थात् शब्द-तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, रूप-तन्मात्र, रस-तन्मात्र, गंध-तन्मात्र) उत्पन्न हुए हैं। एक तरफ तो 'महान्' या 'बुद्धितत्त्व' मूल प्रकृतिका विकार है और दूसरी तरफ अहंकारकी प्रकृति भी है। इसी प्रकार अहकार और पंचतन्मात्र भी एक तरफ तो क्रमशः महान् और अहंकारके विकार हैं और दूसरी तरफ क्रमशः पंचतन्मात्र और पंच महाभूतादिकोंकी प्रकृति भी हैं। यही कारण है कि सांख्यशास्त्री इन्हें प्रकृति-विकृति कहते हैं। इस तरह महान्, अहंकार और पचतन्मात्र ये सात तत्त्व प्रकृति-विकृति हुए। इनसे पाँच ज्ञानेंद्रियाँ (कान, त्वचा, आँख, रसना, नाक) और पाँच कर्मेंद्रियाँ (हाथ, पाँव, जीभ, पायु, उपस्थ) हैं। इन दस इंद्रियों, मन और पाँच महाभूतो (अर्थात्

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ) को विकृति कहते हैं। इन्हीं पच्चीस तत्त्वोंसे सारी सृष्टि बनी है। किंतु वेदाती लोग प्रकृति और उसके विकार-स्वरूप २२ पदार्थोंकी स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते। उनका मत है कि वस्तुतः एक परब्रह्म ही वास्तविक सत्ता है। हम अज्ञानवश इस नाम-रूपात्मक जगत्को वास्तविक समझने लगते हैं।

जो हो, इस विषयमें भारतीय दार्शनिकोंमे प्रायः कोई मतभेद नहीं कि आत्मा नामक एक स्थायी वस्तु है जो बाहरी दृश्यमान जगत्के विविध परिवर्तनोंके भीतरसे गुजरता हुआ सदा एक-रस रहता है। ये सभी पंडित स्वीकार करते हैं कि जब तक ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक यह आत्मा जन्म-कर्मके बंधनसे मुक्त नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह है कि यदि यह पुरुष या आत्मा उदासीन है, या दुःख-सुखसे परे है, और चित्स्वरूप है तो जन्म और कर्मके बंधनमें पड़ता कैसे है और मृत्युके बाद एक जन्मका कर्मफल दूसरे जन्ममें ढोकर ले क्यों कर जाता है? जो निर्गुण है, उसे आधार बनाकर पाप और पुण्यके फल कैसे दूसरे जन्ममें पहुँच जाते हैं? क्योंकि यह तो सभी मानते हैं कि कर्मफल जड़ हैं, अतः उनमें इच्छा नहीं होती, इसलिए यह तो साफ प्रकट हैं कि वे इच्छापूर्वक आत्माका पीछा नहीं कर सकते, फिर यह कैसे संभव है कि इस जन्मका कर्मफल दूसरे जन्ममे मिलता ही हो? सीधा जवाब यह है कि ईश्वर इस व्यवस्थाको इस ढंगसे चला रहा है, परन्तु यह उत्तर युक्तिवादी दार्शनिकोंको पसन्द नहीं है। वे उसका और कोई कारण बताते हैं। देखा जाय, यह बात कैसे संभव होती है?

इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए शास्त्रकारोंने लिंग-शरीरकी बात बताई है। यह तो निश्चित है कि आत्मा एक शरीरसे दूसरेमें संक्रमित होता है। गीतामें भगवान्ने कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रको छोड़कर नया धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीरको परित्यागकर नवीन शरीर धारण करता है (गीता २-२२)। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषदमे बताया गया है कि जोक जिस प्रकार एक तृणसे दूसरेपर जाते समय पहले अपने शरीरका अगला हिस्सा रखती है और फिर बाकी हिस्सेको खींच लेती है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीरको छोड़कर नये शरीरमें प्रवेश करता है (बृहदारण्यकोपनिषद् ४, ४३)। इससे केवल इतना ही जाना जा सकता है कि आत्मा स्वयं ही दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है; पर उदाहरणसे सिद्धात निकालना

ठीक नहीं, क्योंकि उदाहरण केवल क्रियाके एक अंशके लिए ही प्रयुक्त होता है। उपनिषदोंमें बार बार कहा गया है कि आत्माके साथ सूक्ष्म या लिंग-शरीर भी जाता है। बृहदारण्यकमें बताया गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन, प्राण, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस्, अतेजस्, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म इत्यादि सब कुछ लेकर निर्गत होता है। यह जैसा करता है, वैसा ही फल पाता है ( बृहदारण्यक ४,४,५ )। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्माके साथ ही साथ बुद्धि, मन, प्राण और समस्त धर्माधर्म तथा तन्मात्रगण बँधे होते हैं। साख्यकारिकामें ( साख्य-कारिका ४० ) करीब करीब इन सभी बातोंको एक शब्दमें ' लिंग-शरीर ' कहा गया है। बताया गया है कि प्रकृतिके विकारस्वरूप तेईस तत्त्वोंमें अंतिम पाँच तो अत्यंत स्थूल हैं, बाकी अठारहों तत्त्व मृत्युके समय पुरुषके साथ ही साथ निकल जाते हैं। जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किये बिना मरता है, तब तक ये तत्त्व उसके साथ साथ लगे होते हैं। अब, यह तो स्पष्ट ही है कि इन अठारह तत्त्वोंमेंसे प्रथम तेरह अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन और दसों इंद्रिय तो प्रकृतिके गुण-मात्र हैं, उनकी स्थितिके लिए किसी ठोस आधारकी जरूरत है। वे बिना आधार रह ही नहीं सकते। वस्तुतः पच तन्मात्रोंको मृत्युके समय आत्माका अनुसरण करते जो बताया गया है, वह इसीलिए कि ये तन्मात्र उक्त तेरह तत्त्वोंको वहन करनेकी सामर्थ्य रखते हैं,—ये अपेक्षाकृत ठोस हैं। जब तक मनुष्य जीता होता है, तब तक तो उसका स्थूल शरीर इन गुणोंका आश्रय होता है, पर जब वह मर जाता है तब पंच तन्मात्र ही इन गुणोंके वाहक होते हैं ( साख्यकारिका ४१ )। उपनिषदोंमें इसी बातको और ढंगसे कहा गया है। इनके अनुसार प्रकृति या माया कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है, केवल ब्रह्म या आत्माका ही नामरूपात्मक स्वरूप है। बदलनेवाली वस्तु नाम और रूप है और स्थिर शाश्वत वस्तु आत्मा है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हार, अँगूठी, कंकण आदिमें बदलनेवाली वस्तु नाम और रूप है, पर स्थिर वस्तु सोना है। नाम-रूपका आवरण सर्वत्र एक-सा ही नहीं है। कहीं वह गाढ़ा है, कहीं पतला। इसके भी नाना स्तर हैं। जड है, चेतन है; फिर चेतनकी भी लाखों योनियाँ हैं। इन सब योनियोंमें मनुष्य-योनि श्रेष्ठ है। आत्माके दो आवरण हैं। पहला आवरण तो शुक्र-शोणित-निर्मित शरीर है। इसीको उपनिषदोंमें अन्नमय-कोष कहा गया है। दूसरा आवरण अधिक सूक्ष्म

है। उसमे क्रमशः प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय और आनंदमय कोष हैं (तैत्तिरीय उपनिषद् २,१,५; ३,२,६)। इसका अर्थ यह है कि स्थूल शरीरकी अपेक्षा प्राण सूक्ष्म हैं, उनकी अपेक्षा मन, उसकी अपेक्षा बुद्धि और इन सबकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म आत्मा है। भगवान्ने गीतामे कहा है कि इन्द्रिय-गण पर (सूक्ष्म) हैं, पर इनसे भी सूक्ष्म मन है और उससे भी सूक्ष्म बुद्धि है और इस बुद्धिसे भी सूक्ष्म जो कुछ है, वही वह (आत्मा) है (गीता ३,४२)। स्थूल अन्नमय कोषको छोड़कर बाकी जो सब कोष हैं, उन्हें, इन्द्रियों और पंच तन्मात्रोको वेदान्ती लोग सूक्ष्म या लिंग-शरीर कहा करते हैं[1]। जब मृत्युके बाद स्थूल देहसे आत्माका विच्छेद हो जाता है, तब भी लिंग-शरीरसे उसका छुटकारा नहीं होता। गीतामे कहा गया है कि आत्मा उसी प्रकार प्रकृतिस्थ मन और पॉच ज्ञानेंद्रियोको खींचकर अपने साथ ले जाता है, जिस प्रकार वायु पुष्पादि आश्रयसे गंधको (गीता १५, ७-८)। इस प्रकार शास्त्रकारोका सिद्धान्त है कि मृत्युके बाद आत्माके साथ ही साथ एक लिग-शरीर जाता है, जो समस्त कर्मफलात्मक संस्कारोको साथ ले जाता है। इस लिंग-शरीरमें जिन अट्ठारह तत्त्वोंका समावेश है, उनमे बुद्धि-तत्त्व ही प्रधान है। वेदाती लोग जिसे 'कर्म' कहते हैं, उसीको साख्यवादी बुद्धिका 'व्यापार', 'धर्म' या 'विकार' कहते हैं। इसीको साख्यकारिकामें 'भाव' कहा गया है। जिस प्रकार फूलमें गंध और कपडेमें रंग लगा रहता है, उसी प्रकार यह 'भाव' लिंग शरीरमें लगा रहता है (साख्य-कारिका ४०)।

यह कह सकना कठिन है कि यह जगत् कब उत्पन्न हुआ था अर्थात् इस

१ वेदान्तमें कई प्रकारसे यह बात बताई गई है। कहीं इसके ये सत्रह अवयव बताए गए हैं : पाँच ज्ञानेन्द्रियॉ, पॉच कर्मेंद्रियॉ, बुद्धि, मन और पॉच प्राण (वेदान्त-सार, १३)। फिर आठ पुरियोंका उल्लेख है। यह पुर्यष्टक ही लिंग-शरीर बताया गया है। आठ पुरियाँ ये हैं : १ पॉच ज्ञानेन्द्रिय, २ पॉच कर्मेन्द्रिय, ३ मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, ४ पॉच प्राण, ५ पाँच भूत-सूक्ष्म या तन्मात्र, ६ अविद्या, ७ काम, ८ कर्म (सुरेश्वराचार्यका पचीकरण वार्तिक ३१–३७)। इसका और अन्य विधानोंका सामंजस्य रामतीर्थलिखित वेदान्तसार (१३) की विद्वन्मनोरंजनी टीकामें देखना चाहिए।

नाम-रूपात्मक जड़-जगत्की स्थिति कबसे है। यह अनादि है, इसलिए यह कर्म-प्रवाह भी अनादि है। बृहदारण्यक उपनिषद्‌मे नाम और रूपके साथ कर्मकी भी गणना है ( बृहदारण्यक १,६-१ )। वेदांती लोग यद्यपि इसे साख्यवादियोंकी भाँति स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानते, तथापि कर्म-प्रवाहको तो अनादि मानते ही हैं। आत्माको जब अपनी और प्रकृति या मायाकी वास्तविक सत्ताका ज्ञान हो जाता है, तभी वह कर्म-बंधसे मुक्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि ज्ञानकी अग्नि समस्त कर्मोंको भस्मसात् कर देती है और ज्ञानसे बढकर कोई वस्तु पवित्र नहीं है ( गीता ४-३७-३८ )। उपनिषदोंमें ब्रह्मको सत्य-स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप और आनंदस्वरूप कहा गया है ( तैत्तिरीय २,१; बृहदारण्यक ३-६-२२ )। ऐसा माननेके कारण समूचा हिंदू-साहित्य ज्ञानको एक विशेष दृष्टिकोणसे देखता है। वह यह नहीं मानता कि ज्ञानकी प्राप्तिमे मनुष्य नित्य अग्रसर होता जा रहा है, उसकी दृष्टिमें चरम ज्ञान अपने आपमें ही है। यद्यपि ज्ञान अनंत है, पर उसका अपना वास्तविक रूप भी वैसा ही है। इसलिए चरम और अनंत ज्ञानको पाना असंभव तो है ही नहीं, उसके साध्यके भीतर ही है। हिंदू साहित्यमें इसी लिए नित्य नवीन ज्ञानके अनुसंधानके प्रति एक प्रकारकी उदासीनताका भाव है। वह उस विद्याको विद्या ही नहीं मानता जो मुक्तिका कारण न हो[1], जो मनुष्यको कर्म-बंधनसे छुटकारा न दिला दे। इस बातने भी सारे हिंदू साहित्यको प्रभावित किया है।

शास्त्रकारोंने कर्मको समझनेके लिए कई प्रकारके भेद किए हैं। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि कायिक, वाचिक और मानसिक : ये तीन प्रकारके कर्म हैं और उनकी गति भी उत्तम, मध्यम और अधम भेदसे तीन प्रकारकी होती है। ( मनु १२-३ )। शातातपने सैकड़ो प्रकारके पापों, उनके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले रोगोंका उल्लेख किया है और उनके प्रायश्चित्तका भी विधान किया है। पुराणोंमें कर्मविपाकके विषयमें बहुत कुछ कहा गया है। गरुड़-पुराणमें विस्तृत रूपसे अनेक कर्म और तज्जन्य प्राप्य फलोंका उल्लेख है। शास्त्रोंमें साधारणतः तीन प्रकारके कर्म बताए गए हैं : संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। मनुष्यने जो कुछ कर्म किया है, उसे 'संचित कर्म' कहते हैं। जिस पुराने कर्मके फलको वह भोग रहा

---

१ सा विद्या या विमुक्तये।

है, उसे 'प्रारब्ध कर्म' कहते हैं। जो कुछ वह नये सिरेसे करने जा रहा है, उसे 'क्रियमाण कर्म' कहते हैं। ज्ञान होनेपर सञ्चित कर्म तो नष्ट हो जाते हैं, पर प्रारब्ध कर्मको भोगना ही पड़ता है। ज्ञानकी अग्निसे संचित कर्म जलकर दग्ध-बीजकी तरह निष्फल हो जाते हैं और ज्ञानी प्रारब्ध कर्मोंके संस्कारवश उसी प्रकार शरीर धारण किए रहता है, जैसे कुम्हारका चलाया हुआ चक्र दड उठा लेनेपर भी वेगवश कुछ देर चलता रहता है ( साख्य-कारिका—६७ )। इन बातोंमें स्वर्ग और नरकके विचार भी सम्मिलित हैं। कर्मबधके दार्शनिक रूपके साथ स्वर्ग-नरकके पौराणिक विचारोंका सामंजस्य भी किया गया है। साधारणतः पुण्य कर्मसे आत्माका कुछ दिनतक स्वर्गमें रहना और फिर पुण्य क्षीण होनेपर मर्त्य लोकमे आ जाना ( गीता—९,२०-२१ ) और इसी तरह पाप-भोगके लिए कुछ दिन नरकमें जाना और भोग लेनेके बाद फिर मर्त्यलोकमें आ जानेकी बात भी कही गई है। सांख्यकारिकामें बताया गया है ( सा० का०—४१ ) कि धर्म ( पुण्य ) के द्वारा ऊर्ध्वगमन, अधर्म ( पाप ) के द्वारा अधोगमन होता है। ज्ञानसे मोक्ष और अज्ञानसे बंधन होता है। महाभारतमें एक और विचित्र बात यह बताई गई है ( स्वर्गारोहण पर्व—३,१४ ) कि जो आदमी अधिक पुण्यशाली होता है, वह पहले अपने स्वल्प पापोंको भोगनेके लिए नरकमें जाता है और जो आदमी अधिक पापी होता है, वह उसी प्रकार अपने स्वल्प पुण्योंको भोगनेके लिए पहले स्वर्गमें जाता है और फिर नरकमे। कुछ विद्वानोंका विचार है कि स्वर्ग-नरक-विचार और मोक्ष-विचार ये दोनों दो जातिके भारतीय मनीषियोंकी चिन्ताके परिचायक हैं। पहले विचार वैदिक ऋषियोंके हैं और दूसरे वेद-बाह्य आर्येतर मुनियोंके। उपनिषद्कालमें ये दोनों विचार मिलना शुरू हुए और काव्य-कालमे पूर्ण रूपसे मिलकर एक जटिल परलोक-व्यवस्थामें परिणत हो गये।

यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही माया है। पर जो माया चैतन्यस्वरूप ब्रह्मको ईश्वर रूपमें प्रकट करती है वह सत्त्व-गुण-प्रधाना है अर्थात् उसमें रजोगुण और तमोगुणका प्रायः अभाव है। कुछ वेदान्ती आचार्य प्रकृतिको दो प्रकारकी मानते हैं: विशुद्ध सत्त्वप्रधान और अविशुद्ध सत्त्वप्रधान। पहलीको 'माया' कहते हैं, दूसरीको 'अविद्या'। पहली ईश्वरकी उपाधि है दूसरी जीवकी (पंचदशी १,१५-१६ ); इसीलिये कहा जा सकता है कि माया ही सारे संसारको चला रही है,

क्योंकि मायोपाधिक चैतन्य ही तो ईश्वर है। इसी भावको लक्ष्य करके कबीरदासने कहा था कि यह रघुनाथकी माया ही है जो शिकार खेलने निकली है और साम्प्रदायिक जालोंमें फँसाकर मुनि, पीर, जैन, जोगी, जंगम, ब्राह्मण और संन्यासीको मार रही है'। स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि कबीरदासका यहाँ 'रघुनाथ'से तात्पर्य वेदान्तियोंके परब्रह्मसे है। परन्तु कबीरदासके पदोंसे जान पड़ता है कि उन्होंने 'माया'को 'अविद्या'से अलग करके नहीं देखा। वेदान्तग्रन्थोंमें माया और अविद्याकी एकात्मताके पोषक वाक्य बहुतसे मिल सकते हैं। सो, माया ही कबीरदासके मतसे जीवोंको भरमा रही है। वही उन्हें भी भुलवाने पहुँची थी। कबीरने होशियारीसे जवाब दिया था कि 'माया बहन, तू यहाँसे चली जा, कबीर फँसनेवाला जीव नहीं है। तुझे तो पाट-पटंबर चाहिये और बेचारा कबीर कमीनी जातिका जुलाहा है।' माया सहज ही छोड़नेकी नहीं। उसने जवाब दिया, 'भई, मैं तो अपना काम करती ही जाऊँगी। अपने साहबको मुझे लेखा तो देना ही पड़ेगा।' कबीर बोले, 'माया रानी, पत्थर नहीं भीज सकता। कबीर नहीं डिगेगा। जिस मच्छेकी तू मच्छी है वह मेरा रखवाला है। जरा भी तेरी ओर नज़र डालूँ तो वह नाराज़ हो जाय। तू और जगह जा।'[2]

और भी आगे बढ़कर कबीर-पंथमें एक और अध्याय जोड़ा गया था। निरंजन-विषयक विचार हम देख चुके हैं। माया इसी निरंजनकी शक्ति है। ब्रह्माण्डमें जो माया है, पिण्डमें वही कुण्डलिनी है। कुण्डलिनीका ही नाम माया

---

१ तू रघुनाथकी खेलणा चली अहेडै।
चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे कोइ न छोड्या नेडै।
मुनिवर पीर-दिगम्बर मारे जतन करंता जोगी।
जगल-महिके जंगम मारे तूँ र फिरै बलवन्ती।
वेद पढंता बाम्हण मारा सेवा करंता स्वामी।
अरथ करंता मिस्र पछाड्या तूँर फिरै मैमंती॥
सापिनकै तूँ हरता-करता हरिभगतनकी चेरी।
दास कबीर रामकै सरनै ज्यूँ लागी त्यूँ तोरी॥
—क० ग्रं० पद, १८७

२ क० ग्रं० पद २७०

है, आद्याशक्ति है, नागिन है, ठगिनिया है और और भी कई नाम हैं। इसी नागिनका फुफकार प्रणव है। इसी तरह ब्रह्माण्डमें जो वस्तु निरंजन है वही पिण्डमे मन है। इसीको 'नाग' कहते हैं। इसी 'नाग' और 'नागिन'ने मिलकर यह सारा प्रपंच खड़ा किया है। इसी नागिनकी ज़हरीली फुफकार जो प्रणव है उसकी उपासनामे दुनिया भटक रही है। इन्हे जो मार सकता है वही विजयी होता है ( कबीर-मन्सूर पृ० ६२५ )।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह कबीर-पंथका नया अध्याय है, क्योंकि, कबीरदासके पदोंमें ओंकार या प्रणवकी महिमा खूब गाई गई है। ज्ञानचौंतीसाके आरम्भमे ही जो यह बताया गया[1] है कि ॐकारका जप तो सभी करते हैं पर उसका मर्म विरला ही कोई जानता है, उसका-सीधा सादा अर्थ यही है कि लोग बिना समझे-बूझे, ऊपरी मनसे या दिखावेके लिये इसका जाप करते हैं। पर इस पदके साम्प्रदायिक व्याख्याकार 'मर्म' शब्दका दूसरा ही अर्थ कर लेते हैं। 'मर्म'का वास्तविक अर्थ महिमा नहीं बल्कि वास्तविक 'ज़हरीलापन' है!! टीकाकार क्या नहीं कर सकते?

कबीरदासने मायाके संबंधमे जो कुछ कहा है वह वस्तुतः वेदान्तद्वारा निर्धारित अर्थमे ही। खूब संभव है कि कबीरदासने भक्ति-सिद्धान्तके साथ ही माया-संबंधी उपदेश भी रामानंदाचार्यसे ही पाया था, इसीलिये वे बराबर भक्तको माया-जालसे अतीत समझते हैं। यहाँ इतना और कह रखा जाय कि कबीरदासके 'निर्गुण ब्रह्म'में 'गुण'का अर्थ सत्त्व रज आदि गुण हैं, इसलिये 'निर्गुण ब्रह्म'का अर्थ वे निराकार निस्सीम आदि समझते हैं, निर्विषय नहीं।

ऊपरकी चर्चापरसे यदि किसी नतीजे तक पहुँचा जा सकता है तो वह यही है कि ( १ ) आचार्य रामानंदने अपने शिष्योंको किसी वेदान्तिक वादका बंधन नहीं लगाया था। वे स्वयं यद्यपि विशिष्टाद्वैतवादी थे पर अद्वैतवादी भक्तिग्रंथोंको बड़े सम्मानकी दृष्टिसे देखते थे। उनके लिये भक्ति ही बड़ी चीज़ थी, फिर चाहे वह निर्गुणकी हो या सगुणकी, द्वैत-भावसे हो या अद्वैत-भावसे। ( २ ) उनकी

---

१ वो ॐ कार आदि जो जानै। लिखिकै मेटै ताहि सो मानै ॥
वो ॐ कार कहैं सब कोई। जिन्हि वह लखा सो विरलै होई ॥
—बीजक-ज्ञानचौंतीसा १.

उपदिष्ट भक्ति भिन्न भिन्न रुचि, विद्या और संस्कारवाले शिष्योंमें नाना रूपमें प्रकट हुई। और ( ३ ) कबीरदासके पदोंसे, जैसा कि हम आगे देखेंगे, एकेश्वरवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अद्वैतवाद, द्वैताद्वैतविलक्षणवाद आदि कई परस्परविरोधी मतोंके समर्थन हो सकते हैं, पर इस विरोधका कारण कबीरदासके विचारोंकी अस्थिरता नहीं है बल्कि यह है कि वे भगवान्को अनुभवैकगम्य और निखिलातीत तथा समस्त ऐश्वर्यों और विभूतियोंका आगार समझते थे। इसीलिये लौकिक दृष्टिसे जो बातें परस्पर-विरोधी दीखती हैं अलौकिक भगवत्स्वरूपमें वे सब घट जाती हैं। यह बात भक्तिकी दुनियामें नई नहीं है। भक्त लोग एक ही साथ भगवान्के लिये कई परस्पर-विरोधी विशेषणोंका व्यवहार करते हैं। लघु-भागवतामृत ( पृ० २१७ ) में बताया गया है कि प्राकृत विशेषणोंसे भगवान्के अचिन्त्य रूपका बोध दुष्कर है। यही कारण है कि उनमें ऐसे अनेक विशेषणोंका प्रयोग किया जाता है जो लौकिक दृष्टिसे परस्परविरोधी जँचते हैं। इस अन्तिम बातकी विवेचना करनेका अवसर हम आगेके अध्यायमें भी पायेंगे।

---

# ९—निर्गुण राम

कई बार कबीरदासके आलोचकोने आश्चर्य प्रकट किया है कि उन्होंने निर्गुण रामकी उपासना कैसे बताई। वेदान्त-ग्रंथोंमे ब्रह्मज्ञानके कई प्रकारके अधिकारी बताये गये हैं। उत्तम अधिकारी ब्रह्मके चैतन्यमय स्वरूपकी उपलब्धि करके जीते ही जीते मुक्त हो जाता है, अर्थात् ज्ञान प्राप्त होनेके बाद यद्यपि उसका शरीर कुछ दिनों तक आहार-निद्रा-आदि विकारोका वशवर्ती रहता है पर वस्तुतः उसका आत्मा छुटकारा पा गया होता है। जिस प्रकार कुम्हारका चका डडेके घूर्णन-वेगके हटा लेनेपर भी पुराने वेगके कारण कुछ और देर तक घूमता है उसी प्रकार जीवन्मुक्तका शरीर कुछ और काल तक चलता रहता है, पर असलमें उसका आत्मा मुक्त हो गया होता है। "जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्था-रूप जो माया है वही त्रैलोक्यका कारण है। जो कुछ दिख रहा है वह सभी इस मायाके ही कारण। किन्तु, परंब्रह्मके दर्शनके बाद मायाकी मरीचिका जाती रहती है और जगत् असत्य भासने लगता है। सकल-वस्तु-स्वरूप वह परंब्रह्म नाम, रूप और क्रियासे रहित है। किन्तु जो इस जगत्की मायाके बलसे सृष्टि करता है वह ईश्वर है। यही ईश्वर सब कुछमें प्रविष्ट हो रहा है।" (आत्मज्ञान ४—५) उत्तम अधिकारी इस तत्त्वको शम-दम-नियम-संयमादिके अभ्यासके द्वारा आयत्त कर लेता है (पंच० ९-२०) परन्तु बुद्धिकी अत्यन्त मंदताके कारण या साधनोंके अभाववश जो व्यक्ति उत्तम अधिकारी नहीं हो सकता वह क्या करे? क्या वह सगुणकी ही उपासना करे और 'परं निर्गुण ब्रह्म' की आशा छोड़ दे? पंचदशीमें विद्यारण्यस्वामीने उत्तरमे कहा है कि नहीं; वह निर्गुणतत्त्वकी उपासना करे। यदि कहो कि जो वाणी और मनके गोचर है ही नहीं उसकी उपासना कैसे हो सकती है, तो उल्टे तुम्हींसे प्रश्न किया जा सकता है कि जो वस्तु वाणी और मनके परे है, अर्थात् जिस तक न तो वाणी पहुँच पाती है और न मन, उसका अनुभव भी तो संभव नहीं है, उसका जान लेना भी तो संभव नहीं दिखता। फिर यदि यह संभव है तो उपासना क्यों

संभव नहीं है[1] ? विद्यारण्यस्वामीके कथनमें ही कबीरके आलोचकोंका उत्तर पाया जा सकता है, क्योंकि उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट भाषामें कहा है कि निर्गुण ब्रह्मतत्त्वकी उपासना असंभव नहीं है ( ९, ५५ ) ।

कुछ साम्प्रदायिक पंडितोंकी ओरसे इस प्रकारके 'रहस्योद्घाटन' का दावा किया गया है कि 'सन्त मतके प्रवर्तक आदि गुरु कबीरसाहब...के विचार हैं कि जो मन्दाधिकारी सत्त्वशुद्धिके अभावसे आत्म-विचार नहीं कर सकता वह निर्गुण ब्रह्मोपासना भी नहीं कर सकता, क्योंकि, महावाक्यजन्य परोक्ष-ज्ञानसे होनेवाली ब्रह्मोपासना मनकी कल्पना है । इस कारण उससे हृदयके विकार अहंकारादिककी निवृत्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत महा अहंकारकी उत्पत्ति होती है जो कि वासना-वाले मन्दाधिकारियोंको हानि पहुँचा सकती है । जो हृदय वासना-पंकिल है उसमें ब्रह्मदेवकी प्रतिष्ठा किस प्रकार हो सकती है ? अतः विकारोंको दूर करनेके लिये भी विषयानित्यता और परिणाम-विरसता ( अर्थात् विषय अनित्य हैं और परिणाममें विरस हैं ) इत्यादिक विचार ही उपयुक्त हैं ।...कामनादिक विकारवाले पुरुष पूर्वोक्त विचारके बिना ब्रह्मोपासनासे आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सकते अतः विकार-निवृत्तिके लिये विचार करनेकी अनुमति सद्गुरुने इस प्रकार दी है—

करु विचार जिहि सब दुख जाई । परिहरि झूठा केर सगाई ॥

और

भव अति गरुआ दुख-करि भारी । करु जिय जतन जो देखु विचारी ॥

तथा

खरा-खोट जिन्ह नहिं परखाया । चहत लाभ तिन्ह मूल गँवाया ॥

इत्यादि ।

---

१. अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात् ।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥
निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसंभवः ।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसंभवात् ॥
अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा ।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च संभवेत् ॥
वागाद्यगोचराकारमित्येवं यदि वेत्त्यसौ ।
वागाद्यगोचराकारमित्युपासीत नो कुतः ॥ —पंच० ९,५४—५७

वस्तुतः यम-नियमादि अनुष्ठानपूर्वक किये जानेवाले संसारानित्यादि विचारसे सत्त्वशुद्धि हो जानेपर ब्रह्मोपासनाकी आवश्यकता नहीं रहती।

इस प्रसंगमें विद्यारण्य स्वामीके इस मतपर शका प्रकट की गई है कि

> यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते।
> तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत्। —पंच० ९-७८

इस देशमें विद्यारण्य स्वामीके भक्तों और समर्थकोंकी कमी नहीं है। वे विद्वान् और समर्थ भी हैं। निश्चय ही वे इस शंकाका जवाब दे लेंगे। हमें यहाँ उस उलझनमे पडनेकी कोई ज़रूरत नहीं है। पर कबीरदासके नामपर प्रचलित पदो और साखियोंका सीधासादा अर्थ करनेपर हम इस नतीजेपर पहुँचते हैं कि निस्सदेह कबीरदासने आत्म-विचारको बहुमान दिया है पर जो लोग उसके अधिकारी नहीं हैं उनके लिये 'निर्गुण राम' के जपनेका उपदेश भी दिया है। निर्गुण रामके जपका अर्थ वही है जो महावाक्योंके चिन्तनका अर्थ है। नाम-जपका महावाक्य-चिन्तनसे इतना अन्तर ज़रूर है कि नाम जप करनेवाला जहाँ विचारसे बिल्कुल शून्य रह सकता है वहाँ महावाक्योंका मनन करनेवाला किसी न किसी कोटिके विचारमें लगा ही रहेगा। महावाक्योंके स्मरणसे अपनेमें ब्रह्मत्वाभिमान होनेका मतलब ही यह है कि अपनेको ब्रह्म समझते रहनेका अभ्यास करना। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि कबीरदास 'भाई' संबोधनके द्वारा साधारण सासारिक जीवोको संबोधन करते हैं और उसे अपना व्यक्तिगत उपदेश देते हैं—हे भाई, निर्गुण रामका जप करो। अविगतिकी गति लखना सहज नहीं है ( तुलनीय०—अवाङ्मानसगम्यस्य वेदनं न च संभवेत्—पंच०

१ विचार० पृ० २१–२३

२ उपनिषदोंमें 'मैं ही ब्रह्म हूँ' ( बृह० ४-१० ), 'वह तू ही है' ( छान्दोग्य ६-८-७ ) आदि महावाक्योंसे ब्रह्मके साथ जीवकी अभिन्नता बताई गई है। यह अभिन्नता जाननेकी चीज़ है। ज्ञानसे ही वह प्राप्त होती है। पर जो व्यक्ति इस ज्ञानको प्राप्त नहीं कर सका है उसके लिये यह विधान किया गया है कि वह तब तक इन महावाक्योंका मनन करता हुआ अपनेको ब्रह्मसे अभिन्न समझनेका प्रयत्न करता रहे जब तक कि उसे अपनेमें ब्रह्मत्वका अभिमान ( =मानना ) न हो जाय। उक्त उद्धरणमें इसी विचारका विरोध किया गया है।

९–५६ )। वेद और पुराण, स्मृति और व्याकरण, शेष, गरुड़ और कमला भी जिसे नहीं जान सके ( उसे जाननेकी चेष्टा करना साहसका कार्य है ! ) सो, कबीरदासकी सलाह है कि हरिकी छाया पकड़ो—उन्हींकी शरणमें जाओ[1]। अरे ओ पगले, भूला भूला क्यों फिर रहा है ? कामनाओंका त्याग कर, हरिका नाम जप, वही अभय-पदका दाता है,—कबीरा कोरीकी यह बात गाँठ बाँध ले[2] ! इस रामके साथ विषयोंका कुछ अग्नि-तृणका-सा संबंध है। यह कहना कि पहले वासनायें हट जायँ तभी राम आयेंगे, नहीं तो "वासना-पंकिल हृदयमें ब्रह्मदेवकी प्रतिष्ठा" संभव नहीं है, विषयोंको रामसे जबर्दस्त समझनेके समान है। कमसे कम कबीरदास वासनाको रामकी अपेक्षा ज़बर्दस्त माननेको तैयार नहीं थे। एक बार उनके राम,—उनके निर्गुण ब्रह्म जिसके हृदयमें आ जाते हैं वह अनायास ही मति बुद्धि पा जाता है। लालच और विषय-रसमें आपादमस्तक डूबे हुए व्यक्तियोंसे वे ललकारते हुए कहते हैं कि भाई, तरे वही जिन्होंने राम-रसका आस्वादन किया। बकवादी तो डूब मरे क्योंकि उन्होंने रामको कभी याद ही नहीं किया[3]। ऐ मेरे मन, तू अविनाशी हरिका ही भजन कर। उन्हें छोड़कर और कहीं न जा। अगर तू विषयरूप दीपके पास फिर रहा है तो निश्चय मान कि तू पतिंगा होकर जल जायगा। जिस प्रकार भ्रमरीके ध्यानमें मगन कीट खुद भी

---

१ निर्गुण राम जपहु रे भाई, अविगतिकी गति लखी न जाई।
चारि वेद जाके सुमृत पुरांनां। नौ व्याकरनां मरम न जांनां।
सेस-नाग जाके गरुड समांनां। चरन-कँवल कँवला नहिं जाना॥
कहै कबीर जाकै भेदै नाहीं। निज जन बैठे हरिकी छांहीं।
—क० ग्रं० पद ४९

२ परिहरि काम राम कहि बौरे सुनि सिख बन्धू मोरी।
हरिकौ नांव अभैपददाता कहै कबीरा कोरी॥
— क० ग्रं० पद ३४६

३ रसनां रांम गुन रमि रस पीजै। गुन अतीत निरमोलिक लीजै॥
निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई। जा सुमिरत सुधि-बुधि-मति पाई॥
विष तजि राम न जपसि अभागे। का बूड़े लालचके लागे॥
ते सब तिरे रांमरसस्वादी। कहै कबीर बूड़े बकवादी॥
—क० ग्रं० पद ३७५

भ्रमरी बन जाता है उसी प्रकार तू राम-नाममें ऐसी लौ लगा कि स्वयं राम-मय हो जा (तुल०—पञ्चदशी ९।७८)। देख भाई, यह संसार बड़ा गुरु गंभीर है, इस संसार-सागरमें चारों ओर विकारकी लहरें तरंगायित हो रही हैं, तुझे आर-पार कुछ भी नहीं सूझता। अरे ओ मेरे मनसाराम, इच्छाके इस अपार भवसागरके लिये एकमात्र नैया राम हैं। बाबा, उसीकी शरण जा, फिर देख यह महान् संसार-समुद्र बछड़ेके खुरके समान छोटा हो जाता है कि नहीं![1]

रामके इस परम प्रसाद और अनुग्रहकी याद दिलानेवाले पदमें क्या यही कहा गया है कि वासना-पंकिल हृदयवाला मंदाधिकारी,—जिसे विशाल भवसमुद्रमें आर पार कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा, जो चारों ओर तरंगायित विषय-वीचिको देख कर हतबुद्धि हो रहा है, निर्गुण उपासनाका पात्र नहीं है? बल्कि उलटे इस पदमें क्या यह नहीं बताया गया कि अज्ञानपूर्वक ध्यान करनेसे भी आदमी परम पद पा लेता है? आखिर कीट-भ्रमरीका प्रसिद्ध उदाहरण इसी बातको बतानेके लिये ही तो प्रयुक्त होता है। फिर यह क्या आश्चर्यका विषय नहीं है कि इस पदको उपासनाके प्रत्याख्यानमें प्रमाणस्वरूप पेश किया गया है! कबीरदासने राम-नामकी अपरपार महिमा-वर्णनके प्रसंगमें द्विधारहित भाषामें कहा है कि गणिका और अजामिल जैसे अज्ञानी पापी भी पार हो गये।[2]

परन्तु यह राम या हरि कौन है? परंब्रह्म, अपरं ब्रह्म, ईश्वर या और कुछ?

---

१ अब कहु राम-नाम अविनासी। हरि तजि जियरा कतहुं न जासी॥
उहा जाहु तहां होहु पतंगा। अब जनि जरहु समुझि विष संगा।
राम-नाम लौ लाय सुलीन्हा। भ्रिंगी कीट समुझि मन दीन्हा॥
भव अति गरुवा दुख-कारि भारी। करि जिय जतन जु देखु विचारी।
मनकी बात है लहरि बिकारा। तुहि नहिं सूझै वार न पारा॥
साखी—इच्छाके भव-सागरै, बोहित राम अधार।
कहैं कबीर हरि-सरन गहु, गोबछ-खुर-बिस्तार॥
—बीजक, रमैनी २०

२ अजामेल-गाज-गनिका पतित करम कीन्हां।
तेऊ उतरि पार गये रांम-नांम लीन्हां॥
—कं० ग्रं० पद ३२०.

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि हरि, गोविंद, राम, केशव, माधव आदि पौराणिक नामोंको कबीरदास क्वचित् कदाचित् ही सगुण अवतारके अर्थमें व्यवहार करते हैं। एकदम नहीं करते, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर जब वे अपने परम उपास्यको इन नामोंसे पुकारते हैं तो सगुण अवतारोंसे उनका मतलब नहीं होता। उनका 'अल्लाह' अलख-निरंजन देव है जो सेवासे परे है; उनका 'विष्णु' वह है जो संसाररूपमें विस्तृत है; उनका 'कृष्ण' वह है जिसने संसारका निर्माण किया है; उनका 'गोविन्द' वह है जिसने ब्रह्माण्डको धारण किया है; उनका 'राम' वह है जो सनातन तत्त्व है; उनका 'खुदा' वह है जो दस दरवाजोंको खोल देता है, 'रब' वह है जो चौरासी लाख योनियोंका परवरदिगार है, 'करीम' वह है जो इतना सब कर रहा है; 'गोरख' वह है जो ज्ञानसे गम्य है; 'महादेव' वह है जो मनकी जानता है; 'सिद्ध' वह है जो इस चराचर दृश्यमान जगत्का साधक है; 'नाथ' वह है जो त्रिभुवनका एकमात्र यति या योगी है;—जगत्के जितने साधक हैं, सिद्ध हैं, पैगंबर हैं, वे इस एककी ही पूजा करते हैं। अनन्त हैं इसके नाम, अपरंपार है उसका स्वरूप। वही कबीरदासका भगवान् है (क० ग्रं० पद ३२७)। यह राम निरंजन है, उसका रूप नहीं, रेखा नहीं, वह समुद्र भी नहीं, पर्वत भी नहीं, धरती भी नहीं, आकाश भी नहीं, सूर्य भी नहीं, चन्द्र भी नहीं, पानी भी नहीं, पवन भी नहीं,...समस्त दृश्यमान् पदार्थोंसे विलक्षण, सबसे न्यारा (क० ग्रं० पद २१९)। वह समस्त वेदोंसे अतीत, भेदोंसे अतीत, पाप और पुण्यसे परे, ज्ञान और ध्यानका अविषय, स्थूल और सूक्ष्मसे विवर्जित, भेख और भीखके अगम्य, डिंभ और रूपसे अतीत—अनुपम त्रैलोक्य-विलक्षण परम तत्त्व है (क० ग्रं० पद २२०)।

जैसा कि शुरूमें ही कहा गया है, कबीरदास उत्तम अधिकारीके लिये इस 'अवाङ्मानस-गोचर' परब्रह्मकी उपासनाको बहुत महत्त्व नहीं देते। परन्तु वे इस बातमें खूब सावधान हैं। वे बार बार याद दिला देते हैं कि यह जो उपासना बताई जा रही है वह सगुण अवतारकी नहीं है वरन् 'निर्गुण राम' की है। इस प्रसंगमें कुछ वृद्ध पंडितोंके विचारोंकी जानकारी आवश्यक है। उनके विचारोंका सारांश यह है कि "निर्गुण और सगुणके विषयमें जो विचारपरम्परा पुराण-वादियों और वेदान्तवादियोंकी देखी जाती है पद पद पर वे (कबीरदास) उसीका अनुसरण करते दृष्टिगत होते हैं। कोई पुराण ऐसा नहीं है जिसमें

परमात्माका वर्णन इसी रूपमें न किया गया हो। पुराणोंका सगुणवाद जैसा प्रबल है वैसा ही निर्गुणवाद भी। वे भी वेदान्तके भावोंसे प्रभावित हैं और वैष्णव पुराणोंमें उनका बड़ा ही हृदयग्राही विवेचन है। परन्तु, वे जानते हैं कि निर्गुणवादके तत्त्वोंको समझाना कतिपय तत्त्वज्ञोंका ही काम है, इसलिये, उनमें सगुणवादका ही विस्तार है, क्योंकि वह बोध-सुलभ है। बिना उपासना किये उपासक सिद्धि नहीं पाता। उपासना-सोपानपर चढ़कर ही साधक उस प्रभुके सामीप्य लाभका अधिकारी बनता है जो ज्ञान-गिरा-गोतीत है। उपासनाके लिये उपास्यकी प्रयोजनीयता अविदित नहीं। यदि उपास्य अचिन्तनीय अव्यक्त है अथवा ज्ञानका विषय नहीं तो उसमें भावोंका आरोप नहीं हो सकता। ऐसी अवस्थामें भक्ति किसकी होगी? प्रेम किससे किया जायगा? और किनके गुणोंका मनन-चिन्तन करके मनुष्य अपनी आत्माको उन्नत बना सकेगा? इन्हीं बातोंपर दृष्टि रखकर परमात्माके सगुण-रूपकी कल्पना है। जो यह समझता है कि बिना सगुणोपासना किये हम परमात्माके निर्गुण-स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर लेंगे वह उसी जिज्ञासुके समान है जो विश्व-नियन्ताका तो परिचय प्राप्त करना चाहता है, किन्तु, यही नहीं जानता कि विश्व क्या है। पुराण सगुण-पथका पथिक बनाकर निर्गुणकी प्राप्ति कराते हैं किन्तु बड़ी बुद्धिमत्ता और विवेकके साथ। यही कारण है कि मुखसे निर्गुणवादका गीत गानेवाले भी अन्तमें पुराण-शैलीकी परिधिके अन्तर्गत हो जाते हैं। चाहे कबीर साहब हों अथवा पन्द्रहवीं सदीके दूसरे निर्गुणवादी, उन सबके मार्गप्रदर्शक गुप्त या प्रकट रूपसे पुराण ही हैं।[1]"

विचारणीय यह है: कबीरदासके उन पदोंका जिनमें उन्होंने बारंबार "दशरथ-सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नामकर मरम है आना।"—जैसी बातें कहकर पुराणप्रतिपादित सगुण ब्रह्मका प्रत्याख्यान करना चाहा है क्या ऐसा अर्थ भी लगाया जा सकता है कि मुँहसे विरोध करते रहनेपर भी कबीरदास असलमें पुराण-विरोधी नहीं थे? तुलसीदासजीने ऐसा नहीं समझा था। रामचरित-मानसमें 'दशरथ-सुत' वाली उक्ति उद्धृत करके ही उन्होंने उसका सीधी भाषामें प्रत्याख्यान किया है। उनके मतसे इस प्रकार कथन करनेवाले वेद और पुराणप्रतिपादित सद्धर्मके जाननेवाले नहीं थे। बालकाण्डमें पार्वतीने शिवसे पूछा—

१ हि० भा० सा० वि० पृ० १९९–२००

राम सो अवधनृपति-सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई ?
जो नृप-तनय तो ब्रह्म किमि, नारिविरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि ॥ १०८

इसके उत्तरमें गोस्वामी तुलसीदासजीने शिवजीके मुखसे जो उत्तर दिलवाया है वह ध्यानसे सुननेलायक है :

एक बात नहिं मोहि सुहानी। जदपि मोहबस कहेहु भवानी ॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना ॥
कहहिं-सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह-पिसाच।
पाषंडी हरिपद-बिमुख, जानहिं झूठ न साँच ॥ ११४ ॥
अग्य अकोविद अंध अभागी। काई-विषय मुकुर-मन लागी।
लंपट कपटी कुटिल बिसेखी। सपनेहु संत-सभा नहिं देखी ॥
कहहिं ते वेद-असम्मत बानी। जिन्हके सूझ लाभु नहिं हानी ॥
मुकुर मलिन अरु नयनविहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना ॥
जिन्हके अगुन न सगुन-बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका ॥
हरिमाया बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं ॥
बातुल भूत-बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे।
जिन्ह कृत महामोह-मद पाना। तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना ॥
अस निज हृदय बिचारि, तजि संसय भजु रामपद।
सुनु गिरिराजकुमारि, भ्रमतम-रविकर बचन मम ॥ ११५ ॥

* * *

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहं मोह-निसा लवलेसा।
सहज-प्रकास-रूप भगवाना। नहिं तहं पुनि बिग्यान बिहाना ॥
हरख-बिषाद ग्यान-अग्याना। जीव-धर्म अहमिति-अभिमाना ॥
राम ब्रह्म-व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना ॥
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास-निधि, प्रगट परापरनाथ।
रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ ॥

* * *

एहि बिधि जग हरि-आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जौं सपनें सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई ॥

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ॥
आदि-अंत कोउ जासु न पावा। मति-अनुमानि-निगम अस गावा ॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥
आननरहित सकल-रस-भोगी। बिनु बानी बकता बड जोगी।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा ॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥
जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
**सोइ दसरथ-सुत** भगतहित, कोसलपति भगवान ॥ ११८ ॥

इस उद्धरणके मोटे टाइपके शब्दोपर ध्यान देकर देखा जाय तो कोई सन्देह नहीं रह जाता कि तुलसीदासके मनमें 'दसरथसुत तिहुँ-लोक-बखाना, राम-नाम-कर मरम है आना' वाली कबीर-पंथियोंकी उक्ति ही थी। बार बार 'दसरथ-सुत', 'नृपसुत' 'नृप तनय', 'कोउ आना', आदि पद अचानक नहीं आ गये हैं, जान बूझकर और सोच समझकर ले आये गये हैं। इससे यह तो निश्चित है कि तुलसीदासजी इस मतको श्रुति सम्मत या पुराणमार्गी नहीं मानते थे। इतना ही नहीं वे इसे अज्ञानजन्य पाखण्ड ही समझते रहे। यह दूसरी बात है कि उनका समझना ठीक था या नहीं, प्रकृत प्रसग यह है कि गोस्वामीजीने द्विधाहीन और संकोचहीन भाषामें इस प्रकारके विचारको वेद-पुराण-बाह्य माना है।

इस प्रकार कबीरदासके मतको वेद-पुराण-सम्मत न तो गोस्वामीजी-जैसे विरोधियोंने माना है और न उनके पक्के अनुयायी शिष्योंने। एकके मतसे यह प्रबल पाखण्ड था और दूसरेके मतसे स्वय वेद पुराण ही पाखण्ड थे। इन उभय कोटियोंमें और चाहे जो भी असमानता हो, इस बातमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि वेद-पुराणमे वही नहीं है जो कबीरदासने कहा है। फिर जो लोग कबीरदासको एकदम उपनिषद्का सोलह आना अनुयायी समझते हैं और घोषणा करते हैं कि "यद्यपि कबीरदासने मुक्तिका साक्षात् साधन निर्विशेष आत्म तत्त्वज्ञानको ही माना है तथापि परंपरा-मुक्तिके साधक सात्त्विक पूजा तथा अवतारोपासना, योग-जप-तप-संयम-तीर्थ-व्रतदानादिकोंकी व्यर्थता उन्होंने कहीं नहीं लिखी, किन्तु धर्मध्वजी पाखंडियोंके द्वारा की हुई उनकी दुरुपयोगिताका ही खण्डन किया है," वे लोग क्या कहना चाहते हैं, वे ही जानें।

कबीरदासने तो जोरदार भाषामें और साफ साफ बाह्य आचार-मात्रका प्रत्याख्यान किया है, फिर चाहे वह परम्परासे समर्थित हो या व्यक्ति-विशेषके उर्वर मस्तिष्कसे उद्भावित।

कबीरदासके राम पुराण-प्रतिपादित अवतार नहीं थे, यह निश्चित है। वे न तो दशरथके घर उतरे थे और न लंकाके राजाके नाश करनेवाले हुए; न तो देवकीकी कोंखसे पैदा हुए थे और न यशोदाने उन्हें गोद खेलाया था; न तो वे ग्वालोंके संग घूमा करते थे और न उन्होंने गोवर्धन पर्वतको धारण ही किया था; न तो उन्होंने वामन होकर बलिको छला था और न वेदोद्धारके लिये वराहरूप धारण करके धरतीको अपने दाँतोंपर उठाया ही था; न वे गण्डकके शालिग्राम हैं न वराह, मत्स्य, कच्छप आदि वेशधारी विष्णुके अवतार; न तो वे नरनारायणके रूपमें बदरिकाश्रममें ध्यान लगाने बैठे थे और न परशुराम होकर क्षत्रियोंका ध्वस करने गये थे, और न तो उन्होंने द्वारिकामें शरीर छोड़ा था और न वे जगन्नाथ धाममें बुद्धरूपमे ही अवतरित हुए। कबीरदासने बहुत विचार करके कहा है कि ये सब ऊपरी व्यवहार हैं। जो संसारमे व्याप्त हो रहा है वह राम इनकी अपेक्षा कहीं अधिक अगम अपार हैं[1]। उसको दूर खोजनेकी ज़रूरत नहीं, वह सारे शरीरमें भरपूर हो रहा है; लोहू झूठ है, चाम झूठ है, सत्य है वह राम जो इस

---

१ ता साहिबके लागौं साथा। दुखसुख मेटि जो रह्यौ अनाथा।
नां दसरथघरि औतरि आवा। नां लंकाका रांव सतावा।
देवै कूख न औतरि आवा। नां जसवै लै गोद खेलावा।
ना वो ग्वालनके संग फिरिया। गोबरधन ले ना कर धरिया।
बांवन होय नहीं बलि छलिया। धरनी वेद लेन ऊधरिया।
गंडक सालिगरांम न कोला। मच्छ-कच्छ है जलहिं न डोला।
बद्री वैठा ध्यान नहिं लावा। परसराम है खत्री न सतावा।
द्वारमती सरीर ना छाड़ा। जगननाथ ले प्यंड न गाड़ा।
कहै कबीर विचार करि, ये ऊले व्यवहार।
याहीथें जे अगम है, सो वरति रह्या संसार।

—क० ग्रं०, पृ० २४२-३

सारे शरीरमें रम रहा है[1]।

यह कहना कि "कबीरदास कभी तो अद्वैतवादकी ओर झुकते दिखाई देते हैं और कभी एकेश्वरवादकी ओर, कभी वे पौराणिक सगुण भावसे भगवान्को पुकारते हैं और कभी निर्गुण भावसे, असलमें उनका कोई स्थिर तात्त्विक सिद्धान्त नहीं था," केवल अश्रद्धाप्रसूत है। ऐसी बातें वही लोग कहते हैं जो शुरूमें ही मान बैठते हैं कि कबीरदास एक अशिक्षित जुलाहे थे और उल्टी-सीधी अटपटी बानियोंसे साधारण जनतापर 'प्रभाव जमाना चाहते थे!' ऐसे कथनोंका उत्तर देना बेकार है। बिना श्रद्धा-भक्ति लिये जिस किसी भक्तके कथनोंको क्यों न पढा जाय इस प्रकारके निष्कर्ष निकाल लिये जा सकते हैं। वस्तुतः कबीरदासका एकेश्वरवाद उस प्रकारका था ही नहीं जैसा मुसलमानी धर्ममें स्वीकृत बताया जाता है। इस मतके अनुसार ईश्वर समस्त जगह और जीवोंसे भिन्न और परम समर्थ है। कबीरदासने स्पष्ट शब्दोंमें लोगोंको सावधान किया है कि वह ब्रह्म व्यापक है, सबमें एकभावसे व्याप्त है; पंडित हो या योगी, राजा हो या प्रजा, वैद्य हो या रोगी, वह सबमें आप रम रहा है और उसमें सब रम रहे हैं। यह जो नाना भाँतिका प्रपंच दिखाई दे रहा है, अनेक घट और अनेक भाण्ड दिख रहे हैं, सब कुछ उसीका रूप है[2]। सारा खलक ही खालिक है और खालिक ही खलक है[3]। मैं

---

१ कहै कबीर विचारि करि जिनि कोई खोजै दूरि।
ध्यांन धरौ मन सुद्ध करि रांम रह्या भरपूरि॥
कहै कबीर विचार करि, झूठा लोही चांम।
जो या देही रहित है, सो है रमिता राम॥—क० ग्रं० पृ० २४३

२ जबथैं आतम तत्त विचारा।
तब निरवैर भया सबहिनथैं काम क्रोध गहि डारा॥
व्यापक ब्रह्म सबनिमैं एकै को पंडित को जोगी।
राणा-राव कवनसूं कहिये कवन वैद को रोगी।
इनमैं आप आप सबहिनमैं आप आपसूं खेलै।
नाना भाँति घड़े सब भाँड़े रूप धरे धरि मेलै।
सोचि-विचारि सबै जग देखा, निरगुण कोइ न बतावै।
कहै कबीर गुणी अरु पंडित मिलि लीला जस गावै।—क० ग्रं० पद, १८६

२ लोका जांनि न भूलौ भाई।
खालिक खलक खलकमैं खालिक, सब घट रह्यौ समाई॥ इत्यादि।—वही पद, ५

और तू, तू और मैं, सब एक ही हैं, वह आप ही आप सब घटोंमें रम रहा है (पद २०३)।

वस्तुतः जब कबीरदास निर्गुण भगवान्का स्मरण करते हैं तो उनका उद्देश्य यह होता है कि भगवान्के गुणमय शरीरकी जो कल्पना की गई है वह रूप उन्हें मान्य नहीं है। परन्तु 'निर्गुण'से वे केवल एक निषेधात्मक भाव ग्रहण करते हों सो बात भी नहीं है। वस्तुतः वे भगवान्को सत्त्व, रज और तमोगुणोंसे अतीत मानते हैं और इसी गुणातीत रूपको निर्गुण शब्दसे प्रकट करते हैं। "हे सन्तो, मैं धोखेकी बात किससे कहूँ। गुणहीमे निर्गुण है और निर्गुणमें गुण : इस सीधे रास्तेको छोड़कर कहाँ बहता फिरा जाय? लोक उसे अजर कहते हैं, अमर कहते हैं पर असल बात कोई कहता ही नहीं। वस्तुतः वह अलख है, अगम्य है। निषेधात्मक विशेषण केवल धोखे हैं। यह तो ठीक है कि उसका कोई स्वरूप नहीं है, कोई वर्ण नहीं है पर यह और भी अधिक ठीक है कि वह सब घटमें समाया हुआ है (और इसीलिये सभी रूप उसके रूप हैं और सभी वर्ण उसके वर्ण हैं; फिर उसे अरूप या अवर्ण कैसे कहे?) पिण्ड और ब्रह्माण्डकी बातें कही जाती हैं पर चाहे पिण्ड हो और चाहे ब्रह्माण्ड, सभी देश और कालमें सीमित हैं पर उसका न तो आदि है और न अन्त। फिर उसे पिण्ड और ब्रह्माण्डमें व्याप्त कह ही दिया गया तो क्या उसका ठीक ठीक परिचय मिल गया? सही बात यह है कि वह पिण्डसे भी परे है, ब्रह्माण्डसे भी परे है। कबीरदास कहते हैं कि उनका हरि इन सबसे परे है। वह अगुण और सगुण दोनोंके ऊपर है, अजर और अमर दोनोंसे अतीत है, अरूप और अवर्ण दोनोंके परे है, पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनोंके अगम्य है[1]।" यही कबीरदासका निर्गुण राम है।

इतना ही नहीं वह भाव और अभाव दोनोंसे परे है अर्थात् न तो यही कहा

---

१ संतो, धोखा कासूं कहिये।
गुनमें निरगुन, निरगुनमें गुन, बाट छांड़ि क्यूं बहिये।
अजरा-अमर कथै सब कोई अलख न कथणां जाई।
नाति-स्वरूप-वरण नहिं जाके घटि घटि रह्यौ समाई।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रह्माण्ड छांडि जे कथिये कहै कबीर हरि सोई॥—क० ग्रं० पद, १८०

जा सकता है कि वह भाव-रूप है और न यही कहा जा सकता है कि वह अभाव-रूप है, वह 'भावाभावविनिर्मुक्तः' है।[1] फिर उसे किसी पक्ष-विशेषके द्वारा भी नहीं समझाया जा सकता। न तो वह द्वैत पक्षका विषय है, न अद्वैत पक्षका प्रतिपाद्य। असलमें सयाना साधु वही है जो निष्पक्ष भावसे उसको भजता है। जैसे तिनकेसे तिनका बँधा होता है वैसे ही सब लोग एक दूसरेसे बँधे हुए हैं। जिसे आत्म-दृष्टि प्राप्त है वही ठीक ठीक देख पाता है। वह जानना एकमेक होकर जानना है, एकमेक अर्थात् प्रेम प्रीतिसे भरे मनको परम प्रीतिके एक-मात्र आश्रय भगवान्‌में लीन कर देना। इसे ठीक ठीक कह कर नहीं समझाया जा सकता। यह पूर्णकी पूर्ण दृष्टिसे पूर्णको ही देखना है।[2] वह अद्वैतवादीकी भाँति चिदात्मक ब्रह्म-सत्तामे चैतन्यका विलय नहीं है बल्कि जैसा कि स्वयं कबीरने ही कहा है सहज-भावसे एकमेक हो कर रामसे मिल रहना है। सहज भी ऐसा वैसा 'सहज' नहीं,—परम प्रेमाश्रय भगवान्‌से सहज ही मिल रहना सहज है[3]।

---

१ कह्यां न उपजैं उपजा नहिं जाग भाव अभाव विहूना।
उदै अस्त जहां मति बुधि नाहीं सहजि रांम ल्यौ लीनां॥

—क० ग्र० पद, १७९

२ पषा पषीके पेषणैं सब जगत भुलानां।
निरपष होइ हरि भजै सो साध सयांनां।
ज्यूं षरसूं षर बाधिया यूं बंधे सब लोई।
जाकै आतम द्रिष्टि है साचा जन है सोई।
एक एक जिनि जाणिया तिनहीं सच पाया।
प्रेम-प्रीति ल्यौ लींन मनते बहुरि न आया।
पूरेकी पूरी द्रिष्टि पूरा करि देखै।
कहै कबीर कछु समुझि न परई, या कछु बात अलेखै।—वही, पद १८१

३ सहजैं सहजैं सब गये सुत-वित-कामिणि-कांम।
एकमेक है मिलि रह्या दासि कबीरा राम॥
सहज सहज सब कोई कहै सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ॥

—वही पृ० ४२ साखी ४०८

फिर उसे न तो भीतर कहा जा सकता है न बाहर। बाहर कहो तो सद्गुरु लज्जित होंगे क्योंकि सद्गुरु-रूपमें वह भीतर ही बैठा है,—वह स्वयं सद्गुरु है और समस्त जगत्को जो हम देख रहे हैं और पहचान रहे हैं वह इसीलिये कि वह भीतर बैठा हुआ दिखा रहा है और पहचनवा रहा है। इस सद्गुरुको हम बाहर कैसे कहें? फिर अगर भीतर कहे तो सारा संसार,—समूची बाह्य रूपमें दृश्यमान सृष्टि झूठी हो जाती है। असलमें वह बाहरसे भीतर तक ऐसा व्याप्त हो रहा है कि कहकर समझाया नहीं जा सकता। न तो वह दृष्टिका विषय है (बाह्य) और न मुष्टिका (आन्तर)। वह अलख है, अगम है, अगोचर है। उसे पुस्तकमें लिखकर प्रकट नहीं किया जा सकता। उसे वही भली भाँति जानते हैं जो पहचानते हैं। जो नहीं जानते वे कहनेपर विश्वास ही नहीं करेंगे[1]।

कुछ लोग उपासना तक तो मान लेते हैं पर प्रार्थनाकी बात उनकी समझमें नहीं आती। स्व० कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने इस प्रसंगमें जो कुछ लिखा है वह विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। यह कहना ही बेकार है कि वे ब्रह्मको निराकार और गुणातीत मानते थे परन्तु किसी किसी वैदान्तिक आचार्यकी भाँति उसे निष्क्रिय नहीं मानते थे। अपने एक प्रवचनके सिलसिलेमें उन्होंने कहा था (जिसका प्रामाणिक विवरण बादमें 'शान्तिनिकेतन' नामक प्रबंध-संग्रहमें छपा था) कि "कुछ लोग कहते हैं कि उपासनामें प्रार्थनाका कोई स्थान नहीं है,—उपासना केवल-मात्र ध्यान है,—ईश्वरके स्वरूपको मन ही मन उपलब्ध करना है। यह बात मैं स्वीकार कर लेता यदि जगत्में मैं अपनी इच्छाका कोई प्रकाश न देख पाता। हम लोहेसे प्रार्थना नहीं करते, पत्थरसे प्रार्थना नहीं करते,—उसीके निकट अपनी प्रार्थना प्रकट करते हैं जिसमें इच्छा-वृत्ति हो। ईश्वर यदि केवल सत्य-स्वरूप होते, केवल अव्यर्थ नियमोंके रूपमें ही उनका प्रकाश होता तो उनके

---

१ ऐसा लो तत ऐसा लो, मैं केहि विधि कहौं गमीरा लो।
बाहर कहौं तो सतगुरु लाजै भीतर कहौं तो झूठा लो॥
बाहर-भीतर सकल निरन्तर गुरुपरतापै दीठा लो।
दृष्टि न मुष्टि न अगम अगोचर पुस्तक लिखा न जाई लो।
जिन पहिचाना तिन भल जाना कहै न को पतियाई लो॥ इत्यादि०

—पदा० शब्द २८

निकट प्रार्थना करनेकी बात हमारे मनमे स्वप्नमे भी नहीं आती। परन्तु कहा गया है वे 'आनन्दरूपम् अमृतम्' हैं, कहा गया है वे इच्छामय, प्रेममय, आनन्दमय हैं, इसीलिये सिर्फ 'विज्ञान'के द्वारा हम उन्हें नहीं जानते, इच्छाके द्वारा ही उनके इच्छा-स्वरूप और आनंद-स्वरूपको जानना पड़ता है......

"हमारे भीतर इस इच्छाका निकेतन हृदय है। हमारा वह इच्छामय हृदय क्या शून्यमें प्रतिष्ठित है? उसकी पुष्टि मिथ्यासे होती है? उसका गम्य स्थान क्या व्यर्थताके बीचमें है? फिर भला यह विचित्र उपसर्ग (इच्छा-हृदय) कहाँसे आया? किस उपायसे वह मुहूर्त्त-भरके लिये यहाँ टिका हुआ है? जगत्मे क्या सिर्फ एक ही धोखा है, और वह धोखा हमारा हृदय है?—कभी नहीं। हमारा यह इच्छारसमय हृदय जगद्व्यापी इच्छा-रसकी नाडीके साथ बँधा हुआ है। वहींसे वह आनद-रस-पाकर जी रहा है,—न पानेसे उसका प्राण निकल जाता है—वह अन्न वस्त्र नहीं चाहता, विद्या शक्ति नहीं चाहता; चाहता है अमृत, चाहता है प्रेम। जो कुछ चाहता है उसे इसीलिये चाहता है कि वह वस्तु क्षुद्ररूपसे संसारमें और चरम रूपसे उन (भगवान्) मे वर्तमान है,—नहीं तो किसी रुद्ध द्वारपर सिर पटककर मरनेके लिये उसका जन्म नहीं हुआ है। हृदय अपनेको जानता है इसीलिये यह भी निश्चय रूपसे जानता है कि उसकी एक परिपूर्ण कृतार्थता अन्तरमे वर्तमान है। इच्छा केवल उसीकी ओर है, यह बात नहीं है, दूसरी ओर भी है,—दूसरी ओर भी इच्छा न होती तो वह निमेष-भरके लिये भी इधर नहीं रह सकती थी,—एक कण-भर भी इधर ऐसी बची न रहती जिससे निश्वास-प्रश्वासरूप प्राण-क्रिया भी चल सकती। इसीलिये उपनिषदोंने इतना जोर देकर कहा है कि—कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनंदो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयाति।"—कौन शरीरकी चेष्टा करता और कौन जी सकता था, यदि आकाशमें वह आनंद न होता,—वे ही आनंदके दाता हैं।

"दो इच्छाओंके बीच दूतीका कार्य करती है प्रार्थना। यह प्रार्थना-दूती दो इच्छाओके मध्यवर्ती विच्छेदके ऊपर व्याकुल वेशमे खड़ी है। इसीलिये असाधारण साहसके साथ वैष्णव भक्तने कहा है कि जगत्के विचित्र सौन्दर्यके भीतर भगवान्की वंशी जो नाना सुरोंमे बज रही है वह सिर्फ हमारे लिये उनकी प्रार्थना है,—हमारे हृदयको वे इसी अनिर्वचनीय संगीतके द्वारा पुकार रहे हैं। इसी

लिये तो यह सौन्दर्य-संगीत हमारे हृदयकी विरह-वेदनाको जगा देता है।[1]...... उनकी ऐसी पुकार पर भी क्या हमारे मनकी प्रार्थना नहीं जगेगी? वह क्या उनके विरहकी धूलि-आसनपर लोट कर रो नहीं उठेगी? असत्य अन्धकार और मृत्युके निरानंद निर्वासनसे अभिसारकी यात्राके समय यह प्रार्थना-दूती ही क्या अपनी कम्पित दीप-शिखाको लेकर हमारा रास्ता दिखाती हुई आगे आगे नहीं चलेगी? जितने दिन तक हमारे पास हृदय है, जितने दिनतक प्रेमस्वरूप भगवान् अपने नाना सौन्दर्योंद्वारा इस जगत्को आनंद-निकेतनके रूपमें सजा रहे हैं, तबतक उनसे मिलन हुए बिना मनुष्यकी वेदना कैसे दूर होगी? तबतक ऐसा कौन सन्देह-कठोर ज्ञानाभिमान है जो मनुष्यकी प्रार्थनाको अपमानित करके लौटा दे सके[2]!"

इसी त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैतविलक्षण, भावाभावविनिर्मुक्त, अलख, अगोचर, अगम्य, प्रेमपारावार भगवान्को कबीरदासने 'निर्गुण राम' कहकर संबोधन किया है। वह समस्त ज्ञानतत्त्वोंसे भिन्न है फिर भी सर्वमय है। वह अनुभवैकगम्य है,—केवल अनुभवसे ही जाना जा सकता है। इसी भावको[3]

---

१ इस भावके साथ कबीरदासके निम्नलिखित पदकी तुलना की जा सकती है—

सतगुरु हो महाराज मोपै साँई रंग डारा।
शब्दकी चोट लगी मेरे मनमें बेध गया तन सारा॥
औषध-मूल कछू नहिं लागै क्या करै बैद बिचारा।
सुरनर-मुनिजन-पीर-औलिया कोइ न पावै पारा।
साहेब कबीर सर्व रँग रँगिया सब रँगसे रँग न्यारा॥

—शब्दा०, पृ० ९

२ शान्तिनिकेतन, विश्वभारती संस्करण, १३४१ बंगाब्द, प्रथम खण्ड, पृ० १०५-८

३ बाबा अगम-अगोचर कैसा, तातैं कहि समुझावौं ऐसा।
जो दीसै सो तो है वो नाहीं, है सो कहा न जाई॥
सैना-बैना कहि समुझाओं गूंगेका गुड़ भाई।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै बिनसै नाहिं नियारा।
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे पंडित करो विचारा॥

—पदा० शब्द २९

बतानेके लिये कबीरदासने बार बार 'गूँगेका गुड़'[1] कह कर उसे याद किया है। वह किसी भी दार्शनिक वादके मानदण्डसे परे है, तार्किक बहसके ऊपर है, पुस्तकी विद्यासे अगम्य है, पर प्रेमसे प्राप्य है, अनुभूतिका विषय है, सहज भावसे भावित है,—यही कबीरदासका निर्गुण राम है। भक्त लोग इस रामको जानते हैं और राम भी भक्तोंको पहचानते हैं। नैनकी व्यथा बैन जानती है, बैनकी वेदना श्रवण। पिंडका दुःख प्राण जानता है, प्राणका दुःख मरण। आसका दुःख प्यासको मालूम है, प्यासका दुःख पानीको। कबीरदासका निश्चित विश्वास है कि इसी प्रकार राम भक्तके दुःखको जानते हैं।[2]

---

१ अविगत-अकल-अनूपम देख्या कहता कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसैं गूँगै जांनि मिठाई॥
—क० ग्रं० पद, ६

अकथ कहांणी प्रेमकी कछु कही न जाई।
गूंगेकेरी सरकरा बैठे मुसुकाई॥
—क० ग्रं० पद, १५६

सैना बैना कहि समुझाओं गूंगेका गुड़ भाई।
—पदा० शब्द २९, इत्यादि।

२ जनकी पीर हो राजा रांम जानैं कहूं काहि को मानैं।
नैनका दुख बैन जानै बैनका दुख श्रवनां॥
प्यंडका दुख प्रान जानैं प्रानका दुख मरनां।
आसका दुख प्यास जानैं प्यासका दुख नीर॥
भगतिका दुख रांम जानै कहैं दास कबीर॥
—क० ग्रं० पद, २८६

# १०—बाह्याचार

जिन दिनों कबीरदासका आविर्भाव हुआ था उन दिनों हिन्दुओंमें पौराणिक मत ही प्रबल था। परन्तु यह साधारण गृहस्थोंका धर्म था। देशमें और भी नाना भाँतिकी साधनायें प्रचलित थीं। कोई वेदपाठी था, तो कोई उदासी; कोई ऐसा था जो दीन बना फिर रहा था, तो कोई दान-पुण्यमें ही व्यस्त था; कोई मदिराके सेवनको ही चरम साधना मानता था, तो कोई तंत्र-मंत्र-औषधादिकी करामातसे ही सिद्ध बना फिरता था; कोई सिद्ध था, कोई तीर्थव्रती था और कोई धूमपानसे शरीरको काला बना रहा था। सब थे पर कोई राम-नाममें लीन नहीं था। सद्गुरु (=रामानंद ?)की कृपासे कबीरदासको यह महामंत्र मिल गया था[1]। उस समय मुनि थे, पीर थे, दिगंबर थे, योगी थे, जंगम थे, ब्राह्मण थे, सन्यासी थे, पर सभी मायाके चक्करमे पड़े हुए थे[2]। किसी किसी सम्प्रदायमें तोप-बंदूकें तक चला करती थीं। कबीरदास हैरान होकर लोगोंसे कहा करते थे कि भई, यह भी अजब योग है कि महादेवके नामपर पंथ चलाया जाता है। लोग बड़े

---

१ ऐसौ देखि चरित मन मोह्यो मोर,
ताथैं निस बासुरि गुन रमौं तोर।
इक पढ़हि पाठ, इक भ्रमैं उदास, इक नगन निरन्तर, रहै निवास॥
इक जोग जुगुति तन हूंहि खीन, ऐसे रांम नाम सगि रहै न लीन।
इक हूंहि दीन एक देहिं दान, इक करैं कलापी सुरापांन॥
इक तंत-मंत औषध (ध्र) बांन, इक सकल सिद्ध राखै अपांन।
इक तीरथ-व्रत करि काय जीति, ऐसे रांम-नामसूं करैं न प्रीति॥
इक धोम घ्यूंटि तन होंहि स्याम, यूं मुकुति नहीं बिन रांमनांम।
सतगुरु तत्त कह्यौ विचार, मूल गह्यौ मनमैं विस्तार॥
जुरा-मरणथैं भये धीर, राम-कृपा भई कहि कबीर।

—क० ग्रं०, पद ३८६

२ क० ग्रं० पद १८७

बड़े महन्त बनते हैं, हाट-बाजारमें समाधि लगाते हैं और मौका पाते ही तोप-बंदूक लेकर पिल पड़ते हैं ! भला दत्तात्रेयने भी कभी मवासियों या शत्रुओंपर चढ़ाई की थी, शुकदेवने भी कभी तोप-संग्रह किये थे, नारदने भी कभी बंदूक दागी थी? अजीब हैं ये विरक्त जिनकी सोनेकी गद्दियाँ जगमगा रही हैं, हाथी-घोड़ोंके ठाठ लगे हैं, करोड़-पतियोंकी-सी शान है[१] !! रंग ढंगसे मालूम होता है कि यह नागा लोगोंकी कुंभकी चढ़ाई जैसी कोई घटना रही होगी। इस प्रकार बहुधा-विचित्र बाह्याडम्बर-मूलक साधनाओंके बीच कबीरदासने अपनी प्रेम भक्तिकी साधना शुरू की थी।

जनतामें सर्वाधिक प्रभाव हिन्दू मत या पौराणिक धर्मका था। इसके बाद ही योगियोंकी प्रबलता थी। ब्राह्मणोंके विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं क्योंकि जिन लोगोंके हाथमें इस पुस्तकके पहुँचनेकी आशा है वे सभी लोग इस मतको भली भाँति जानते हैं। योगियोंकी साधनाका उल्लेख पहले ही हो चुका है। यहाँ संक्षेपमें उन मोटी बातोंकी चर्चा कर लेना आवश्यक समझा गया है जिन्हें कबीरदास पौराणिक ब्राह्मणधर्मकी विशेषता मानते थे और बारंबार प्रत्याख्यानयोग्य समझते थे।

सबसे मुख्य बात यह है कि कबीरदासने पौराणिक हिन्दूधर्मके आचार-बाहुल्यको ही अधिक लक्ष्य किया था। कोई पूजा या उत्सव उनकी दृष्टिमें ज्यादा खटकता था पर उस पूजा या उत्सवके पीछे छिपा हुआ तत्त्ववाद प्रायः ही उनकी दृष्टिमें

---

१ ऐसा जोग न देखा भाई। भूला फिरै लिये गफिलाई ॥
महादेवको पंथ चलावै। ऐसो बड़ो महंत कहावै।
हाट-बजारे लावैं तारी। कच्चे सिद्धन माया प्यारी ॥
कब दत्तै मावासी तोरी। कब सुखदेव तोपची जोरी।
नारद कब बंदूक चलाया। व्यासदेव कब बंब बजाया।
करहिं लराई मतिकै मन्दा। ई अतीतकी तरकस बन्दा।
भये विरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरि लजावैं बाना।
घोरा-घोरी कीन्ह बटोरा। गांव पाय जस चलै करोरा।
साखी—( तिय ) सुन्दरि ना साहई, सनकादिकके साथ।
कबहुँक दाग लगावई, कारी हाँडी हाथ ॥
—बीजक, ६९ वीं रमैनी

उपस्थित नहीं होता था। मूर्तिकी उपासना उनको बुरी लगती थी पर ऐसा जान पड़ता है कि मूर्तिवाला तत्त्ववाद उन्हें मालूम ही न था। शायद ही किसी दार्शनिक तत्त्ववाद या पौराणिक रहस्य व्याख्याका उल्लेख उनके ग्रन्थमें पाया जाय।

वेदपाठ, तीर्थस्नान, व्रतोद्यापन, छुआछूत, अवतारोपासना, कर्मकाण्ड इत्यादि सबके विरुद्ध कबीरदासने लिखा है पर कहीं भी इनकी गूढ़ व्याख्याओंको या इनकी पृष्ठभूमिके तत्त्ववादको उल्लेखयोग्य नहीं समझा। वस्तुतः सारा हिंदू धर्म उनकी दृष्टिमें एक बाह्याचारबहुल ढकोसला-मात्र था। उन्होंने योगमार्गको भी ढकोसला ही समझा था पर हमने पिछले अध्यायोंमें देखा है कि इस विषयका वर्णन वे रस लेकर करते हैं और उसकी छोटी छोटी विशेषताओंकी भी जानकारी रखते हैं। परन्तु हिन्दू-मत या तत्त्ववादकी ओर न तो उनकी वैसी जिज्ञासा ही है और न निष्ठा ही। बीजकमें करीब एक दर्जन पद सीधे 'पंडित' या 'पाड़े'को संबोधन करके कहे गये हैं। इनमेंसे कई पद बहुत मामूली परिवर्तनके साथ 'कबीर-ग्रथावली'में भी आये हैं। इन पदोंमें वे पडितसे तरह-तरहके प्रश्न पूछते हैं। कहते हैं, छूत कहाँसे आ गई ? पवन, वीर्य और रजके सम्बन्धसे गर्भाशयमें गर्भ रहता है, फिर वह अष्टकमलदलके नीचेसे उतरकर पृथ्वीपर आता है, ऐसी हालतमें यह छूत कैसे आ गई ? यही वह धरती है जिसमे चौरासी लाख योनिके प्राणियोंका शरीर सड़कर मिट्टी हो गया, इस एक ही पाटपर परमपिताने सबको बिठाया है तो फिर छूत कैसे रही ?...इत्यादि[1]। यह तर्क निश्चय ही युक्तिसंगत है पर जिस 'पंडित' से यह प्रश्न पूछा जाता है वह इसका बहुत सीधा जवाब

---

१ पंडित, देखहु मनमहँ जानी।
कहु धौं छूति कहांते उपजी तबहिं छूति तुम मानी।
बादे बंदे रुधिरके संगे घटहीमहँ घट सपचै।
अस्ट कँवल होय पुहुमी आया छूति कहाते उपजै।
लख चौरासी नाना वासन सो सम सरि भौ माटी।
एकै पाट सकल बैठाये छूति लेत धौं काकी।
छूतिहि जेवन छूतिहि अँचवन छूतिहि जगत उपाया।
कहहि कबीर ते छूति बिवरजित जाके संग न माया।

—बीजक, शब्द ४१

जानता है। उस सीधे जवाबको प्रश्नकर्ताने एकदम भुला दिया है। ग़लत हो या सही ' पंडित ' यह विश्वास करता है कि छूत उसकी सृष्टि नहीं है बल्कि एक अनादि कर्म-प्रवाहका फल है। वह विश्वास करता है कि प्राणिमात्र जन्म-कर्मके एक दुर्वार प्रवाहमें बहे जा रहे हैं। अगर उसे सचमुच निरुत्तर करना है तो या तो उसे उस अनादि कर्मप्रवाहकी युक्तिके भीतरसे उसे समझाना चाहिये या फिर इस जन्म-कर्म-प्रवाहके इस विश्वासको ही निर्मूल सिद्ध कर देना चाहिये। यह अत्यन्त मोटी-सी बात है। पर कबीरदासके निकट ' पंडित ' या ' पांड़े ' इतना अदना-सा और उपेक्षणीय जीव था कि उन्होंने कभी इस रहस्यको समझनेकी कोशिश नहीं की।

इसी प्रकार वे पूछते हैं कि " पंडित, सोध कर बताओ तो सही, किस प्रकार आवागमन छूट सकता है और धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ये सब फल किस दिशामें बसते हैं ? अगर गोपालके बिना संसारका कोई स्थान ही नहीं है तो भला लोग नरक कैसे जाते हैं ? देखो भाई, जो नहीं जानता उसीके लिये नरक है, स्वर्ग है, परन्तु जो हरिको जानता है उसके लिये कुछ भी नहीं है[1]। " कहना बेकार है कि इस तत्त्वसे पंडित अपरिचित नहीं है। वह भी जानता है कि यह स्वर्ग और नरककी कल्पना अविद्याकी उपज है पर वह कितने ही प्रकारके अधिकारियोंके अस्तित्वमें विश्वास करता है। उसे निरुत्तर करनेके लिये इस अधिकारि-भेदके सिद्धान्तोंकी ही जड़ खोदनी चाहिये थी। इस प्रकार कबीरदासका ' पंडित ' वह पत्राधारी अधकचरा ब्राह्मण है जो ब्राह्मण-मतके अत्यन्त निचले स्तरका नेता है।

---

१ पंडित, सोधि कहहु समुझाई। जाते आवागंवन नसाई।
अरथ-धरम अरु काम-मोच्छ-फल, कवन दिसा बस भाई॥
उतर कि दच्छिन पुरुब कि पच्छिम सरग-पताल कि मॉहीं।
बिनु गोपाल ठवर नहि कबहूँ नरक जात धौं काहे।
अनजानेको सरग-नरक है हरिजानेको नाहीं॥
जेहि डरते भव लोग डरतु हैं सो डर हमरे नाहीं।
पाप पुन्नकी संका नाहीं सरग-नरक नहि जाहीं।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जहँ पद तहाँ समाहीं॥

—बीजक, शब्द ४२

जहाँ जहाँ भी कबीरदासने पंडितके बाह्याचारका खंडन किया है वहाँ उसे नितांत अदना आदमी समझके किया है। वे यह जानते ही नहीं कि पंडितके पास भी तत्त्वज्ञान है, मोक्ष और अपवर्गकी व्याख्या है, व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्तापर बहस है, स्थूल और सूक्ष्मकी मर्यादा है, कर्म और बंधकी धारणा है। यह वे कल्पना भी नहीं करते कि पंडित ऐसे प्रश्नोंपर अपने शास्त्रोंमें विचार भी किया करता है।

यहाँ इस कथनका यह तात्पर्य नहीं है कि कबीरदासने बाह्याचारोंकी व्यर्थता समझनेमें गलती की है। यहाँ इसी बातका उल्लेख किया जा रहा है कि कबीरदासने 'पंडित' या 'पांडे'को कैसा समझा था या कैसा देखा था। शास्त्रीय आतंक-जालको छिन्न करके और लोकाचारके जंजालको ढाहकर वे सहज ही सहज सत्य तक पहुँच सके थे, इसमें कोई संदेह नहीं। यहाँ केवल इतना ही प्रकृत है कि कबीरदासका ' पंडित ' बहुत अदना आदमी है, स्वर्ग और नरकके सिवा और कुछ जानता ही नहीं, जात-पाँत और छुआछूतका अंध उपासक है, तीर्थ-स्नान और व्रत-उपासका ठूठ समर्थक है,—तत्त्वज्ञानहीन आत्म-विचार-विवर्जित, विवेकबुद्धिहीन, अटट गँवार।

अब एक बार योगमार्गके सूक्ष्म ज्ञानके साथ ब्राह्मण-मतके इस अल्पज्ञानकी तुलना की जाय तो उस ' सत्संग-सिद्धान्त 'का महल बालूकी भीतपर खड़ा दिखाई देगा जिसे इतना प्रचारित किया गया है। कहा गया है कि कबीरदास मुसलमान वंशमें पैदा होकर भी ' सत्संग'के बलपर हिन्दू शास्त्रीय मतोंको इतना जान सके थे। यह सिद्धान्त वस्तुतः किसी दृढ़ प्रमाणपर आधारित नहीं है। यह कहना तो अनुचित है कि कबीरदास सत्संगी नहीं थे,—ज़रूर ही रहे होंगे, पर हिन्दूधर्मसंबधी उनका ज्ञान सत्संग करके बटोरा हुआ नहीं था। वस्तुतः योगमत, द्वैताद्वैत-विलक्षण-परमात्म-विश्वास, निर्गुण-निराकारकी भावना, समाधि, सहजावस्था, खसम-स्वभाव आदिका संपूर्ण ज्ञान उन्हें अपनी कुल-परंपरा और कुल-गुरु-परम्परासे प्राप्त हुआ था। पौराणिक हिन्दूमतको दूरपर बैठे हुए दर्शककी भाँति ही उन्होंने देखा था। इस बातकी उन्होंने कोई परवा ही नहीं की कि उसके भीतर भी कोई आध्यात्मिक तत्त्व है या नहीं।

हमने ऊपर लक्ष्य किया है कि बाह्याचारमूलक जिन धार्मिक कृत्योंका खण्डन कबीरदासने किया है लगभग सभीका खण्डन उनके पूर्ववर्ती हठयोगियोंने उसी

प्रकारकी चकनाचूर करनेवाली भाषामें किया है । लेकिन यह परम्परा और भी पुरानी तथा और भी व्यापक है । योगियोंके भी पूर्ववर्ती सहजयानी सिद्धोंने भिन्न भिन्न मतके बाह्याचारका वैसा ही ज़ोरदार खण्डन किया है । सरोरुहपाद कहते हैं कि "ब्राह्मण ब्रह्माके मुखसे पैदा हुए थे, जब हुए थे तब हुए थे । इस समय तो वे भी वैसे ही पैदा होते हैं जैसे दूसरे लोग । तो फिर ब्राह्मणत्व कहाँ रहा? यदि कहो कि संस्कारसे ब्राह्मणत्व होता है तो चाण्डालको भी संस्कार दे कर क्यों नहीं ब्राह्मण हो जाने देते? अगर कहो कि ये लोग हाथमें कुस-जल लेकर घर बैठे हवन करते हैं । यदि आगमें घी डाल देनेसे मुक्ति होती हो तो क्यों नहीं सबको डालने देते? होम करनेसे मुक्ति होती हो या नहीं, धुआँ लगनेसे आँखोंको कष्ट ज़रूर होता है!"[1] इसी प्रकार नग्न साधुओंको लक्ष्य करके सरोरुहपाद कहते हैं कि 'ये लोग कपट-माया फैलाकर लोगोंको ठगा करते हैं। तत्त्व तो ये जानते ही नहीं । मलिन वेश धारण किये फिरते हैं और शरीरको व्यर्थ ही कष्ट देते हैं । नंगे घूमते हैं और केश उखड़वा (लुंचन) देते हैं । यदि नग्न दिगंबरको मुक्ति मिलती हो तो स्यार-कुत्तोंकी मुक्ति पहले होनी चाहिये । यदि लोमोत्पाटनसे मुक्ति होती हो तो ऐसे बहुतोंकी मुक्ति हो जानी चाहिये जिन्हे लोम है ही नहीं । यदि पिच्छी ग्रहण करनेसे मुक्ति होती हो तो मयूर इसका प्रथम अधिकारी है । यदि उञ्छ-भोजनसे मुक्ति होती हो तो हाथी-घोड़ोंकी मुक्ति पहले होनी चाहिए[2]।'

---

१ बह्मणेहि म जाणन्त हि भेउ । एवइ पढ़िअउ एच्चउ वेउ ॥ १ ॥
मट्टी पाणी कुस लइ पढन्त । घरहिं वइसी अग्गि हुणन्त ॥
कज्जे विरहइ हुअवह होमें । अक्खि डहाविअ कडुएँ धुम्में ॥२॥—ज० डि० ले० पृ० ९
इसीपर अद्वयवज्रकी टीका भी देखिये (वही पृ० ५२-५४)

२ दीह णक्ख जइ मलिणों वेसें । णग्गल होइ उपाड़िअ केसें ॥
खवणेहि जाण विडंबिअ वेसें । अप्पण वाहिअ मोक्ख उवेसें ॥ ६ ॥
जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह ।
लोमुप्पाडणे अत्थि-सिद्धि ता जुअइ णिअम्बह ॥ ७ ॥
पिच्छी-गहणे दिट्ठि मोक्ख ता मोरह चारह ।
उञ्छे भोअणें होइ जाण ता करिह तुरंगह ॥ ८ ॥—वही० पृ० १०
और इसीपर अद्वयवज्रकी टीका पृ० ६१-२

जैन लोगोंमें भी इस प्रकारके बाह्याचारोंके खण्डनकी प्रवृत्ति मामूली नहीं थी। मुनि रामसिंहके पाहुडदोहेमें बाह्याचारोंकी इसी प्रकारकी धज्जियाँ उड़ाई गई हैं। बाह्याचार और भेषकी व्यर्थता दिखानेके लिये उन्होंने उसे साँपकी केंचुलीकी उपमा दी है। जिस प्रकार ऊपर आवरणके बदलनेसे सर्पका जहर नहीं जाता रहता उसी प्रकार बाह्यवेषके परिवर्तनसे चित्त-शुद्धि नहीं होती[1]। एक तीर्थसे दूसरे तीर्थ तक घूम आनेसे अधिकसे अधिक बाहरी शरीरकी धुलाई हो जाती है, भीतरी शुद्धि उससे कैसे हो सकती है[2]? मूर्खलोग मनुष्यके बनाये देवालयोंको खोज खोज कर मरते हैं परन्तु हृदयके उस देवालयको नहीं देखते जहाँ सच्चमुचके शिव विराजित हैं[3]। ओ पंडित, पोथी पढ़ पढ़ कर तेरा तालू सूख गया, भला ऐसा भी एक अक्षर तो पढ़के देख जिससे शिवपुरीमें तुझे आसन मिल सके[4]; झूठा है यह कलह, बेकार है यह टंटा, किससे छूत मानूँ और किसकी पूजा करूँ, जहाँ देखता हूँ वहाँ एक ही आत्मा है[5]: इत्यादि। ऐसे भावोंके दर्जनों दोहे पाहुड़दोहासे संग्रह

---

१ सप्पिं मुक्की कंचुलिय जं विसु तं ण मुएइ।
भोयहं भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ॥ १५॥

२ तित्थइं तित्थ भमंतयहं किंगेहा फल हूव।
बाहिरु सुद्धउ पाणियहं अब्भिंतर किन हूव॥ १६२॥
तित्थइं तित्थ भमेहि वढ धोयउ चम्मु जलेण।
एहु मणु किम धोएसि तुहुं मइलउ पाव मलेण॥ १६३॥

३ मूढा जोवइ देवलइं लोयहिं जाइं कियाइं।
देह ण पिच्छइ अप्पणिय जहिं सिउ संतु ठियाइं॥ १८०॥

४ बहुयइं पढियइं मूढपर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु जि अक्खरु तं पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण॥ ९७॥

५ कासु समाहि करउं को अंचउं।
छोपु अछोपु भणिवि को वंचउं॥
हल सहि कलहु केण सम्माणउं
जहिं जहिं जोवउ तहिं अप्पाणउं॥ १३९॥

सभी दोहे 'पाहुड़-दोहा' (प्रो० हीरालाल जैन सम्पादित), कारंजा (बरार १९३३, से लिये गये हैं।

किये जा सकते हैं। ये दोहे भी सन ईसवीकी प्रथम सहस्राब्दीके अन्त्य भागके हैं अर्थात् लगभग उसी समयके हैं जब कि सहजमतके बौद्ध गान और दोहे लिखे जा रहे थे।

इस प्रकार कबीरदासने बाह्याचारमूलक धर्मकी जो आलोचना की है उसकी एक सुदीर्घ परम्परा थी। इसी परम्परासे उन्होंने अपने विचार स्थिर किये थे। इनके समयमें एक और भी प्रधान धर्ममत भारतवर्षमें आ चुका था। उसमें भी बाह्याचारकी प्रबलता थी। कबीरदासने स्वयं इस धर्मद्वारा प्रभावित वंशमें जन्म ग्रहण किया था इसलिये उसकी आचार-बहुलतासे भी वे परिचित थे। परन्तु मुल्ला और काजीको भी वे 'पंडित'के समान ही अपदार्थ और हीनवीर्य समझते रहे। ऐसा नहीं जान पडता कि उन्होंने मुसलमानधर्मके बाह्याचारोंके सिवा उसके किसी अंशकी गहरी जानकारी प्राप्त करनेकी चेष्टा की हो। उन्होंने सुन्नत, बाँग और कुरबानी आदिकी खरी आलोचना की है। पर चाहे मुसलमानी धर्मके बाह्याचारका खण्डन हो या हिंदू मतके, उन्होंने अपने पूर्ववर्ती अक्खड़ योगियोंकी भाँति महज खण्डनके लिये खण्डन नहीं किया। उनका केंद्रीय विचार भक्ति था। वे भक्तिको प्रधान मानते थे। उसके रहनेपर बाह्याचारका होना न होना गौण बात है। ऐसा जरूर है कि वे भक्तिकी प्राप्तिके बाद बाह्याचारोंका स्वयं नष्ट हो जाना जैसी बातपर विश्वास करते हैं। उनके मतसे भक्ति और बाह्याडम्बरका संबंध सूर्य और अंधकारका-सा है। एक साथ दोनों नहीं रह सकते। काजी किताब पढ़ते पढते मर गया पर तत्त्व नहीं समझ सका। कबीरदास कहते हैं कि यद्यपि उनका शरीर मुसल्मानी आचारसे संस्कृत बनाया जाकर मुसलमान बना लिया गया पर वस्तुतः यह संस्कार बाह्य और अधूरा है। उन्हें इस संस्कारद्वारा मार्जित होनेका अफसोस नहीं था। वे तो भक्तिकी टेक गहे हुए थे और काजी झख मारके भी उनको उस मार्गसे विचलित नहीं कर सकता। एक बार भक्तिकी टेक गह ली तो कोई भी बाह्याचार रास्ता रोकके खड़ा नहीं हो सकता। पंडितोंने कहा है

---

१ काजी कौन कतेब बखानैं।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते गति एकै नहि जानैं।
सकतिसे नेह पकरि करि सुनति यह न बदूं रे भाई।
जौर खुदाइ तुरक मोहि करता तौ आपै कटि किन जाई।

कि कबीरदासकी भक्तिमें सूफी साधनाका प्रभाव है। उनकी प्रेम और विरह-सबंधी उक्तियोंमें इस प्रभावका अस्तित्व दिखाया गया है। यह बात ठीक हो सकती है। यद्यपि कबीरदासके खुदके वचनोंके बलपर कहा जा सकता है कि प्रेम-भक्तिका बीज उन्हें अन्यत्रसे मिला था पर सूफी साधकोंसे उनका प्रभावित होना असम्भव नहीं है। परन्तु, जो लोग उन्हें मुस्लिमप्रभावापन्न सुधारक मानते हैं वे बहुत ही उथले प्रमाणोंपर उडती उडती बातें करते हैं। कबीर-पंथियोंका और कोई दावा ठीक हो या नहीं, उनका यह दावा सोलह आने संगत है कि कबीरदास मुसलमान नहीं थे, क्योंकि मुसलमानी वंशमें जन्म और लालन-पालन होना ही किसीको मुसलमान नहीं बना देता। जन्मसे वे मुसलमान रहे हों या नहीं, विश्वासमें वे एकदम मुसलमान नहीं थे। उनके ऊपर मुसलमानी संस्कृति और धर्म-विश्वासका कोई गहरा असर नहीं पड़ा था। और उन्होंने कहीं भी अपनेको मुसलमान नहीं कहा। मुस्लिम धर्म-साधनासे उनका सम्बन्ध नाममात्रको ही था। पर मुसलमान वंशमें प्रतिपालित होनेके कारण उनमें एक प्रकारका साहसिक भाव आ गया था और उस दार्शनिक तर्क-जालसे वे मुक्त थे जो उनके पूर्ववर्ती सिद्धों और योगियोंको अभिभूत किये हुए था। इसीलिये वे सहज बातको सहज ढंगसे—बिना अपर-पक्षकी कल्पना किये—कह सके थे। यह मुस्लिम परिवारमें पालित होनेका उत्तम फल था। नहीं तो जिन खण्डनात्मक विचारोंके लिये उन्हें मुस्लिम-प्रभावापन्न सुधारक माना जाता है उनकी परम्परा बहुत पुरानी थी।

पंडितोंने एकेश्वरवाद और अद्वैतवादकी बहस उठाकर यह साबित करनेकी कोशिश की है कि कबीरदासका अमुक विषयमें एकेश्वरवादी मत मुसलमानी भावका सूचक है। सही बात यह है कि जब कबीरदास राम और रहीमकी एकताकी बात करते हैं तो उनका मतलब भारतीय परंपराके 'अद्वैत ब्रह्म' को सामी धर्मके 'पैगंबरी खुदा' के साथ घुला देना नहीं होता। वे अत्यन्त सीधी सी बात अत्यन्त सीधे तौरपर कहते हैं कि सृष्टिके रचयिता भगवान्‌को

---

हौं तौ तुरक किया करि सुन्नति औरति सौं का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छूटै आधा हिन्दू रहिये।
छाँड़ि कतेब राम कहि काजी खून करत हौ भारी।
पकरी टेक कबीर भगति की काजी रहे झष मारी॥

—क० ग्रं० पद ५९

यदि मानते हो तो दोकी कल्पना व्यर्थ है। एक ही परम तत्त्वको राम और रहीम कह देनेसे वह दो नहीं हो जायगा। माला और तसबीहपर जप करनेके कारण वह वस्तु भिन्न नहीं हो जायगी जो उपास्य है। इस कथनका यह तात्पर्य नहीं कि सृष्टिके रचयिताको उपादान कारण या निमित्त कारण जो भी कहो दोनो एक ही बात है; या जगत्को ब्रह्मका परिणाम कहो या विवर्त कहो दोनों एक ही बात है; या खुदाको प्रकृतिका कारण मानो या प्रकृतिके साथ उसका अनिर्वचनीय संबंध मानो दोनोंमें कोई फर्क नहीं है। बिलकुल नहीं। इस कथनका तात्पर्य यह है कि साधारण जनता जो दार्शनिक विवादकी खबर कुछ भी नहीं रखती जिस सर्व-सामर्थ्य-युक्त परमात्मामे विश्वास करती है वह एक ही है। उसके सृष्टि-रचनाके प्रकारसे कोई बहस नहीं है, सृष्टि और प्रकृतिके साथ उसके संबंधको लेकर शास्त्रार्थ नहीं है, सही बात यह है कि नामके बदलनेसे वस्तु नहीं बदल जाती। एक समाजका 'भोंदू' मोटी तौरपर जिस परमात्माकी कल्पना करता है वह दूसरे समाजके 'भोंदू'की कल्पनासे भिन्न नही है[1]। यही कारण है कि कबीरदासने उसी अंगपर ज़ोर दिया है जो सर्व-साधारणकी समझके भीतर है—

हमरे राम रहीम करीमा,
केसो अलह राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै,
और न दूजा कोई॥

यदि यह एकेश्वरवाद है तो अद्वैतवाद या विशिष्टाद्वैतवाद या कोई और वाद क्यों नहीं है? स्वयं कबीरदास अपनेको इन 'भोंदुओं'के लिये निर्दिष्ट पद्धतिसे ऊपर देखते थे। वे भगवानके सभी नामोंसे एक वस्तुका ध्वनित होना तो मानते थे पर शायद अच्छी तरह ही जानते थे कि इन नामोंसे अलग अलग

---

१ अरे भाइ दोइ कहाँसे मोंहि बतावौ
बिचिही भरमका भेद लगावो।
जोनि उपाइ रची द्वै धरनीं, दीन एक बीच भई करनीं॥
राम-रहीम जपत सुधि गई, उनि माला उनि तसवी लई॥
कहै कबीर चेत रे भोंदू, बोलनिहारा तुरुक न हिंदू॥
—कं० ग्रं० पद ५६

तरहके विचार उलझे हुए हैं। राम कहते ही 'दशरथ-सुत'का याद आ जाना संभव है और अल्लाहके साथ बाँग देता हुआ मुल्ला ग्रथित है, इसीलिये स्वयं वे उस परमात्माको नामातीत भी मानते थे। जिस प्रकार उसका कोई रूप नहीं है उसी प्रकार कोई नाम भी नहीं है, कबीरदासकी लौ इसीलिये उस परमतत्त्व-पर लगी हुई थी जिसके यहाँ अल्लाह या राम किसीकी गम नहीं है,—जो भगवत्सम्बन्धी तत्तत् उद्भट कल्पनाओंकी पहुँचके बहुत ऊपर है—

अलह रामकी गम नहीं
तहाँ कबीर रहा ल्यौ लाय!

किन्तु प्रश्न है कि आखिर वह कौन-सी वस्तु है जिसने कबीरदासको इतना महिमा-शाली बना दिया है? हमने अब तक देखा है कि उनके अधिकाश विचार एक पुरानी दीर्घ परम्पराकी देन हैं। यह नहीं कि कोई बात परम्परासे आनेके कारण हीन हो जाती हैं,—सत्य, दया-धर्म, करुणा-भाव आदि बातें अनादि कालसे समादृत हैं फिर भी आजका सत्यवादी, दयावान् और कारुणिक व्यक्ति इस परम्परा-विहित महत्त्वका अधिकारी होनेके कारण हीन या कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। कबीर-दासने अगर महान् आदर्श पुरानी परम्परासे लिया है तो इसीलिये कबीरका महत्त्व कम नहीं हो जाता। इस अध्ययनका उद्देश्य भी ऐसा कुछ दिखाना नहीं है। पर कबीरदासका पाठक जानता है कि उनके पदोंमें उसे एक कोई अनन्य-साधारण बात मिलती है जो सिद्धों और योगियोंकी अक्खड़ता-भरी उक्तियोंमें नहीं हैं, जो वेदान्तियोंके तर्क-कर्कश ग्रन्थोंमें नहीं है, जो समाज सुधारकोंकी 'हाय हाय'में भी नहीं है।—कोई अनन्यसाधारण बात। वह क्या है? फिर वह वस्तु भी क्या है जिसे रामानंदसे पाकर कबीर जैसा मस्तमौला फक्कड़ हमेशाके लिये उनका कृतज्ञ हो गया? दोनोंका एक ही उत्तर है। वह बात भक्ति थी। वह योगियोंके पास नहीं थी, सहजयानी सिद्धोंके पास नहीं थी, कर्मकाण्डियोंके पास नहीं थी, 'पण्डितों'के पास नहीं थी, 'मुल्लों'के पास नहीं थी, 'काजियों'के पास नहीं थी। इसी परमाद्भुत रत्नको पाकर कबीर कृतकृत्य हो रहे। भक्ति भी किसकी? रामकी। रामनाम रामानंदका अद्वितीय दान था। उनके पहले उत्तराखण्डमें राम विष्णुके अवतार जरूर समझे जाते थे पर 'परात्पर परंब्रह्म' नहीं माने जाते थे। इस त्रिगुणातातीत मायाधीश परंब्रह्म-स्वरूप रामकी भक्तिको रामानंद ही ले आये। राम और उनकी भक्ति ये ही रामनंदकी कबीरको देन हैं। इन्हीं

दो वस्तुओंने कबीरको योगियोंसे अलग कर दिया, सिद्धोंसे अलग कर दिया, पण्डितोंसे अलग कर दिया, मुल्लोंसे अलग कर दिया। इन्हींको पाकर कबीर 'वीर' हो गये,—सबसे अलग, सबसे ऊपर, सबसे विलक्षण, सबसे सरस, सबसे तेज!

ऊपर बताई हुई बाह्याचारबहुल शुष्क साधनाकी मरुभूमिमें कबीर खड़े थे, वे सहज ही गल जानेवाले जीव नहीं थे। उनकी भेदक दृष्टिसे वेश और भूषाकी व्यर्थता छिप नहीं सकती थी, थोथा तर्क और कुटिल तत्त्वज्ञान उन्हें भरमा नहीं सकता था, कूटवचन और मधुर शब्दजाल उन्हें फँसा नहीं सकते थे। वे सर्वत्र एक विचित्र प्रकारका अभाव अनुभव कर रहे थे। सारा संसार अपनी अपनी आगमें जल रहा था, ऐसा कोई नहीं मिलता था जिससे लगकर वे रह सकें। कसाला यह था कि जिससे हृदयकी बात कहते वही डंक मार देता, निर्भयभावसे निःशंक होकर जिस आदमीसे दिलकी बात कही जा सके ऐसा कोई मिल नहीं रहा था[1]। वे व्याकुल भावसे कुछ खोज रहे थे पर पा नहीं रहे थे; सारा मन और प्राण संशयके विषसे जर्जर हो गये थे। हृदय बेचैन था; ऐसा प्रेमी मिल नहीं रहा था जिसके प्रेमपूर्ण संसर्गसे यह साराका सारा हलाहल अमृत हो जाता[2]! ठीक ऐसे ही समयमें रामानंदसे उनकी भेट हुई। यह बहुत अच्छा हुआ जो गुरु मिल गये, नहीं तो बड़ी हानिकी संभावना थी। कौन जानता है, कबीर भी औरोंकी तरह माया-रूपी दीपकको अपना पूर्ण लक्ष्य समझ कर पतंगकी तरह न कूद पड़ते? सारी दुनिया तो ऐसी ही है। कौन है जो इस माया-दीपकका पतंग नहीं बन गया? ऐसे बड़भागी अँगुलियोंपर ही गिने जा सकते हैं जो

---

१ ऐसा कोई ना मिलै जासों रहिये लागि।
सब जग जलतां देखिया अपनी अपनी आगि॥ ५॥
ऐसा कोई ना मिलै जासों कहूं निसंक।
जासों हिरदैकी कहूं सो फिरि मारै डंक॥ ६॥
—क० ग्रं० पृ० ६६

२ प्रेमी ढूंढ़त मैं फिरौं प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमीकौं प्रेमी मिलै तब सब विष अंमृत होय॥ १२
—वही पृ० ६७

गुरुकी कृपासे उबर जाते हैं। कबीरदासने सद्गुरुको पाकर अपनेको बड़भागी समझा, गुरुकी सफलता केवल गुरुके ही महत्त्वपर ही नहीं होती निर्भर। शिष्य भी ऐसा ही कृती चाहिये। कबीर ऐसे ही शिष्य थे[1]।

अनन्त थी इस सद्गुरुकी महिमा, अनन्त था उपकार। अनन्त दृष्टि उन्होंने खोल दी और अनन्तको दिखा दिया। क्या था वह अनन्त? रामनाम। इस महामंत्रकी पटतर देने लायक जगत्में कौन-सी चीज़ है? हाय, कबीरदासके पास ऐसा कौनसा धन था जिसे देकर वे गुरुकी इस महादान-जन्य कृपापर अपनी कृतज्ञता प्रकट करते[2]। उन्हें सारा सूरा तो बहुत मिले थे जो अपनी बाण-विद्यासे दूसरोंको घायल कर दें पर ऐसा कोई नहीं मिला था जो स्वयं चोट खाये हुए हो। और तबतक रामभक्तिके दृढ होनेकी आशा ही क्या थी जब तक किसी घायलसे मुलाक़ात न हो जाती[3]! इस बार उन्हें ऐसा ही घायल मिला। घायल जो रामके प्रेमका दीवाना था, जो स्वयं भगवद्विरहकी चोट खा चुका था। इस प्रकारके कराल द्वन्द्वसे, संशय और दुबिधासे छुड़ा सकनेवाले युगगुरु रामानंद ही थे। इस विषयमें उन लोगोंको भले ही संदेह हो जो कबीर दासके नामपर उलटा सीधा मत मतांतर चलाना चाहते हों, स्वयं कबीरदासको कोई संशय नहीं था—

---

१ भली भई जु गुर मिल्या नहिं तर होती हांणि।
दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं, पड़ता पूरी जांणि॥ १९॥
माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवै पडन्त।
कहै कबीर गुरु ग्यान थैं, एक-आध उबरंत॥ २०
सतगुरु बपुरा क्या करै जो सिष ही माहैं चूक।
भावै त्यूं प्रमोधि लै, ज्यू बंसि बजाई फूक॥ २१॥ क० ग्रं० पृ० ३

२ सतगुरुकी महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार॥३॥
रामनामकै पटंतरै, देवैकौं कछु नांहिं।
क्या ले गुरु संतोषिए, हौंस रही मनमांहि॥ ४॥—वही, पृ० १

३ सारा सूरा बहु मिले, घाइल मिलै न कोइ।
घाइल ही घाइल मिलै, तब राम-भगति दिढ़ होइ॥—वही, पृ० ६७

सद्गुरुके परतापतैं, मिटि गयौ सब दुख-दंद ।
कह कबीर दुबिधा मिटी, गुरु मिलिया रामानंद ॥
(स० क० सा० १।८)

क्या हुआ जो वे ब्राह्मण थे और कबीरदास जुलाहे; क्या हुआ जो वे काशीके 'आचार्य' थे और कबीरदास कमीनी जातिके 'बंदे'! प्रेम दूरी नहीं जानता, भेद नहीं जानता, जाति नहीं मानता, कुल नहीं देखता। कुमुदिनी पानीमें बसती है चाँद आकाशमें; फिर भी जो जिसका मनभावन है वह सदा पासमें ही रहता है। अगर गुरु बाराणसीमे ही होते और कबीरदास कहीं समुद्र पार, तो भी उनका वत्सल स्नेह शिष्यके पास पहुँच कर ही रहता, कबीरदास तो बहुत नज़दीक थे—

कमोदिनी जल हरि बसै, चंदा बसै अकासि ।
जो जाहीका भावता, सो ताहीकै पास ॥
कबीर गुरु बसै बनारसी, सिक्ख समंदा पार ।
बिसारया नहिं बीसरै, जे गुंण होइ सरीर ॥
(क० ग्रं० पृ० ६७)

सो गुरुने इस रामनामके अलौकिक बीजको बो दिया। कबीरने इसके अंकुरको प्रेमकी धारासे सींचा (क० ग्रं० पद २१६)। धन्य है वह सुंदरी जिसने वैष्णवपुत्र पैदा किया, जिसने रामनामका सुमिरन करके निर्भयता पा ली। सारी दुनिया भटकती ही रह गई[1]। इस प्रकार सारे संसारको ढूँढ-खोज कर कबीरने ठोक-बजा कर देख लिया कि हरि विना इस दुनियामे अपना कोई नहीं है[2]। इस रामनामकी महिमा अपरम्पार है। इस मंत्रको पाते ही कबीरदास केवड़ेके फूल हो गये और भक्त लोग भौंरोकी भाँति इस सौरभशालीके चारों ओर एकत्र हो गये। जहाँ जहाँ कबीरकी भक्ति गई वहाँ वहाँ रामका निवास हो गया—

---

१ कबीर धनि वे सुंदरी जिन जाया वैस्नौ पूत ।
रांम सुमरि निरभै हुआ, सब जग गया अऊत ॥
—क० ग्रं० पृ० ५३

२ कबीर सब जग हंढिया, मंदिल कंधि चढ़ाइ ।
हरि बिन अपना कोइ नहिं, देखे ठोकि-बजाइ ॥
—वही पृ० ६१

कबीर भया है केतकी, भँवर भये सब दास।
जहँ जहँ भगति कबीरकी, तहँ तहँ राम निवास॥

—क० ग्रं० पृ० ५३

जन्म-जन्मान्तरसे नाना भवचक्रमें घूमते हुए कबीरदास थक गए थे, अकारण जीवनका व्यर्थ भार ढोते ढोते वे हैरान थे, दुःखके बोझने जब उन्हें लाचार बना दिया था, वे हारे हुए योधाकी भाँति संसारको सूना देख रहे थे; ठीक ऐसे ही समय गुरुका साक्षात्कार हुआ। प्रेमभक्तिके महारससे गुरुका भाण्डार परिपूर्ण था, उन्होंने बड़ी कृपा-पूर्वक वह महारस कबीरको दे दिया। इस प्रेम-भक्तिके असाधारण रसको पाकर वे धन्य हो गए—

धावत जोनि जनम-भरि थाके
अब दुखकै हम हारयौ रे।
कहि कबीर गुरु मिलत महारस
प्रेम-भगति विस्तारयौ रे॥

(पृ० २९२)

कबीरदास मनुष्य थे, पर इस प्रेम रसके पानसे देवता हो गए। बलिहारी है उस महागुरुकी जिसने मनुष्यको देखते देखते देवता बना दिया!—

बलिहारी गुर आपणौं द्यौं हाड़ी कै बार।
जिनि मानिषतैं देवता, करत न लागी बार!

(पृ० १७)

और इस प्रकार द्रविड़ देशमें उपजी हुई जिस भक्तिको रामानन्द उत्तराखण्डमें ले आए थे उसे कबीरने सप्तद्वीप और नौ खण्डोंमें व्याप्त कर दिया—

भक्ती द्राविड़-ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीरने, सप्तद्वीप-नवखण्ड।

(स० क० सा० १५।१)

---

# ११–'सन्तो, भक्ति सतो गुरु आनी'

कबीरदासने बार बार कहा है कि सद्गुरु भक्ति ले आए हैं[1]। यह भक्ति क्या है ? कबीरदासकी इस भक्तिकी व्याख्या करनेका प्रयास बहुतोंने किया है। पर या तो उन्हें अपढ गँवार समझ कर इस प्रकार समाधान कर लिया गया है कि उन्हें निर्गुण सगुण और द्वैत-अद्वैत आदि किसी भी विषयका ठीक ठीक ज्ञान नहीं था या फिर उन्हें सर्वज्ञ सर्व-नियन्ता समझ कर उनके नामपर विचित्र विचित्र बातोंका 'सागर' निर्माण किया गया है और मनमानी कथायें तैयार करके सम्प्रदायके लोगोंको भुलावा देनेका प्रयत्न किया गया है। दोनो ही राहें गलत हैं। प्रथम पक्ष तो यही नहीं समझ पाता कि निर्गुण अद्वैतके साथ भक्ति कैसे चल सकती है ? पाठकोंने अब तक देख लिया होगा कि कबीर तात्त्विक दृष्टिसे अद्वैतवादी नहीं थे और उनके 'निर्गुण राम'में और वेदान्तियोंके पारिभाषिक 'निर्गुण ब्रह्म'में मौलिक भेद है। फिर भी इसमें तो कोई संदेह नहीं कि कबीरदास रामको रूप रेखा, आकार-प्रकार, द्वैत-अद्वैत, भाव-अभावसे परे समझते थे ( देखिये ऊपर पृ० १२२–१२७ )। प्रश्न यह है कि क्या ऐसा रूपातीत भगवान भक्तिका विषय हो सकता है ?

इस प्रश्नका उत्तर बहुत कठिन नहीं है। सर्ववादि-सम्मत मत यह है कि भक्ति भगवद्विषयक प्रेमको ही कहते हैं ( नारद-भक्ति-सूत्र, १-२ )। भक्ति-रसामृत-सिंधुमें इसी बातको इस प्रकार कहा गया है कि अनुकूल भावसे भगवान्‌के विषयमें अनुशीलन करना ही भक्ति है। यह अनुशीलन ज्ञान और कर्मसे ढँका हुआ नहीं होना चाहिए और न अनुशीलन करनेवालेके हृदयमें भगवान्‌की भक्तिके सिवा और कोई अभिलाषा होनी चाहिऐ[2]। भगवद्विषयक यह जो अहैतुक या कारण-

---

१ बीजक० शब्द० १; क० वच० पृ० १२५ पद ६६;

२ अन्याभिलषिता-शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

—भ० र० सि० १।९

रहित प्रेम है वह न तो निरुपाधिक स्वरूपके लिये असंभव है और न अद्वैत भावनाके विरुद्ध। नारद-पंचरात्रमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि भगवान्‌के सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त स्वरूपको तत्पर होकर (अर्थात् अनन्य-भावसे) समस्त इन्द्रियों और मनके द्वारा सेवन करना ही भक्ति है[1]। अद्वैत-भावना भक्तिके मार्गमें बाधक नहीं है इसके प्रमाण हैं, तुलसीदास, शंकराचार्य और अन्यान्य बहुतेरे शैव और तान्त्रिक साधक। इस भावनाके अनुसार जीव वस्तुतः भगवानका ही रूप है जो भ्रमवश अपनेको पृथक् समझ रहा है। इस अंशकी अपने स्वाभाविक रूपमें फिर जानेकी जो चेष्टा है वह अभेद-मूलक आकर्षण है। नदीके प्रवाहका प्रत्येक बिन्दु जो समुद्रकी महान् सत्तामें विलीन होनेके लिये दौड़ लगा रहा है वह इसी अभेद-प्रतीति-जन्य प्रेमके कारण[2]। भक्तिके आचार्य मानते हैं कि भगवान्‌का स्वरूप मानवीय चिन्तन-शक्तिके वशका नहीं है। वह अचिन्त्य है। अनन्त है उसकी शक्ति और अगम्य है उसकी मूर्ति। कबीरदासने इसी बातको समझानेके लिये भगवान्‌को अविगत-अकल-अनूपम कहा है ( क० ग्रं० पद ६ ); अच्यंत और अकथ बताया है ( पद ३६ ); गूंगेका गुड़ ( पद ६८ ) और शर्करा ( पद १५६ ) कहा है।

भक्त लोग मानते हैं कि इस अनन्त अचिन्त्य भगवान्‌को सच्चिदानंद कह कर

---

१ सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशं सेवनं भक्तिरुच्यते॥

—भ० र० सि० १।१२

२ तु०—दरियावकी लहर दरियाव है जी,
दरियाव औ लहर भिन्न कोयम।
उठे तो नीर है बैठता नीर है,
कहो किस तरह दूसरा होयम।
उसीके नामको फेरके लहर धरा
लहरके कहे क्या नीर खोयम।
जक्त ही फेर सब जक्त है ब्रह्ममें
ज्ञान करि देख कब्बीर गोयम।

—क० वच० पृ० १३१-२ पद ८०

यद्यपि विधिरूपसे कथंचित् समझाया जा सकता है ( क्योंकि श्रुतियोमे नेति नेति कह कर उसे निषेध रूपमे ही समझाया गया है, केवल ' सत्-चित्-आनंद ' कह कर ही उसके विधि-रूपकी ओर इशारा किया गया है ) फिर भी हम नहीं जानते कि सत्ता ( सत् ), चैतन्य ( चित् ) और आनदके अतिरिक्त उसमे और क्या है। कितने ही भक्त होते हैं जो उसके अंश-विशेषके साथ ही अपनी अभिन्नता अनुभव करके आत्माराम हो रहते हैं। वे भगवान्के केवल चैतन्य-अंशके साथ अपने चित्स्वरूपको अभिन्न समझ लेते हैं। ऐसे ही भक्त अद्वैत-वेदान्ती हैं। यद्यपि वे अपनेको ज्ञानमार्गी कहते हैं तथापि वे भी वस्तुतः भगवान्के परम प्रेमके ही साधक हैं। एक और प्रकारके साधक हैं जो माया और परम-पुरुषको अलग अलग कर शक्ति और शक्तिमानके भेदको कभी भूलते ही नहीं। ये ऐश्वर्यरूपके उपासक भी वस्तुतः भगवान्के परम प्रेमके ही उपासक हैं। भगवान्का प्रेम एक और अखण्ड है। उसके अंश-विशेषके प्रति आसक्ति प्रकट करने-मात्रसे उसकी अखंडता खण्डित नहीं होती। भक्तिके साथ इन साधना-मार्गोंका कोई विरोध तो क्या होगा, वे सभी वस्तुतः भक्तिके ही प्रकार हैं। यही दिखानेके लिये श्रीमद् जीवगोस्वामिपादने भागवत-संदर्भमें पहले ही भगवान्के इस अखण्ड-प्रेम-परिपूर्ण रूपकी वंदना इस प्रकार की है—

यस्य ब्रह्मेति संज्ञां क्वचिदपि निगमे याति चिन्मात्र-सत्ता-
प्यंशो यस्यांशकैः स्वैर्विदधति वशयन्नेव माया पुमांश्च।
एकं यस्यैव रूपं विलसति परमव्योम्नि नारायणाख्यं
स श्रीकृष्णो विधत्ता स्वयमिह भगवान् प्रीतिं तत्पादभाजान्॥

( भागवत संदर्भ १।८ )

जो लोग भक्तिमूलक वाणियोंको ऊपर ऊपरसे ही खुरचकर रस निकाल लेना चाहते हैं उन्हें उस रसका साक्षात्कार नहीं हो सकता। भक्ति भाग्यकी चीज़ है, प्रेम-प्रीतिका विषय है, उसको पानेके लिये प्रेम चाहिये। सारा जगत् ही भक्तिसे भरा है पर जिसमें प्रेम नहीं है, वह उसे नहीं पा सकता—

भाग बिना नहिं पाइये, प्रेम-प्रीतिकी भक्त।
बिना प्रेम नहीं भक्ति कछु, भक्ति परयो सब जक्त॥

( स० क० सा० १५।११ )

भक्तिका साहित्य भी प्रेमकी अपेक्षा रखता है।

भक्तोंका यह भी दावा है कि वेदान्तमें जिसे 'ब्रह्म-जिज्ञासा' या ब्रह्मकी जानकारीकी इच्छा कहा गया है वह वस्तुतः भक्ति ही है, क्योंकि, कठोपनिषद्में (२।२२) साफ साफ कहा गया है कि 'परमात्मामे जिसकी भक्ति-श्रद्धा है उसीसे परमात्मा प्रसन्न होते हैं' और वे जिससे प्रसन्न होते हैं वही जिज्ञासा आदिके द्वारा उन्हें प्राप्त करता है। और फिर यह अत्यन्त मोटी सी बात है कि जब तक श्रद्धा और प्रेम अधिक नहीं हो जाते तब तक जाननेकी इच्छा (जिज्ञासा) भी नहीं जागती। इसीलिये मानो वेदान्त दर्शनके प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' की कमीको पूरा करनेके लिये ही भक्ति सूत्रकारने कहा, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। सा परानुरक्तिरीश्वरे' (अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा और कुछ नहीं ईश्वरविषयक परम अनुरक्ति ही है)। 'बोधसार'में आचार्य नरहरिपादने भी कहा है कि जिसे वेदान्तमें अपरोक्षानुभूति कहते हैं वह वस्तुतः प्रेम-लक्षणा भक्तिका ही परिणाम है[2]। और भागवतमें अहैतुक निष्काम भक्तिका फल वैराग्य और ज्ञान ही बताया गया है[3] जो वेदान्तका भी लक्ष्य है।

अब यह मानी हुई बात है कि प्रेम आश्रय-भेदसे भिन्न हो जाता है। रूप-गोस्वामिपादने कहा भी है कि स्वभाव, संस्कार और रुचिवश भक्त लाखों तरहके हो सकते हैं। इसीलिये भक्तिके अंग और भेद भी अनन्त प्रकारके कल्पना किए जा सकते हैं या फिर एक ही भेद माना जा सकता है। वह इस प्रकार कि भक्ति एक ही है, केवल आश्रय भेदसे अनेक प्रकारकी दीखती है। (भ० र० १। ४२-३)। भक्ति-शास्त्रीय ग्रंथोंमें जो अंग और भेद गिनाए गए हैं वे उपलक्षण-मात्र हैं। वस्तुतः जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है, हरि भी

---

१ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्॥—कठो० पृ० ६

२ अपरोक्षानुभूतिर्या वेदान्तेषु निरूपिता।
प्रेमलक्षणभक्तेः स परिणामः स एव हि॥

३ वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्।

—भागवत० १-२-१

अनन्त हैं, उनकी कथा भी अनन्त है और श्रुति तथा सन्त उसका अनन्त भाँतिसे भजन भी करते हैं—

हरि अनन्त हरि-कथा अनन्ता।
बहु प्रकार गावहिं श्रुति-सन्ता॥

सो, गुरुपदाश्रय प्रभृति जो भेद भक्ति-शास्त्रोंमे बताये गये हैं वे अन्तिम और पूर्ण नहीं हैं। श्रवण कीर्तन आदि प्रकार भी उपलक्षण ही भर हैं। भक्तिके लिये केवल एक ही बात आवश्यक है,—अनन्यभावसे भगवान्की शरणागति, अहैतुकप्रेम, बिलाशर्त आत्मसमर्पण। कबीरदासमे इन बातोंकी चरम परिणति हुई है। वे गोविंदको बार बार पुकार कर कहते हैं, 'हे गोविंद, मैं तुम्हारी शरण आया हूँ, क्यों नहीं मुझे उबार देते? वृक्षके नीचे आदमी छायाके लिए जाता है; अगर उस वृक्षसे ही ज्वाला निकलने लगे तो उपाय ही क्या रह जायगा? आदमी पानी पी कर शीतल होनेके लिये जलाशयमें जाता है पर अगर वहाँसे आगकी लपटें निकलने लगें तो क्या किया जा सकता है? हे नाथ, कबीर केवल तुम्हींको जानता है, वह तुम्हारे ही शरण आया है। पर कैसे आश्चर्यकी बात है कि तुम्हीं उसे जला रहे हो। हे गोविन्द, सचमुच ही तुम डरने-की चीज़ बन गये हो। कहाँ तो तुम्हे अपने प्रेम-पीयूषसे शरणागतकी रक्षा करनी थी, सो तो तुमने की नहीं उल्टे वियोगकी वह्निमे झुलसाने लगे! (पद ११२) "अजी ओ गुसाईं, मैं गुलाम हूँ, मुझें बेच दो। यह सारा तन-मन-धन तेरा है और तेरे ही लिये है। राम ही गाहक है, राम ही सौदागर। कबीरने तो तन

---

१ गोव्यंदे, तुम्हथैं डरपौं भारी।
सरणाई आयौ क्यूं गहिये, यह कौन बात तुम्हारी।
धूप-दाझतैं छाँह तकाई, मति तरवर सचपाऊँ
तरवरमाहैं ज्वाला निकसै, तौ क्या लेइ बुझाऊँ॥
बजे न जलै त जलकूं धावै, मति जल सीतल होई।
जलही माँहि अगिनि जे निकसै, और न दूजा कोई।
तारण-तिरण तिरण तू तारण, और न दूजा जानौं।
कहै कबीर सरनाई आयौं, आन देव नहि मानौं॥

—क० ग्रं० पद ११२

और मन निछावर करके अपने आपको रामपर कुर्बान कर दिया है !" (पद ११३) "बालमके बिना कबीरदासकी आत्मा तड़प रही है। दिनको चैन नहीं, रातको नींद नहीं। सेज सूनी है, शरीर चर्खा बन गया है। आँखें थक गई हैं, राह दिखती नहीं। हाय रे बेदरदी पिया, तूने सुध भी नहीं ली !"[2] "हाय, वह विरहकी मारी वियोगिनी पिऊ पिऊ करके जान दे रही है। किन्तु निर्गुण है वह पीव,—निर्मोही है वह भगवान्! शून्य-सनेही राम ही उसके एक-मात्र आराध्य हैं और कौन है जो उस पतिप्राणाका दर्शनीय बन सके[3]?" "हाय कबीरदासके वे दिन कब आवेंगे जब उनका जीवन सफल होगा, देह धरनेका फल प्राप्त होगा, जब पियके साथ अगमें अंग मिला कर रभस आलिंगनका मौका मिलेगा, जब वे प्रियके साथ हिल-मिल कर खेलेंगे, जब उनके शरीर और इन्द्रिय, मन और प्राण पियतममें एकरूप हो जायँगे। न जाने रामराजा यह

---

१ मैं गुलाम मोहि बेंचि गुसाईं।
तन-मन-धन मेरा रामजीकै ताईं।
आनि कबीरा हाटि उतारा,
सोइ गाहक सोइ बेंचनिहारा।
बेंचै राम तो राखै कौन,
राखै राम तो बेंचै कौन।
कहै कबीर मैं तन-मन जारया।
साहिब अपना छिन न विसारया।

२ तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ तलफकै भोर किया।
तन-मन मोर रहँट-अस डोलै, सून सेजपर जनम छिया।
नैन थकित भये पंथ न सूझै, सांईं बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरो पीर दुख जोर किया।

—क० बच० पृ० १४१

३ मैं अबला पिउ पिउ करूँ, निर्गुन मेरा पीव।
शून्य-सनेही राम बिन, देखूँ और न जीव॥

—स० क० सा० २७।२४

कामना कब पूरी करेंगे[1] ! हाय, विरहकी मारी कबीरदासकी आत्मा पिया-मिलनकी आशा लेकर कब तक खड़ी रहे ! पियाका निवास ऊँचेपर है। वहाँ जानेमें कितनी झिझक है, कितनी लज्जा ! पैर उठते ही नहीं, उठते हैं तो तलमला जाते हैं। सात्त्विक भावके कम्प और रोमाञ्चसे सारा अंग शिथिल हो जाता है, पैर आगे पड़ते ही नहीं, प्रीति-आशंकासे हृदय अस्थिर हो उठता है। हाय, इसने कभी भी तो उस मधुर मिलनका अनुभव नहीं किया,—निपट बारी, निपट अनाड़ी है यह। सँकरा मार्ग है, अटपटी चाल है, मिलन हो तो कैसे हो ? सद्गुरुके उपदेश ही इस विपत्तिकालमें सहारा हैं[2]।" "अरे ओ परदेशी, पियाको

---

१ वै दिन कब आवैंगे माइ ।
जा कारनि हम देह धरी हैं, मिलिबौ अंग लगाइ ॥
हौं जानूं जे हिलिमिलि खेलूं, तन-मन-प्रान समाइ ।
यां कामना करौ परिपूरन, समरथ हौ रांम-राइ ।
मोंहि उदासी माधव चाहैं, चितवत रैनि विहाइ ।
सेज हमारी स्यंघ भई है, जब सोऊँ तब खाइ ॥
यहु अरदास दासकी सुनिये, तनकी तपनि बुझाइ ।
कहै कबीर मिलै जे साईं, मिलि करि मंगल गाइ ॥—क० ग्रं० पद ३०६

२ पिया-मिलनकी आस, रहौं कबलौं खरी ।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय, मने लज्जा भरी ॥
पांव नहीं ठहराय, चढूं गिर गिर परूं ।
फिरि फिरि चढउँ सम्हारि, चरन आगे धरूं ॥
अंग अंग थहराइ, तो बहुविधि डरि रहूं ।
करम-कपट मग घेरि, तो भ्रममें परि रहूं ॥
बारी निपट अनारि, ये तो झीनी गैल है ।
अटपट चाल तुम्हार, मिलन कस होइहै ॥
छोरो कुमति-विकार, सुमति गहि लीजिये ।
सतगुरु शब्द सम्हारि, चरन चित दीजिये ॥
अन्तरपट दे खोल, शब्द उर लावरी ।
दिलबिच दास कबीर, मिलै तोहिकों बावरी ॥—क० वच० पृ० १४१-२

पहचान ले। कुछ समझमें नहीं आता कि तुझे हो क्या गया है, कौन-सी बुरी आदत तूने सीख ली है? सारी दुनियाका चक्कर मार कर तूने क्या कर लिया, अरे ओ भलेमानस, लाभकी आशामें मूल ही न गवाँ दे। झूठे प्रपंच-जालमें भूले हुए भोले, क्यों दूसरोंके हाथ बिका हुआ है? जल्दी अपने असली प्रियतमको पहचान ले। आज-कल करके समय नष्ट न कर[1]।" "क्यों सोचता है कि उस अविनाशी पियाकी सेज कैसी होगी? वह अनुमानके परे है। उसकी शोभा कह कर समझानेकी नहीं है, वह देखते ही बनती है। अरे ओ विरहिणी, चल उस अविनाशी प्रियतमकी शय्यापर केलि करनेके लिये। कबीर साक्षी हैं कि वहाँ परमानंद विलास करता है[2]!" "हाय, ऐसा कोई परोपकारी क्या नहीं है जो उस प्रियतमसे कह सके कि कबीर तेरे विरहमें झुलस रहा है? जब तक उस प्रियके साथ एकमेक हो कर मिला नहीं जाता तब तक तनकी तपन कहाँ बुझती है[3]!"

---

१ अरे परदेसी पीव पिछाँनि।
कहा भयो तोकौं, समझि न परई, लागी कैसी बाँनि॥
भोसि बिडारणी, मैं कहा रातौ, कहा कियो कहि मोंहि।
लाहै-कारनि मूल गंवायै समझावत हूं तोंहि।
निस-दिन तोहिं क्यों नींद परत है, चितवत नाहीं ताहि।
जम से वैरी सिरपर ठाढे, पर हथि कहा बिकाइ॥
झूठे परपंचमैं कहा लागौं ऊठै नाहीं चालि।
कहै कबीर कछु विलम न कीजै कौनैं देखे काल्हि॥—क० ग्रं० पद ३१२

२ अविनासीकी सेजका, कैसा है उनमान।
कहिवेकी सोभा नहीं, देखे ही परमान॥
अविनासीकी सेजपर, केलि करै आनन्द।
कहै कबीर वा सेजपर, बिल्सत परमानन्द॥
स० क० सा० १८, ७४-७५

३ है कोइ ऐसा पर-उपगारी
हरिसूँ कहै सुनाइ रे।
ऐसा हाल कबीर भये हैं,
बिनु देखे जिव जाइ रे॥—क० ग्रं० पद ३०७

यही है वह अपूर्व तन्मयता, अहैतुक प्रेम, अनन्य-परायण विश्वास और एकान्त निष्ठा जो भक्तिकी एकमात्र शर्त है। कबीर निस्सन्देह ऐसे भगवान्को मानते थे जो द्वन्द्वातीत है, पक्षातीत है, द्वैताद्वैत-विलक्षण है, त्रिगुण-रहित है, 'अपरपार पार-पुरुसोतिम' है, अकथ है, अकल है, अतीत है, परन्तु कौन भक्त भगवानको ऐसा नहीं मानता? जो लोग शास्त्रज्ञानका दावा करते हैं और फिर भी कबीरकी भक्ति और अद्वैत-भावना और निर्गुण-प्रेमको परस्पर विरोधी समझते हैं उनका उद्देश्य क्या है, यह वही जाने। हम तो दृढ़ताके साथ कहनेका साहस करते हैं कि कबीरकी भक्ति और भगवद्भावनामें न तो युक्तिसे विरोध है और न शास्त्रसे। कहीं जो विरोध दीखता है तो उसका ऐतिहासिक कारण है। उसका समाधान कर लेना कठिन नहीं है। कबीरदास योग मार्गकी ओर झुके हुए थे। उनके कुलमें और कुल-गुरु-परम्परामें वह मार्ग प्रतिष्ठित था। बादमें उनका समागम रामानंदसे हुआ। यह बात कुछ असंभव नहीं कि रामानंदके प्रभावमें आनेके पूर्व उन्होंने ऐसे बहुतसे पद लिखे हों जिनमें योग-सम्प्रदायकी परंपरा-प्राप्त अक्खड़ता ही परिलक्षित होती हो और भक्ति-रसका लेश भी न हो। कबीर जैसा फक्कड़ जिस चीज़को गलत समझेगा उससे इसीलिये अनन्त काल तक चिपटा नहीं रहेगा कि वह कुल-परम्परासे आई है—

तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति!

सो जिस दिनसे महागुरु रामानंदने कबीरको भक्ति-रूपी रसायन दी उस दिनसे उन्होंने सहज-समाधिकी दीक्षा ली, आँख मूँदने और कान रूँधनेके टंटेको नमस्कार कर लिया, मुद्रा और आसनकी गुलामीको सलामी दे दी। उनका चलना ही परिक्रमा हो गया, काम-काज ही सेवा हो गये, सोना ही प्रणाम बन गया, बोलना ही नाम-जप हो गया और खाने-पीने ही पूजाका स्थान ले लिया। हठयोगके टंटे दूर हो गये, खुली आँखोंसे ही उन्होंने भगवान्के मधुर मादक रूपको देखा, खुले कानोंसे ही अनहद नाद सुना, उठते-बैठते सब समय समाधिका आनंद पाया और अत्यन्त उल्लासके आवेगमें उन्होंने घोषित किया—

साधो, सहज समाधि भली।
गुरु-प्रताप जा दिनसे उपजी, दिन दिन अधिक चली॥

जहँ तहँ डोलौं सोई परिकरमा, जो कछु करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दण्डवत्, पूजौं और न देवा॥
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन, खाँव-पियौं सो पूजा।
गिरह-उजाड़ एक-सम लेखौं, भाव न राखौं दूजा॥
आँख न मूँदौं कान न रूँधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि, सुंदर रूप निहारौं॥
सबद-निरन्तरसे मन लागा, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत-बैठत कबहुं न छूटै, ऐसी तारी लागी॥
कह कबीर यह उनमुनि-रहनी, सो परगट करि भाई।
दुख-सुखसे कोइ परे परमपद, तेहि पद रहा समाई॥

—शब्दा० शब्द ३०

धन्य हैं वे गुरु, वे सचमुच उस भ्रमरीके समान हैं जो निरंतर ध्यानका अभ्यास कराकर कीटको भी भ्रमरी (तितली) बना देती है। कीड़ा भ्रमरी हो गया, नई पाँखे फूट आईं, नया रंग छा गया, नई शक्ति स्फुरित हुई। उन्होंने जाति नहीं देखी, कुल नहीं विचारा। अपने आपमें मिला लिया। नालेका पानी गंगामें जाकर गंगा हो जाता है, कबीर भी गुरुमें मिलकर तद्रूप हो गये। धन्य हो गुरो, तुमने चञ्चल मनको पंगु बना दिया, तत्त्वमें तत्त्वातीतको दिखा दिया, बंधसे निर्बंध किया, अगम्य तक गति कर दी। केवल एक ही प्रेमका प्रसंग तुमने सिखाया पर कैसा अचरज है कि इस प्रेम-मेघकी वर्षासे यह सारा शरीर भींग गया! रससिक्त आत्मामें भक्तिका अंकुर लहलहा उठा—

कबीर बादल प्रेमका, हम परि वरष्या आइ।
अंतरि भीगीं आतमा, हरी भई बन राइ॥
पूरेसूं परचा गया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्ही आतमा, तातैं सदा हजूरि॥

—क० ग्रं० पृ० ४

# १२—व्यक्तित्व-विश्लेषण

कबीरदासकी वाणी वह लता है जो योगके क्षेत्रमें भक्तिका बीज पड़नेसे अंकुरित हुई थी। उन दिनो उत्तरके हठयोगियो और दक्षिणके भक्तोंमें मौलिक अन्तर था। एक टूट जाता था पर झुकता न था, दूसरा झुक जाता था पर टूटता न था। एकके लिये समाजकी ऊँच-नीच-भावना मज़ाक और आक्रमणका विषय थी, दूसरेके लिये मर्यादा और स्फूर्तिका। और फिर भी विरोधाभास यह कि एक जहाँ सामाजिक विषमताओंको अन्याय समझ कर भी व्यक्तिको सबके ऊपर रखता था वहाँ दूसरा सामाजिक उच्चताका अधिकारी होकर भी अपनेको 'तृणादपि सुनीचेन' (तृणसे भी गया-गुज़रा) समझता था। योगी डटकर जाति-भेदपर आघात करता था, बाह्याचार और तन्मूलक श्रेष्ठताको फटकार बताता था, पर भीतर और बाहर योग-मार्गका प्रत्येक अनुयायी अपनेको समाजके अन्य निकृष्ट जीवोंसे श्रेष्ठ समझता था, दूसरोकी बहिर्मुखी वृत्तिपर तरस खाता था, नाना प्रकारकी पेचीदी बातोंसे उसका मज़ाक बनाता था और आशा करता था कि लोग उसके अचरज-करिश्मे देखकर दाँतो तले उँगली दबा लें। भक्त जाति-भेद, वर्णाश्रम-व्यवस्था और उच्च नीच मर्यादाको शिरसा स्वीकार कर लेता था, अपनेको भवसागरमें भटकता हुआ गुमराह प्राणी मानता था, अपनी पुरानी पाप-भावनाके लिये बार बार पश्चात्ताप करता था और आशा करता था कि सर्वान्तर्यामी भगवान् उसके हार्दिक अनुतापको जरूर सुन लेंगे और भवबंधनसे उसे मुक्त कर देंगे। एकको अपने ज्ञानका गर्व था, दूसरेको अपने अज्ञानका भरोसा; एकके लिये पिंड ही ब्रह्माण्ड था और दूसरेके लिये समस्त ब्रह्माण्ड भी पिंड; एकका भरोसा अपनेपर था दूसरेका रामपर; एक प्रेमको दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञानको कठोर; एक योगी था दूसरा भक्त।

साधारण जनतामें इन दोनोंसे दो प्रकारकी प्रतिक्रिया हुई। एकने श्रद्धालु गृहस्थके चित्तमें शंकाका भाव पैदा कर दिया। वह सोचने लगा कि माया विकराल है, इससे छुटकारा पाना कठिन है, सिद्धिका मार्ग विघ्न-संकुल है। योग-क्रिया-हीन व्यक्तिकी न जाने कौन-सी दुर्गति होगी, चौरासी लाख योनियोंमें न जाने वह कब तक भटकता फिरेगा। भवजाल विकट है, मायाचक्र अनन्त है,

साधन-मार्ग दुरधिगम्य' है, विघ्नोंकी वाहिनी रास्ता रोके खड़ी है और गृहस्थ लाचार है। दूसरे ( भक्त ) ने उसे लापरवाह बना दिया। गलतीसे भी एक बार हरिनाम जिसने ले लिया उसे कुछ और करनेकी ज़रूरत नहीं, विष्णुका तिलक एक बार अगर सिरपर चढ़ गया तो वैकुंठका दरवाजा खुला है, तुलसीकी माला यदि किसी प्रकार मिल गई तो गोलोकमें स्थान निश्चित है, कलियुग सब युगोंसे अच्छा है क्यों कि इसमें मानस-पापका कुछ फल नहीं होता किन्तु मानस-पुण्यका पूरा फल मिलता है। रामका नाम रामसे भी बड़ा है, भयकी कोई जरूरत नहीं। योगने गृहस्थको ज़रूरतसे ज्यादा संशयालु बना दिया था, भक्तिने पूरा आशा-वादी। एक ने मुक्तिको महँगा सौदा बना दिया दूसरेने बहुत सस्ता। योगमें गलदश्रु भावुकताको कोई स्थान नहीं। जो भक्ति पद पदपर भक्तको कम्प, आवेग जड़ता और रोमोद्गमकी अवस्थामें ले आ देती है वह इस क्षेत्रमें अपरि-चित थी। और यदि सचमुच ही भाग और विभाग कल्पित हैं, कल्प विकल्प बेकार हैं, संसार मृगमरीचिका है, परमतत्त्व विभाग और अविभागसे परे है, सूक्ष्म और स्थूलके अतीत है,—यदि वह एक-रस है, सम-रस है तो फिर रोनेसे होता क्या है? अखण्ड-चैतन्यस्वरूप अमायिक परमपुरुषके सामने यह विलाप क्यों? उस गुण-हीन, विकारहीन, दया-माया-हीनकी पूजा क्या और स्तुति क्यों। निर्ममता और अमायिकता योगकी पहली शर्त है। इसीलिये वह अपने अनु-यायीको अक्खड़ बना देता है। कबीरदासने यह अक्खड़ता योगियोंसे विरासतमें पाई थी। संसारमें भटकते हुए जीवोंको देखकर करुणाके अश्रुसे वे कातर नहीं हो आते थे बल्कि और भी कठोर होकर उसे फटकार बताते थे। वे प्रह्लादकी

---

१ अविवेक-विवेक-विबोध इति, अविकल्प-विकल्प-विबोध इति।
यदि चैकनिरन्तरबोध इति, किमु रोदिषि मानस-सर्वसमः॥
बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति यतो, वियदादिरिदं मृगतोयसमः।
यदि चैकनिरन्तरसर्वसमः, किमु रोदिषि मानस सर्वं समः॥
सविभक्ति-विभक्तिविहीनपरम्, अणुकाय-विकाय-विहीन परम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवः, यजनं च कथं स्तवनं च कथम्॥

—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहमें अवधूत-
गीताके वचन, पृ० ३५

भाँति सर्व जगत्‌के पापको अपने ऊपर ले लेनेकी वाञ्छासे ही नहीं विचलित पड़ते थे वल्कि और भी कठोर और भी शुष्क होकर सुरत और निरतका उपदेश देते थे। संसारमें भरमनेवालोंपर दया कैसी, मुक्तिके मार्गमे अग्रसर होनेवालोंको आराम कहाँ, करमकी रेखपर मेख न मार सका तो सन्त कैसा—

ज्ञानका गेद कर सुर्तका डंड कर
खेल चौगान-मैदानमाँहीं।
जगतका भरमना छोड़ दे बालके
आय जा भेष-भगवंत पाही॥
भेष-भगवंतकी शेष महिमा करे
शेषके सीसपर चरन डारै।
कामदल जीतिके कँवल-दल सोधिके
ब्रह्मको बेधिके क्रोध मारै॥
पदम-आसन करै पौन परिचै करै।
गगनके महलपर मदन जारै।
कहत कब्बीर कोइ सन्त-जन जौहरी
करमकी रेखपर मेख मारै॥

शब्दा० पृ० ५९

परन्तु अक्खड़ता कबीरदासका सर्व प्रधान गुण नहीं है। जब वे अवधू या योगीको संबोधन करते हैं तभी उनकी अक्खड़ता पूरे चढावपर होती है। वे योगके विकट रूपकोका अवतरण करते हैं, गगन और पवनकी पहेली बुझाते रहते हैं, सुन्न और सहजका रहस्य पूछते रहते हैं, द्वैत और अद्वैतके तत्त्वकी चर्चा करते रहते हैं और अवधूके अज्ञानपर कुटिल हँसी सी हँसा करते हैं—

अवधू, अच्छरहूँसो न्यारा।
जो तुम पवना गगन चढाओ, करो गुफामें बासा।
गगना-पवना दोनों विनसैं, कहँ गया जोग तुम्हारा॥
गगना-मद्धे जोती झलके, पानी-मद्धे तारा।
घटिगे नीर बिनसिगे तारा, निकरि गयौ केहि द्वारा॥
मेरुदंडपर डारि दुलैची, जोगी तारी लाया।
सोइ सुमेरपर खाक उड़ानी, कच्चा योग कमाया॥

इँगला बिनसै पिंगला बिनसै, बिनसै सुषमनि नाड़ी ।
जब उनमनिकी तारी टूटै, तब कहँ रही तुम्हारी ॥
अद्वैत-विराग कठिन है भाई, अँटके मुनिवर-जोगी ।
अच्छर-लौकी गम्म बतावै, सो है मुक्ति-विरोगी ॥
कह अरु अकह दुहूँतें न्यारा, सत्त-असतके पारा ।
कहैं कबीर ताहि लख जोगी, उतरि जाव भव-पारा ॥

इसी भाषाको योगी समझते थे । ठीक भी है, यदि समाधि-मात्रगम्य निर्ममकी भजन-पूजा विहित नहीं है तो योगीसे भी तो उलटके उसी शुष्कता और उसी निर्ममताके साथ पूछा जा सकता है कि बाबा, उन्मनि तक तो ठीक है, वहाँ तुमने मौना, कि अक्षर-पुरुषका साक्षात्कार कर लिया परन्तु फिर? जब समाधि भग हुई,—जब उनमनिकी तारी टूटी, तब ? तब तो फिर उसी भवजालमें फिर लौट आये । अब तुम्हारी क्या गति होगी ? सो, कबीरदास अवधूसे बात करते समय पूरी अक्खडतासे काम लेते हैं और अपने व्यक्तित्वको बहुत ऊँचे उठाकर बोलते हैं, क्योंकि वे अवधूके इस मनोभावको पहचानते हैं । एक बार अगर उसे अपने व्यक्तित्वको ऊपर उठा ले जानेकी छूट दे दी गई तो फिर उससे पार पाना कठिन है । विरोधीके ही अस्त्रसे विरोधीको घायल करनेकी कलामें कबीरदास उस्ताद हैं । गगन और पवनके बलपर आतंक जमानेवालेसे यह छोटा-सा प्रश्न कितना सहज और फिर भी कितना तिलमिला देनेवाला है : गगना-पवना दोनो बिनसै कहँ गया जोग तुम्हारा ?

यह उनकी अनधिकार चर्चा नहीं थी । वे समाधिगम्य परमपुरुषका साक्षात्कार कर चुके थे, पवनको उलटकर सहस्रार चक्रमें ले जा चुके थे, वहाँके गगनका अनन्य-साधारण गर्जन सुन चुके थे, अशेष-अमृत-वर्षी पावसका अनुभव कर चुके थे, उस महान् पदको देख आये थे जहाँ कोई विरला ही जा सकता है, जहाँ वेद और कत्तेबकी गम नहीं है, जहाँकी गगन-गुफामें किसी गैबकी चाँदनी छिटकी हुई है, जहाँ उदय और अस्तका नाम भी नहीं है, जहाँ दिन और रातकी पहुँच नहीं है,—जो प्रेमके प्रकाशका समुद्र है, जो सदानन्दका विशाल निर्झर है, जो भ्रम और भ्रान्तिसे परे है, जो एक-रस है, ब्रह्मकी छौलमें (आनन्दमें) वे निश्चितरूपसे झूल चुके थे—

करत कल्लोल दरियावके बीचमें,
ब्रह्मकी छौलमे हंस झूलै ।
अर्ध औ' ऊर्ध्वकी पेग बाढी तहाँ,
पलट मन पवनको कँवल फूलै ॥
गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै,
होत झनकार नित बजत तूरा ।
बेद-कत्तेबकी गम्म नाहीं तहाँ,
कहैं कब्बीर कोइ रमै सूरा ॥
गगनकी गुफा तहँ गैबका चाँदना,
उदय और अस्तका नाम नाही ।
दिवस औ रैन तहँ नेक नहिं पाइये,
प्रेम-परकासके सिंधु-माहीं ॥
सदा आनन्द दुख-दन्द ब्यापै नहीं,
पूरनानन्द भरपूर देखा ।
भर्म और भ्रान्ति तहँ नेक आवै नहीं,
कहैं कब्बीर रस एक पेखा ॥

—शब्दा० पृ० १०४

परन्तु वे स्वभावसे फक्कड़ थे । अच्छा हो या बुरा, खरा हो या खोटा, जिससे एक बार चिपट गये उससे ज़िंदगीभर चिपटे रहो, यह सिद्धान्त उन्हें मान्य नही था । वे सत्यके जिज्ञासु थे और कोई मोह-ममता उन्हें अपने मार्गसे विचलित नहीं कर सकती थी । वे अपना घर जला कर हाथमे मुराड़ा लेकर निकल पड़े थे और उसीको साथी बनानेको तैयार थे जो उनके हाथों अपना भी घर जलवा सके—

हम घर जारा आपना, लिया मुराड़ा हाथ ।
अब घर जारौं तासुका, जो चलै हमारे साथ ॥

—स० क० सा० ५।८

वे सिरसे पैर तक मस्त-मौला थे । मस्त,—जो पुराने कृत्योंका हिसाब नहीं रखता, वर्तमान कर्मोंको सर्वस्व नहीं समझता और भविष्यमें सब कुछ झाड़-फटकार निकल जाता है । जो दुनियादार किये-करायेका लेखा-जोखा दुरुस्त रखता है वह मस्त नहीं

हो सकता । जो अतीतका चिट्ठा खोले रहता है वह भविष्यका क्रान्तदर्शी नहीं बन सकता । जो इश्कका मतवाला है वह दुनियाके माप-जोखसे अपनी सफलताका हिसाब नहीं करता । कबीर जैसे फक्कड़को दुनियाकी होशियारीसे क्या वास्ता । वे प्रेमके मतवाले थे मगर अपनेको उन दीवानोंमें नहीं गिनते थे जो माशूकके लिये सरपर कफन बाँधे फिरते हैं, जो बेकरारीकी तड़पनमें इश्कका चरम फल पानेका भान करते हैं, क्योंकि बेकरारी उस वियोगमें होती है जिसमे प्रिय दूर हो, —उसे पाना कठिन हो । पर जहाँ प्यारेसे एक क्षणके लिये भी विछोह नहीं, वहाँ तड़पन कैसी ? जो गगरी भरी है उसमें छलकन कहाँ ? जहाँ द्वैतभावना ही मिट गई हो उस अजब मस्तीमें बेचैनी कहाँ ?—

हमन हैं इश्क मस्ताना, हमनको होशियारी क्या ।
रहें आज़ाद या जगसे, हमन दुनियासे यारी क्या ।
जो बिछुडे हैं पियारेसे, भटकते दर-बदर फिरते ।
हमारा यार है हममें, हमनको इन्तज़ारी क्या ।
खलक सब नाम अपनेको, बहुत कर सिर पटकता है ।
हमन गुरुनाम साँचा है, हमन दुनियासे यारी क्या ।
न पल बिछुड़े पिया हमसे, न हम बिछुड़ें पियारेसे
उन्हींसे नेह लागी है, हमनको बेकरारी क्या ।
कबीरा इश्कका माता, दुईको दूर कर दिलसे ।
जो चलना राह नाज़ुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या ॥

शब्दा० पृ० १६–१७

इसीलिये ये फक्कड़ राम किसीके धोखेमे आनेवाले न थे । दिल जम गया तो ठीक है और न जमा तो राम राम करके आगे चल दिये । योग-प्रक्रियाको उन्होंने डटके अनुभव किया, पर जँची नहीं । उन नकटोंके समान चुप्पी साधना उन्हें मालूम न था जिन्होंने इस आशापर नाक कटा ली थी कि इस बाधाके दूर होते ही स्वर्ग दिखाई देने लगता है । उन्हें यह परवा न थी कि लोग उनकी असफलतापर क्या क्या टिप्पणी करेंगे । उन्होंने बिना लाव-लपटके, बिना झिझक और संकोचके ऐलान किया—

आसमानका आसरा छोड प्यारे,
उलटि देख घट अपना जी ।

तुम आपमें आप तहकीक़ करो,
तुम छोड़ो मनकी कलपना जी।
क० व० पृ० १३३, पद ८७

आसमान अर्थात् गगन-चन्द्रकी परम ज्योति। जो वस्तु केवल शारीरिक व्यायाम और मानसिक शम-दमादिका साध्य है वह चरम सत्य नहीं हो सकती। योगी लोग एक प्रकारकी जड़-समाधिकी बात स्वीकार करते हैं जिसमें योगी लक्ष्य-भ्रष्ट होकर जड़ शारीर-विकारको सिद्धि समझने लगता है। जो परम-पुरुष योगका परम प्रतिपाद्य है, आत्म-गम्य है, वह आँख और कानका विषय नहीं है। केवल शारीरिक और मानसिक कवायदसे दीखनेवाली ज्योति जड चित्तकी कल्पना-मात्र है। वह भी बाह्य है। कबीरने कहा, और आगे चलो। केवल क्रिया बाह्य है, ज्ञान चाहिए। बिना ज्ञानके योग व्यर्थ है। केवल पिंडमें,—तत्रापि गगन-गुफामें या शून्यचक्रमें यदि घटघटवासी मिलता है तो कहीं बिसमिल्ला ही ग़लत हो गया है। अगर कहते हो कि वह केवल भीतर ही है तो बाहरका यह सारा विश्वब्रह्माण्ड मारे लज्जाके पानी पानी हो जाता है। क्या गगन-गुफाके बाहर सब कुछ भगवानके बाहर है, क्या उसके कण-कणमें प्रभु व्याप्त नहीं हैं, क्या वह व्यर्थ ही जगत्में पड़ा हुआ है? पर अगर इसीकी ओर ताकें, यही मान लें कि बाहरकी सारी दुनियामें ही वह परम-पुरुष रम रहा है और भीतर उससे शून्य है तो यह बात झूठ है। कबीरदासने कितनी ही बार 'कमल-कुआमें ब्रह्मरस' का पान किया था, गगनसे झरते हुए अमृतरसका आस्वादन किया था। यह झूठ है कि वह परम-पुरुष भीतर नहीं है। जो कहता है कि वह भीतर ही है बाहर नहीं, वह सारे बाह्य जगत्को व्यर्थ ही लज्जित करता है और जो कहता है कि वह भीतर है ही नहीं, वह झूठा है। कबीरदास हैरान हैं कि क्या कहकर इस अकथ-कथाको कहैं—

ऐसा लो, नहिं तैसा लो।
मैं केहि विधि कथौं, गँभीरा लो।
भीतर कहूँ, तो जगमय लाजै
बाहर कहूँ, तो झूठा लो।
बाहर-भीतर, सकल निरन्तर
गुरु-परतापैं दीठा लो।

कबीरकी यह घरफूँक मस्ती, फक्कड़ाना लापरवाही और निर्मम अखण्डता उनके अखण्ड आत्मविश्वासका परिणाम थी। उन्होंने कभी अपने ज्ञानको, अपने गुरुको और अपनी साधनाको संदेहकी नज़रोंसे नहीं देखा। अपने प्रति उनका विश्वास कहीं भी डिगा नहीं। कभी ग़लती महसूस हुई तो उन्होने एक क्षणके लिए भी नहीं सोचा कि इस गलतीके कारण वे स्वयं हो सकते हैं, उनके मतसे गलती बराबर प्रक्रियामें होती थी, मार्गमें होती थी, साधनमे होती थी। शायद उनके नामपर चलनेवाले हजारों भजनोंमेंसे एक भी हमारे इस कथनके प्रतिवादमें नहीं उद्धृत किया जा सकता। उनकी अखण्ड आत्म-निष्ठामें एक क्षणके लिये भी दुर्बलता नहीं दिखाई दी। वे वीर साधक थे, और वीरता अखण्ड आत्मविश्वासको आश्रय करके ही पनपती है। कबीरके लिये साधना एक विकट संग्रामस्थली थी जहाँ कोई विरला शूर ही टिक सकता था। जिसे अपने सिरको उतारकर रख देनेकी कला नहीं आती वह इस मार्गका राही नहीं बन सकता—

पकरि समसेर मैदानमें पैसिये,
देह-परजन्त करु जुद्ध भाई।
काट सिर बैरियाँ दाब जहँका तहाँ,
आय दरबारमे सीस नाई॥
करत मतवाल जहाँ सन्त-जन सूरमा,
घुरत निस्सान तहँ गगन धाई।
कहै कब्बीर अब नामसों सुरखरू,
मौज दरबारकी भक्ति पाई॥

शब्दा० पृ० १०६

कबीर जिस साँईकी साधना करते थे वह मुफ्तकी बातोंसे नहीं मिलता था। उस रामसे सिर देकर ही सौदा किया जा सकता था—

साँई सेंत न पाइये बाताँ मिलै न कोय।
कबीर सौदा राम-सों सिर-बिन कदै न होय॥

स० क० सा० ८५-४६

रामानन्दकी प्रेम-भक्तिका यह एक अभूतपूर्व परिणाम हुआ। भक्तिके अश्रु, स्वेद, कम्प आदि महाभाव हवा हो गये। भगवान्‌का प्रेम बड़ी चीज़ है, पर उस बड़ी चीज़को पानेकी साधना भी बड़ी होनी चाहिये। प्रेमका यह व्यापार कुछ

खालाका घर नहीं है कि बात बातपर मचल गये और फरमाइश पूरी हुई। यहाँ तो वही प्रवेश पानेका हकदार है जो पहले सिर उतार कर धरतीपर रख दे—

कबीर यहु घर प्रेमका, खालाका घर नाहिं।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घरमाँहि ॥
कबीर निज घर प्रेमका, मारग अगम-अगाध।
सीस उतारि पगतलि धरै, तब निकटि प्रेमका स्वाद ॥

—क० ग्र० पृ० ६९

यह प्रेम किसी खेतमे नहीं उपजता, किसी हाटमें नहीं बिकता, फिर भी जो कोई भी इसे चाहेगा, पा लेगा। वह राजा हो या प्रजा उसे सिर्फ एक शर्त माननी होगी, वह है शर्त सिर उतार कर धरनीपर रख ले। जिसमें साहस नहीं, जिसमें इस अखण्ड प्रेमके ऊपर विश्वास नहीं, उस कायरकी यहाँ दाल नहीं गलेगी। हरिके मिल जानेपर साहस दिखानेकी बात करना बेकार है, पहले हिम्मत करो, भगवान् आगे आकर मिलेंगे। उथली भावुकता, हिस्टीरिक प्रेमोन्माद और बातूनी इश्क यहाँ बेकार हैं,—अपने अधिगम्यपर अखण्ड विश्वास ही इस प्रेमकी कुंजी है;—विश्वास, जिसमे संकोच नहीं, द्विधा नहीं, बाधा नहीं।—

प्रेम न खेतौं नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा-परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ ॥
सूरै सीस उतारिया, छाड़ी तनकी आस।
आगेथैं हरि मुलकिया, आवत देख्या दास ॥
भगति दुहेली रामकी, नहिं कायरका काम।
सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नाम ॥

—क० ग्रं० पृ० ७०

कबीरदास भक्त और पतिव्रताको एक कोटिमें रखते थे। दोनोंका धर्म कठोर है, दोनोंकी वृत्ति कोमल है, दोनोंके सामने प्रलोभनका दुस्तर जंजाल है, दोनों ही कांचन-पद्मधर्मी हैं,—बाहरसे मृदु, भीतरसे कठोर; बाहरसे कोमल, भीतरसे परुष। सबकी सेवामें व्यस्त, पर एककी आराधिका पतिव्रता ही भक्तके साथ तुलनीय हो सकती है। सतीकी सिंदूर रेखाके बदले काजल नहीं दिया जा सकता और कबीरके नैनोंमें भी राम रम गया है, दूसरा नहीं रम सकता—

कबीर रेख सिंदूरका, काजल दिया न जाइ ।
नैनु रमइया रमि रहा, दूजा कहां समाइ ।

भक्तकी यह प्रार्थना केवल सतीको ही शोभ सकती है—

नैना अंतर आव तूं ज्योंही नैंन झँपेउँ ।
नॉ हौं देखौं औरकूँ, ना तुझ देखन देउँ ॥
मेरा मुझमे कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझको सौंपतां, क्या लगै है मेरा ॥

कबीरदासमे यह जो अपने प्रति और अपने प्रियके प्रति एक अखण्ड अविच-लित विश्वास था उसीने उनकी कवितामे असाधारण शक्ति भर दी है । उनके भाव सीधे हृदयसे निकलते हैं और श्रोतापर सीधे चोट करते हैं । जो लोग इस रहस्यको नहीं जानते वह व्यर्थ ही पाण्डित्य-प्रदर्शनसे पाठकोका समय नष्ट करते हैं । प्रेम-भक्तिका यह पौधा भावुकताकी ऑचसे न तो झुलसता ही है और न तर्कके तुषारपातसे मुरझाता है । वह हृदयके पातालभेदी अन्तस्तलसे अपना रस संचय करता है । न ऑधी उसे उखाड़ सकती है और न पानी उसे ढाह सकता है । इस प्रेममें मादकता नहीं है पर मस्ती है, कर्कशता नहीं है पर कठोरता है । असं-यम नहीं है पर मौज है, उच्छृंखलता नहीं है पर स्वाधीनता है, अन्धानुकरण नहीं है पर विश्वास है, उजड्डुता नहीं है पर अक्खड़ता है,—इसकी प्रचण्डता सरलताका परिणाम है, उग्रता विश्वासका फल है, तीव्रता आत्मानुभूतिका विवर्त है । यह प्रेम वज्रसे भी कठोर है, कुसुमसे भी कोमल । इसमे हार भी जीत है, जीत भी जीत है ।

हारौं तो हरि मान है, जो जीतूं तो दाव ।
पारब्रह्मसों खेलता, जो सिर जाय तो जाय ॥

—स० क० सा० ८५-९०

इस सरलता और विश्वासके कारण ही जहॉ वे एक स्थानपर भगवान्के निकट अतिशय विनीत और हतदर्प दीखते हैं वहॉ दूसरे स्थानपर चुनौती देते हुए भी दिख जाते हैं । पर कहीं भी उन्होंने शिकायत नहीं की, मचलनेका अभिनय नहीं किया, उपालंभोंकी झडी नहीं लगाई,—महान्की महत् मर्यादाको उन्होंने कभी अपनी ससीमतासे गंदला नहीं किया । सॉईके प्रति उनकी भक्ति अडिग है । वे रामके कुत्तेके रूपमें अपनेना परिचय देते नहीं लजाते । कबीर

रामका कुत्ता है, नाम उसका मुतिया है। रामने ही इस मुतियाके गलेमें एक रस्सी बाँध दी है। सो वह जिधर खींचता है, मुतिया भी उधर ही जाता है ! जब वह तो-तो करके पुकारता है तो मुतिया भी उसके पास चला जाता है और जब दुर दुर करता है तो बिचारे मुतियाको भागनेके सिवा और चारा ही क्या है ? कबीरदास कहते हैं कि भगवान् जैसे रखे वैसे ही रहना श्रेयस्कर है, वह जो दे दे वही खा लेना कर्तव्य है ! निरीह सारल्यका यह चरम दृष्टान्त है—

कबीर कूता रामका, मुतिया मेरा नाउँ ।
गलै रामकी जेवडी, जित खैंचै तित जाउँ ॥
तो तो करै तो बाहुडौं, दुरि दुरि करै तो जाउँ ।
ज्यूँ हरि राखै त्यूँ रहौं, जो देवै सो खाउँ ॥

—क० ग्र० पृ० २०

आत्मसमर्पणकी यह हद्द है। इतनेपर भी मनको प्रतीति नहीं होती कि यह प्रेम-रस पर्याप्त है। क्या जाने उस प्रियतमको कौन-सा ढंग पसंद हो, कौन-सी वेशभूषा रुचिकर हो। हाय, उस अजब मस्ताने प्रियका समागम कैसा होता होगा !—

मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तनमैं ढंग ।
क्या जाणौं उस पीव-सूँ, कैसी रहसी रंग ।

—क० ग्रं० पृ० २०

इस उक्तिको अपने प्रति अविश्वास समझना गलती होगी। इसमें केवल प्रेमातिशय्य और औत्सुक्य प्रकट हुआ है। भक्तको अपने ऊपर पूर्ण विश्वास है पर प्रियकी उच्चता और महिमाके प्रति उसका विश्वास और भी अधिक है। अविचल प्रेमी ही यह सोचता है कि उसका प्रेमी कहीं अतृप्त न लौट जाय। अपनी अपूर्णता इस उत्सुकता और आशंकाका कारण होती है, अपने प्रति अवज्ञा नहीं।

पता नहीं कि कबीरदासने 'मुतिया' नाम क्यों पसंद किया ? क्या अनुमान किया जाय कि उनका बचपनका नाम मुतिया था ? असंभव नहीं। पर मुतिया नाम है बड़ा जानदार। इस नाममें ही कुत्तेकी सारी निरीहता मानों दुम हिलाती हुई सामने खड़ी हो जाती है। कभी कभी आश्चर्य होता है कि क्या यह वही आदमी है जो बीसियों बार गगनगुफाका चक्कर लगा लेनेके बाद उधरके कोने कोनेसे

ऐसा परिचित हो गया कि बड़ेसे बड़े अवधूतको ललकार सकता है, जो शास्त्र और परम्पराके जटिल जालमें घुसकर इस सफाईके साथ उसकी ग्रंथियाँ शिथिल कर देता है कि जाल फैलानेवाला ही आश्चर्य-भरी मुद्रासे देखता रह जाता है, जो क्षण-भरके लिये भी अपने ज्ञानको नहीं भूलना चाहता और जिसकी उक्तियाँ प्रतिपक्षके ऊपर सीधा आघात करती हैं! परन्तु इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। सरल आदमी ही प्रचण्ड होता है, विश्वासपरायण मनुष्य ही निरीह होता है, निष्ठावान् ही विनीत होता है।

कबीर जब 'पंडित' या 'शेख'पर आक्रमण करनेको उद्यत होते हैं तो उतने सावधान नहीं होते जितना अवधूत या योगीपर आक्रमण करते समय दिखते हैं। कारण यह है कि 'पंडित' और 'शेख'के ज्ञान-भाण्डारको उन्होंने उतनी सूक्ष्मताके साथ नहीं देखा जितनी बारीकीसे अवधूतकी साधना देखी है। इसीलिये यह आक्रमण उतना उग्र भी नहीं होता। वह पंडित और शेखको इस प्रकार पुकारते हैं गोया वे नितान्त नगण्य जीव हों,—केवल बाह्याचारोंके गट्ठर, केवल कुसंस्कारोंके गुड्डे। साधारण हिन्दू गृहस्थपर आक्रमण करते समय वे लापरवाह होते हैं और इसीलिये लापरवाही-भरी एक हँसी उनके अधरोंपर मानों खेलती रहती है। मानो वे इन अदने आदमियोंको इस योग्य भी नहीं समझ रहे हों जिनपर आक्रमण किया जा सके। परन्तु इस लापरवाहीके कारण ही इन आक्रमणोंमें एक सहज-सरस भाव और एक जीवन्त काव्य मूर्तिमान् हो उठा है। यही लापरवाही कबीरके व्यंग्योंकी जान है। सच पूछा जाय तो आज तक हिंदीमें ऐसा जबर्दस्त व्यंग्य-लेखक पैदा ही नहीं हुआ। उनकी साफ़ चोट करनेवाली भाषा, बिना कहे भी सब कुछ कह देनेवाली शैली और अत्यन्त सादी किन्तु अत्यन्त तेज़ प्रकाशन-भंगी अनन्य-साधारण है। हमने देखा है कि बाह्याचारपर आक्रमण करनेवाले सन्तों और योगियोंकी कमी नहीं है, पर इस क़दर सहज और सरस ढंगसे चकनाचूर करनेवाली भाषा कबीरके पहले बहुत कम दिखाई दी है। व्यंग्य वह है, जहाँ कहनेवाला अधरोष्ठोंमें हँस रहा हो और सुननेवाला तिलमिला उठा हो और फिर भी कहनेवालेको जवाब देना अपनेको और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो। कबीरदास ऐसे ही व्यंग्यकर्ता थे—

ना जाने तेरा साहब कैसा है।
महजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहिरा है?

चिउँटीके पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है।
पंडित होयके आसन मारै, लंबी माला जपता है॥
अन्तर तेरे कपट-कतरनी, सो भी साहब लखता है।
ऊँचा-नीचा महल बनाया, गहरी नेंव जमाता है॥
चलनेका मनसूबा नाहीं, रहनेको मन करता है।
कौड़ी कौडी माया जोड़ी, गाडि जमींमें धरता है॥
जेहि लहना है सो लै जइहै, पापी बहि बहि मरता है।
सतवंतीको गजी मिलै नहीं, वेश्या पहिरै खासा है॥
जेहि घर साधू भीख न पावै, भंडुआ खात बतासा है॥
हीरा पाय परख नहिं जानै, कौड़ी परखन करता है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जैसेको तैसा है॥

—कबीर वच० पृ० १५४

यह भाषा ही झकझोर देनेवाली है,—जितनी ही सादी उतनी ही तेज़। पढते पढते साफ़ मालूम होता है कि कहनेवाला अपनी ओरसे एकदम निश्चिन्त है। अगर वह अपनी ओरसे इतना निश्चिन्त न होता तो इस तरहका करारा व्यय नहीं कर सकता।

कबीरके पूर्ववर्ती सिद्ध और योगी लोगोंकी आक्रमणात्मक उक्तियोंमें एक प्रकारकी हीन भावनाकी ग्रंथि या इनफीरियारिटी कम्प्लेक्स पाया जाता है। वे मानों लोमड़ीके खट्टे अंगूरोंकी प्रतिध्वनि हैं, मानों चिलम न पा सकनेवालोंके आक्रोश हैं। उनमें तर्क है पर लापरवाही नहीं है, आक्रोश है पर मस्ती नहीं है, तीव्रता है पर मृदुता नहीं। कबीरदासके आक्रमणोंमें भी एक रस है, एक जीवन है, क्यों कि, वे आक्रान्तके वैभवसे परिचित नहीं थे और अपनेको समस्त आक्रमण-योग्य दुर्गुणोंसे मुक्त समझते थे। इस तरह जहाँ उन्हे लापरवाहीका कवच मिला था वहाँ अखण्ड आत्म-विश्वासका कृपाण भी।

कबीर उस समाजमें पालित हुए थे जो न तो हिंदुओंद्वारा समादृत था न मुसलमानोंद्वारा पूर्ण रूपसे स्वीकृत। यह कुल-परम्परासे ज्ञानार्जनके अयोग्य समझा जाता था। बाहरके प्रलोभनसे हो या भीतरके आघातसे, वह मुसलमानी राजत्वकालमें मुसलमान धर्म ग्रहण करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सका था पर न तो राजधर्मके ग्रहण कर लेनेके कारण उसमें राजकीय गरिमाका संचार ही हुआ

था और न प्राचीन हीनतासे उद्धार ही। नाम-मात्रकी मुसलमान इस जुलाहा जातिके रक्तमें प्राचीन योग-मार्गीय विश्वास पूरी मात्रामे वर्तमान था पर शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करनेका दरवाज़ा उसके लिए रुद्ध ही था। ये ग़रीबीमें जनमते थे, गरीबीमें ही पलते थे और उसीमें मर जाया करते थे। ऐसे कुलमें पैदा हुए व्यक्तिके लिये कल्पित ऊँच-नीच भावना और जाति-व्यवस्थाका फौलादी ढाँचा तर्क और बहसकी वस्तु नहीं होती, जीवन-मरणका प्रश्न होता है। कबीरदास इसी समाजके रत्न थे। वे सामाजिक विषमताओंको बौद्धिक तर्क-विलासकी वस्तु न समझते रहे हो, तो यह आश्चर्यकी बात नहीं है। सौभाग्यवश उन्हे वे सब युक्तियाँ नहीं मालूम थीं जो इस स्पष्ट ही अनुचित समाज-व्यवस्थाको उचित साबित कर सकती हैं। वे उन शास्त्रीय विचारोंसे सर्वथा मुक्त थे जो सामाजिक जीवनको स्थितिशील ( स्टेटिक ) देखनेमे ही समाजका कल्याण समझते हैं। और फिर भी उनमें आत्म-विश्वास परिपूर्ण मात्रामें था। यह जो वाह्याचारोंकी जीवन्त प्रतिक्रिया, शास्त्रीय विचारकी अनभिज्ञताके कारण निर्भीक आक्रमणकारिता और अपनी निर्दोषिताका परिपूर्ण भरोसा है उसने उनके आत्मविश्वासको भी आक्रामक ( एग्रेसिव्ह ) बना दिया था और उनकी लापरवाहीको भी रक्षणात्मक ( डिफेन्सिव्ह ) बना दिया था। इसीलिये वे सीधी बातको भी ललकारनेकी भाषामें ही बोलते थे। सारी परिस्थितिका विश्लेषण न कर सकनेवाले पडित इसे अटपटी वाणी समझकर सन्तोष कर लेते हैं या फिर घमंड और दम्भ समझ कर कुछ आश्वस्तसे हो लेते हैं।

जो लोग पौराणिक कथाओंको जानते हैं उन्हें मालूम है कि करीब करीब सभी देवताओं और ऋषि-मुनियोंके नाम ऐसी कहानियाँ मिलती हैं जिनसे उनके चरित्रकी विशुद्धतामे सदेह होता है। पर जो लोग पुराणोंके तत्त्ववादके जानकार हैं वे उनमें भी भगवल्लीलाका आभास पाते हैं और उन्हे न तो उक्त कथाओंमें अविश्वास होता है और न उन मुनियों या देवताओंके चरित्रके विषयमें संदेह। कबीरदास पौराणिक कथाओंके थोडे-बहुत जानकार थे पर तत्त्ववादके कायल न थे, शायद जानते भी नहीं थे। इसीलिये उन्होंने कथापर विश्वास करके मुनियों और देवताओंके चरित्रको उसी रूपमे स्वीकार किया जिस रूपमें लिखा गया है। अपने ऊपर उनका विश्वास प्रबल था और पौराणिक कथाओंने सुर-नर-मुनिके चरित्रोंपर संदेह करनेका अवसर दिया। इसीलिए अत्यन्त सीधी और सहज बात

कहते समय भी उनके आत्मविश्वासका आक्रामक रूप प्रकट हो ही गया—

झीनी झीनी बीनी चदरिया।

काहेकै ताना काहेकै भरनी, कौने तारसे बीनी चदरिया।
इँगला-पिंगला ताना भरनी, सुखमन तारसे बीनी चदरिया॥
आठ कँवल दल चरखा डोलै, पाँच तत्त्व गुन तीनी चदरिया।
साईंको सियत मास दस लागै, ठोक ठोकके बीनी चदरिया॥
सो चादर सुर-नर-मुनि ओढिन, ओढिके मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतनसे ओढ़िन, ज्यौंकै त्यौं धर दीनी चदरिया॥

—शब्दा० पृ० ७४

इसमें दम्भका लेश भी नहीं है, घमंडका स्पर्श भी नहीं है। है केवल अपने अखण्ड विश्वास और पौराणिक कथानकोंकी सरलतापूर्ण स्वीकृति। सचमुच ही तो इस पंच तत्त्व और तीन गुणकी शरीर-चादर सभी मुनियों और देवताओंने ओढके मैली कर दी है। पुराण तो ऐसा ही बताते हैं और यह भी सच है कि कबीर-दासने उस चादरको मैली नहीं होने दी। कबीरकी अन्तरात्मा इस महासत्यकी अविसंवादी साक्षी है। फिर इसमे दम्भ या घमड कहाँ है? पर जो कोई इसे पढ़ेगा वह इस आत्म विश्वासके आक्रमणकारी पहलूको लक्ष्य किये बिना नहीं रहेगा। सारी बात कुछ इस लहजेमें कही गई है कि वह आक्रमणमूलक हो गई है। 'सुर-नर-मुनि'को उंगली दिखाकर कहना और उनकी तुलनामें अपने आपको बैठा देना और फिर उनसे बडा बताना निश्चय ही एक ऐसा तीव्र कटाक्ष है जो लक्ष्यभूत श्रोताको चिढाये बिना नहीं रह सकता। पर लक्ष्य करने योग्य है कहनेवालेकी लापरवाही। वह इतनी बडी चिढा देनेवाली बात कह गया है लेकिन कटुताके साथ नहीं, और प्रत्याक्रमणकी चिन्ताके साथ तो बिल्कुल नहीं।

ऐसे थे कबीर। सिरसे पैर तक मस्त-मौला; स्वभावसे फक्कड़, आदतसे अक्खड़; भक्तके सामने निरीह, भेषधारीके आगे प्रचण्ड; दिलके साफ़, दिमाग़के दुरुस्त; भीतरसे कोमल, बाहरसे कठोर; जन्मसे अस्पृश्य, कर्मसे वन्दनीय। वे जो कुछ कहते थे अनुभवके आधारपर कहते थे इसीलिये उनकी उक्तियाँ वेधने-वाली और व्यंग्य चोट करनेवाले होते थे। उनके पूर्ववर्ती बाह्याचार-विरोधियों ने स्वयं अपने लिये बाह्याचारका आडंबर बना रखा था, इसलिये उनमें वह मस्ती-भरी लापरवाही नहीं थी जो कबीरको इतना आकर्षक बनाये हुए है। फिर वे

लोग जितनी भी पोथीकी निंदा करें, पोथी उनकी पढी होती थी और भीतर ही भीतर वे पोथीकी महिमासे अभिभूत होते थे। कबीरके समान निर्भीक आत्म-विश्वासके साथ वे कभी नहीं कह सके कि—

मेरा-तेरा मनुआ कैसे इक होइ रे !
मैं कहता हौं ऑखिन देखी
तू कहता कागदकी लेखी;
मैं कहता सुरझावनहारी
तू राख्यो अरुझाइ रे ! !

अखंड आत्म-विश्वास और अहैतुक भक्तिके बिना इतनी सफाईसे कोई नहीं कह सकता कि तू राख्यो अरुझाइ रे! सहज बातको सहज ही न कह व्यर्थ ही तर्क-फेनिल बना देना ही क्या अधिकांश 'कागदकी लेखी'का कार्य नहीं है? कबीरके बहुत दिन बाद एक दूसरे भक्तने कहा था—शुरूसे ही कुछ लोग नाना प्रकारके पारिभाषिक शब्दोंमें सोचनेका अभ्यास कर लेते हैं। इनमें जो जितना ही अधिक कल्पना-प्रवीण होता है वह उतना ही बड़ा पण्डित माना जाता है, पर सही बात यह होती है कि इस कौशलसे वे भगवान्‌से क्रमशः दूर ही होते जाते हैं और अपनी कल्पनाओंको ही ये तर्क निष्ठ लोग 'शास्त्र' नाम देते हैं!—

अभ्यासाद्य उपाधिजात्यनुमितिव्याप्त्यादिशब्दावले-
र्जन्मारभ्य सुदूरदूरभगवद्वार्त्ताप्रसंगा अमी।
ये यत्राधिककल्पनाकुशलिनस्ते तत्र विद्वत्तमाः
स्वीयं कल्पनमेव शास्त्रमिति ये जानन्त्यहो तार्किकाः।
—कविकर्णपूर, चैतन्य-चन्द्रोदय (द्वितीय अंक)

और और भी बहुत दिन बाद एक और कविने अचरजभरी मुद्रामें व्यर्थके तर्क-जालको देखकर हैरान होकर कहा है, उनकी बातें मुझे चक्करमें डाल देती हैं लेकिन तुम्हारी बात मेरी समझमे आ जाती है। तुम्हारा आकाश है और तुम्हारी ही हवा है, यह तो बहुत सीधी-सी बात है!—

ओदेर कथाय धाँदा लागे
तोमार कथा आमि बुझि।
तोमार आकाश तोमार बातास,
एइ त सबइ सोजासुजि ॥—(रवीन्द्रनाथ)

कबीर 'ज्ञानके हाथी' पर चढे थे पर 'सहजका दुलीचा' डाले बिना नहीं; भक्तिके मन्दिरमें प्रविष्ट हुए थे पर 'खालाका घर' समझकर नहीं, बाह्याचारका खण्डन किया था पर निरुद्देश्य आक्रमणकी मंशासे नहीं, भगद्विरहकी ऑचमें तपे थे पर आँखोमे ऑसू भर कर नहीं, रामको आग्रहपूर्वक पुकारा था पर बालकोचित मचलनके साथ नहीं,—सर्वत्र उन्होंने एक समता ( बैलेंस ) रखी थी। केवल कुछ थोड़ेसे विषयोमे वे समता खो गये थे। अकारण सामाजिक उच्च-नीच मर्यादाके समर्थकोंको वे कभी क्षमा नहीं कर सके, भगवान्‌के नामपर पाखण्ड रचनेवालोंको उन्होंने कभी छूट नहीं दी, दूसरोंको गुमराह बनानेवालोंको उन्होंने कभी तरह देना उचित नहीं समझा। ऐसे अवसरोंपर वे उग्र थे, कठोर थे और आक्रामक थे। पर गुमराह लोगोकी ग़लती दिखानेमें उन्हें एक तरहका रस मिलता था। व्यंग्य करनेमें उन्हे जैसे तृप्ति मिलती थी। निम्नलिखित पदमें गंगा नहानेवालियोंकी कैसी कस कर खबर ली गई है—

चली है कुलबोरनी गगा नहाय।
सतुवा कराइन बहुरी भुँजाइन, घूँघट ओटे भसकत जाय।
गठरी बाँधिन मोटरी बाँधिन, खसमके मूँडे दिहिन धराय।
बिछुवा पहिरिन औंठा पहिरिन, लात खसमके मारिन धाय।
गंगा न्हाइन जमुना न्हाइन, नौ मन मैल है लिहिन चढाय।
पाँच-पचीसके धक्का खाइन, घरहुँकी पूंजी आई गंवाय।
कहत कबीर हेत कर गुरुसों, नहिं तोर मुकुती जाइ नसाइ॥

—क० वच० पृ० १४४

भक्तिके अतिरेकमें उन्होंने कभी अपनेको पतित नहीं समझा। क्योंकि उनके दैन्यमे भी उनका आत्मविश्वास साथ नहीं छोड़ देता था। उनका मन जिस प्रेमरूपी मदिरासे मतवाला बना हुआ था वह ज्ञानके गुड़से तैयार की गई थी, इसीलिये अन्धश्रद्धा, भावुकता और हिस्टीरिक प्रेमोन्मादका उनमे एकान्त अभाव था। युगावतारकी शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुए थे और युग-प्रवर्तककी दृढ़ता उनमें वर्तमान थी इसीलिये वे युग-प्रवर्तन कर सके थे। एक वाक्यमें उनके व्यक्तित्वको कहा जा सकता है : वे सिरसे पैर तक मस्त मौला थे :—बेपरवाह, दृढ, उग्र, कुसुमादपि कोमल, वज्रादपि कठोर!

# १३—भारतीय धर्मसाधनामें कबीरका स्थान

जिस युगमें कबीर आविर्भूत हुए थे उसके कुछ ही पूर्व भारतवर्षके इतिहासमें एक अभूतपूर्व घटना घट चुकी थी। यह घटना इसलाम जैसे एक सुसंठित सम्प्रदायका आगमन था। इस घटनाने भारतीय धर्ममत और समाजव्यवस्थाको बुरी तरहसे झकझोर दिया था। उसकी अपरिवर्तनीय समझी जानेवाली जाति-व्यवस्थाको पहली बार जबर्दस्त ठोकर लगी थी। सारा भारतीय वातावरण संक्षुब्ध था। बहुतसे पंडित-जन इस संक्षोभका कारण खोजनेमे व्यस्त थे और अपने अपने ढंगपर भारतीय समाज और धर्म-मतको सँभालनेका प्रयत्न कर रहे थे।

सबसे पहले यह समझ लिया जाय कि यह घटना अभूतपूर्व क्यों थी और इसमें नवीनता क्या थी? भारतवर्ष कोई नया देश नहीं है। बड़े बड़े साम्राज्य उसकी धूलमें दबे हुए हैं, बडी बडी धार्मिक घोषणायें उसके वायुमण्डलमें निनादित हो चुकी हैं, बड़ी बड़ी सभ्यतायें उसके प्रत्येक कोनेमें उत्पन्न और विलीन हो चुकी हैं, उनके स्मृति-चिह्न अब भी इस प्रकार निर्जीव होकर खड़े हैं मानों अट्टहास करती हुई विजयलक्ष्मीको बिजली मार गई हो! अनादिकालसे उसमें अनेकों जातियों, कबीलों, नस्लों और घुमक्कड़ खानाबदोशोंके झुंड इस देशमें आते रहे हैं। कुछ देरके लिये इन्होंने देशके वातावरणको विक्षुब्ध भी बनाया है पर अन्ततक वे पराये नहीं रह सके हैं। उनके देवता तैंतीस करोड़ सिंहासनोंमेंसे किसी एकको दखल करके बैठ जाते रहे हैं और पुराने देवताओंके समान ही श्रद्धाभाजन बन जाते रहे हैं,—कभी कभी तो अधिक सम्मान भी पा सके हैं। भारतीय संस्कृतिकी कुछ ऐसी विशेषता रही है कि उन कबीलों, नस्लों और जातियोंकी भीतरी समाजव्यवस्था और धर्ममतमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं किया गया है और फिर भी उनको संपूर्ण भारतीय बना लिया गया है। भागवतमें ऐसी जातियोंकी एक पूरी सूची देकर बताया गया है कि एक बार भगवान्का आश्रय पाते ही ये शुद्ध हो गई हैं। इनमें किरात हैं, हूण हैं, आंध्र हैं, पुलिन्द हैं, पुक्कस हैं, आभीर हैं, शुङ्ग हैं, यवन हैं, खस हैं, शक हैं और

और भी निश्चय ही ऐसी बहुत-सी जातियाँ हैं जिनका नाम भागवतकार नहीं गिना गये। भारतीय संस्कृति इतने अतिथियोंको अपना सकी थी, इसका कारण यह है कि बहुत शुरूसे ही उसकी धर्मसाधना वैयक्तिक रही है। प्रत्येक व्यक्तिको अलगसे धर्मोपासनाका अधिकार है। झुंड बाँध कर उत्सव हो सकते हैं, भजन नहीं। प्रत्येक व्यक्ति अपने कियेका जिम्मेदार आप है। श्रेष्ठताकी निशानी किसी धर्म मतको मानना या देव-विशेषकी पूजा करना नहीं बल्कि आचार-शुद्धि और चारित्र्य है। यदि एक आदमी अपने पूर्वजोंके बताये धर्मपर दृढ है, चरित्रसे शुद्ध है, दूसरी जाति या व्यक्तिके आचरणकी नक़ल नहीं करता बल्कि स्वधर्ममें मर जानेको ही श्रेयस्कर समझता है, ईमानदार है, सत्यवादी है, तो वह निश्चय ही श्रेष्ठ है, फिर वह चाहे आभीर-वंशका हो या पुक्कस-श्रेणीका। कुलीनता पूर्व-जन्मके कर्मका फल है, चारित्र्य इस जन्मके कर्मका प्रतीक है। देवता किसी एक जातिकी सम्पत्ति नहीं हैं, वे सबके हैं और सबकी पूजाके अधिकारी हैं। पर यदि स्वयं देवता ही चाहते हों कि उनकी पूजाका माध्यम कोई विशेष जाति या व्यक्ति हो सकता है तो भारतीय जनसमाजको इसमें भी कोई आपत्ति नहीं। ब्राह्मण मातंगी देवीकी पूजा करेगा पर मातंगके ज़रिये। क्या हुआ जो मातंग चाण्डाल हैं। राहु यदि प्रसन्न होनेके लिये डोमोंको दान देना ही अपनी शर्त रखते हैं तो डोम ही सही। समस्त भारतीय समाज डोमको ही दान देकर ग्रहणके अनर्थसे चंद्रमाकी रक्षा करेगा! इस प्रकार भारतीय संस्कृतिने समस्त जातियोंको उनकी सारी विशेषताओं-समेत स्वीकार कर लिया। पर अबतक कोई 'मज़हब' उसके द्वारपर नहीं आया था। वह उसको हजम कर सकनेकी शक्ति नहीं रखता था।

'मज़हब' क्या है? मज़हब एक संघटित धर्ममत है। बहुतसे लोग एक ही देवताको मानते हैं, एक ही आचारका पालन करते हैं, और किसी नस्ल, कबीले या जातिके किसी व्यक्तिको जब एक बार अपने संघटित समूहमे मिला लेते हैं तो उसकी सारी विशेषतायें दूर कर उसी विशेष मतवादको स्वीकार कराते हैं। यहाँ

१ किरात-हूणान्ध्र-पुलिन्द-पुक्कसा.
आभीर-शुह्मा यवनाः खसादयः
येऽन्ये च पापास्तदपाश्रयाश्रया.—
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नम. ॥
—भागवत २–४–१८

धर्मसाधना व्यक्तिगत नहीं, समूहगत होती है। यहाँ धार्मिक और सामाजिक विधि-निषेध एक दूसरेमें गुँथे होते हैं। भारतीय समाज नाना जातियोंका सम्मिश्रण था। एक जातिका एक व्यक्ति दूसरी जातिमें बदल नहीं सकता, परन्तु मज़हब इसके ठीक उलटा है। वह व्यक्तिको समूहका अंग बना देता है। भारतीय समाजकी जातियाँ कई व्यक्तियोंका समूह हैं, परन्तु किसी मज़हबके व्यक्ति बृहत् समूहके अंग हैं। एकका व्यक्ति अलग हस्ती रखता है पर अलग नहीं हो सकता, दूसरेका अलग हो सकता है पर अलग सत्ता नहीं रखता।

मुसलमानी धर्म एक 'मज़हब' है। भारतीय समाज-संगठनसे बिल्कुल उल्टे तौरपर उसका संगठन हुआ था। भारतीय समाज जाति-गत विशेषता रखकर व्यक्ति-गत धर्म-साधनाका पक्षपाती था, इसलाम जातिगत विशेषताको लोप करके समूह-गत धर्म-साधनाका प्रचारक था। एकका केंद्रबिन्दु चारित्र्य था, दूसरेका धर्म-मत। भारतीय समाजमें यह स्वीकृत तथ्य था कि विश्वास चाहे जो भी हो, चरित्र शुद्ध है तो व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है, फिर चाहे वह किसी जातिका भी क्यों न हो। मुसलमानी समाजका विश्वास था कि इसलामने जो धर्म-मत प्रचार किया है उसको स्वीकार कर लेनेवाला ही अनन्त स्वर्गका अधिकारी है, जो इस धर्ममतको नहीं मानता वह अनन्त नरकमें जानेको बाध्य है। भारतवर्षको ऐसे मतसे एकदम पाला नहीं पड़ा था। उसने कभी यह विश्वास ही नहीं किया कि उसके आचार और मतको न माननेवाली जातिका कुफ़्र तोड़ना उसका परम कर्तव्य है। किसी औरका परम कर्तव्य यह बात हो सकती है, यह भी उसे नहीं मालूम था। इसीलिये जब नवीन धर्म-मतने सारे संसारके कुफ़्रको मिटा देनेकी प्रतिज्ञा की और सभी पाये जानेवाले साधनोंका उपयोग आरंभ किया तो भारतवर्ष उसे ठीक ठीक समझ ही नहीं सका। इसी लिये कुछ दिनों तक उसकी समन्वयात्मिका बुद्धि कुण्ठित हो गई। वह विक्षुब्ध-सा हो उठा। परन्तु विधाताको यह कुंठा और विक्षोभ पसंद नहीं था।

ऐसा जान पड़ता है कि पहली बार भारतीय मनीषियोंको एक संघबद्ध धर्माचारके पालनकी ज़रूरत महसूस हुई। इसलामके आनेके पहले इस विशाल जन-समूहका कोई एक नाम तक नहीं था। अब उसका नाम 'हिंदू' पड़ा। हिंदू अर्थात् भारतीय, अर्थात् गैर-इसलामी मत। स्पष्ट ही इस गैर-इसलामी मतमें कई तरहके मत थे, कुछ ब्रह्मवादी थे, कुछ कर्मकाण्डी थे, कुछ शैव थे, कुछ वैष्णव थे, कुछ

शाक्त थे, कुछ स्मार्त थे तथा और भी न जाने क्या क्या थे। हजारो योजनों तक विस्तृत और हजारों वर्षोंमें परिव्याप्त इस जनसमूहके विचारो और परम्पराप्राप्त मतोंका एक विशाल जंगल खड़ा था। स्मृति, पुराण, लोकाचार और कुला-चारकी विशाल वनस्थलीमेसे रास्ता निकाल लेना बड़ा ही दुष्कर कार्य था। स्मार्त पण्डितोंने इसी दुष्कर व्यापारको शिरोधार्य किया। सारे देशमें शास्त्रीय वचनोंकी छान-बीन होने लगी। उद्देश्य था कि इस प्रकारका सर्व-सम्मत मत निकाल लिया जा सके जिसको मान कर सारा देश एक ही दिन, एक ही समयमे व्रत-उपवास कर सके, श्राद्ध-विवाहकी एक ही रीति-नीति प्रचलित हो सके, उत्सव-समारोहका एक ही विधान तैयार हो सके। भारतीय मनीषाका शास्त्रोंको आधार मान कर अपनी सबसे बड़ी समस्याके समाधानका यह सबसे बड़ा प्रयत्न था। हेमाद्रिसे लेकर कमलाकर और रघुनंदन तक बहुतेरे पंडितोंने बहुत परिश्रमके बाद जो कुछ निर्णय किया वह यद्यपि सर्ववादिसम्मत नहीं हुआ, परन्तु, निस्सन्देह स्तूपीभूत शास्त्रवाक्योंकी छानबीनसे एक बहुत-कुछ मिलता-जुलता आचार-प्रवण धर्ममत स्थिर किया जा सका। निबंध-ग्रंथोंकी यह बहुत बड़ी देन थी। जिस बातको आजकल 'हिन्दू-सोलिडैरिटी' कहते हैं उसका प्रथम भित्ति-स्थापन इन निबंध ग्रन्थोंके द्वारा ही हुआ था। पर समस्याका समाधान इससे नहीं हुआ।

इस प्रयत्नकी सबसे बड़ी कमज़ोरी इसकी आचारप्रवणता ही थी। जो नया धर्म-मत भारतीय जन-समाजको सक्षुब्ध कर रहा था वह इस आचारको कोई महत्त्व ही नहीं देता था। उसका सगठन बिल्कुल उल्टे किनोरेसे हुआ था। निबध-ग्रन्थोंने जिस आचार-प्रधान 'एक धर्म'-मतका प्रचार किया उसके मूलमें ही सबको स्वीकार करनेका सिद्धान्त काम कर रहा था। समस्त शास्त्रीय वाक्योंको नतशिरसे स्वीकार करके ही यह असाध्यसाधन किया गया था। पर जिस प्रतिद्वंद्वीसे काम पड़ा था वह बहुत वर्जनाग्रही था अर्थात् वह निर्दयतापूर्वक अन्यान्य मतोंको तहस-नहस करनेकी दीक्षा ले चुका था और धार्मिक वर्जन-शीलता ही उसका मुख्य अस्त्र था। यद्यपि वह समाज धार्मिकरूपमें वर्जनशील था पर सामाजिक रूपमें वह ग्रहणशील था जब कि हिंदू-समाज धार्मिक रूपमें ग्रहणशील होकर भी सामाजिकरूपमें वर्जनशील था। हिंदू-समाज धार्मिक साधनाको स्वीकार कर सकता था पर किसी व्यक्ति-विशेषको धर्म-मतमे ग्रहण

भगवान्‌की प्रेम-लीलामें विश्वास करते थे। दोनोंका ही अनुभव था कि भगवान् लीलाके लिये ही इस जागतिक प्रपंचको सम्हाले हुए हैं। पर प्रधान भेद यह था कि सगुण-भावसे भजन करनेवाले भक्त भगवान्‌को दूरसे देखनेमें रस पाते रहे, जब कि निर्गुण भावसे भजन करनेवाले भक्त अपने आपमें रमे हुए भगवान्‌को ही परम काम्य मानते थे।

लीला क्या है? लीला भारतीय भक्तोंकी सबसे ऊँची कल्पना है। हम जानते हैं कि भगवान् अगम्य हैं, अगोचर हैं, निरंजन हैं, अकल हैं, अनीह हैं। हम यह भी जानते हैं कि वे अनुभवैकगम्य हैं, केवल अपने स्वरूपसे ही उनको साधक अनुभव कर सकता है, वे गूँगेके गुड़ हैं, अनिर्वचनीय हैं। पर यह सब ज्ञानकी बातें हैं। भक्त लोग भगवान्‌को ज्ञानके द्वारा अगम्य मानते हैं, क्यों कि मनुष्यकी शक्ति सीमित है, उसकी बुद्धिकी दौड़ बहुत मामूली है। परन्तु वे प्रेमसे गम्य हैं 'ज्ञानके अगम्य तुम प्रेमके भिखारी हो!' क्यों कि ज्ञान सब मिलाकर हमें हमारी अल्पज्ञताको ही दिखा देता है। पर प्रेम संपूर्ण त्रुटियोंको भर देता है। पुत्रमें कितनी ही त्रुटियाँ क्यो न हों, माता उसे अपनी छातीसे लगा लेती है क्यों कि मातृ-स्नेह उन सभी कमियोंको भर देता है। प्रेमी सम्पूर्ण अभावोंको अपने प्रेमसे भर देता है, 'जो मिलिये सँग सजन तौ धरक नरक हू की न!' क्यों कि नरक आखिर कुछ अभावोंका ही तो नाम है, दुःख तो सुखका अभाव-मात्र है और अभावको दूर करनेका एक-मात्र ब्रह्मास्त्र प्रेम है। दरिद्रता, पीडा और अभाव सब एक ही शब्दके पर्याय हैं और युगयुगान्तरके कवि और मनीषी अनुभव करके कह गये हैं कि सम्पूर्ण अभावोंको दूर करनेकी एक-मात्र शक्ति प्रेम है—'टूट खाट घर टपकत खटियौ टूट। पियकी बाँह उसिसवाँ सुखकी लूट!!' कोई पूछे कि ऐसा क्यों होता है तो इसका भी कोई जवाब नहीं है। यह भगवानकी माया है। भगवानके समान ही रहस्यपूर्ण, वैसी ही अनिर्वचनीय! और फिर दुबारा यह प्रश्न हो सकता है कि माया क्यों? क्यों पूर्ण परमात्माको अपनी सृष्टिके अभावको दूर करनेके लिये इसी विचित्र वस्तु,—मायाकी ज़रूरत पड़ी?

इस प्रश्नका उत्तर कठिन है। ज्ञानी इसे भी माया कहता है, विज्ञानी शायद 'इन्स्टिंक्ट' कह दे; पर एक नाम दे देनेसे समस्या हल नहीं हो जाती। माया है, यह ठीक है। क्यों कि विश्व-जगत्‌में हम ऐसे ऐसे रहस्योंको

पाते हैं जो बुद्धिके परे हैं, मनके परे हैं, हृदयके परे हैं। वे रहस्य हैं, माया हैं। पर 'क्यों हैं' का कोई उत्तर नहीं। भक्त इसका उत्तर देता है कि भगवान् परम प्रेममय हैं और यह सब उनकी लीला है। जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, जो कुछ भी घट रहा है और जो कुछ भी घट सकना संभव है, वह सब कुछ उस परम प्रेममयकी लीला है,—उसे खेलनेमें आनद मिलता है। वह भक्तकी सारी अपूर्णताओंको पूर्ण करता है, इसी लिये वह परम प्रेम-स्वरूप है। परन्तु भक्त क्यों प्रेम करता है?—क्योंकि वह अपनेको ही परिपूर्ण करता है।—भगवानको क्या कमी है जो प्रेमका भिखारी बना रहता है? भक्तका कहना है कि इसका और कोई कारण नहीं; यह प्रेम-व्यापार भी एक लीला ही है। लीला क्यों?—लीलाके लिये। लीलाके लिये कौन-सी वस्तु? —लीला ही।—लीलाका फल क्या है?—लीला ही। 'नहि लीलायाः किंचित्प्रयोजनमस्ति, लीला एव प्रयोजनत्वात्।' जो इस लीलाको नहीं समझता वही भ्रममे है। लीला भगवान्के आनन्द-स्वरूपका प्रकाश है। उपनिषदोंने बताया है कि उसी आनन्दसे भूत-मात्रकी उत्पत्ति हुई है। जो कुछ दीख रहा है, जो कुछ घटित और घटमान है वह आनन्दसे ही है। अगर यह आनन्द न होता तो उत्पन्न होनेपर भी प्राणिगण जीवित नहीं रह सकते। आनन्द ही जीवनका आधार है (तैत्तिरीय ३-६)। यदि आकाशके कोने कोनेमें यह आनन्द भरा न होता तो कोई प्राण धारण नहीं कर सकता था। क्योंकि भगवान् आनन्दमय है, रस-स्वरूप है। और फिर भी विशेषता यह कि रस पाकर ही वह आनन्दी होता है। स्वयं रसरूप होकर भी वह रसका चाहक है, और स्वयं आनन्दरूप होकर भी वह तब तक आनन्दवान् नहीं होता जब तक उसे रस न मिल जाय। यह विरोधाभास है, पर भक्तोका दावा है कि उन्होंने इसे अनुभव-रूपमें साक्षात्कार किया है—

रसो वै सः। रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।

(तैत्तिरीय० २-७)

जो तर्कसे इसका अनुसन्धान करना चाहेगा उसके लिये यह बात रहस्य-सी दीखेगी पर जो प्रेमकी दृष्टिसे देखेगा उसके लिये इसमे कोई रहस्य नहीं है, कोई असंगति नहीं है और न कोई विरोध ही है। उसके लिये यह भगवानकी लीला है। वह स्वयं इस लीलाका जाल पसारे हुए है, इसलिये स्पष्ट ही

उसे प्रेमकी भूख है। यह पूछना बेकार है कि उसे क्या कमी है जो यह भूख लगी ? क्योंकि यह सब उसकी लीला है। सही इतना ही है कि वह रस पाये बिना आनन्दी नहीं होता,—'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।' इसी लीलाके लिये प्रेम भिखारी साईं राह चलते भक्तपर रंग डाल देता है। जो दुनियादार हैं और जिनकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं वे उस रंगकी लीलाको अनुभव ही नहीं करते, अपने रास्ते चले जाते हैं। पर जो अनुभवी हैं वे व्याकुल हो उठते हैं। उन्हें एक व्याकुल पुकार सुनाई देती है। जैसे प्रियतमने छेड़खानी करके एक ऐसी पुकार फेंकी है जिसकी चोट सँभालना मुश्किल है। यह पुकार सारे शरीरको बेध डालती है। इसकी कोई औषध नहीं, मन्त्र नहीं, जड़ी नहीं, बूटी नहीं,—बेचारा वैद्य क्या कर सकता है ? इस प्रकारकी चोट जिसे लगी वही अभिभूत हो गया। देवता हो या मनुष्य, मुनि हो या राह चलता आदमी, पीर हो या औलिया, एक बार चोट लगनेपर अपनेको सभाल रखना कठिन हो जाता है। कबीरदास गवाह हैं कि साईंके इस रंगका चोट खाया मनुष्य सब रंगोंसे रंग जाता है, और फिर भी उसका रंग सब रंगोसे न्यारा होता है। स्वयं कबीरदास रंग चुके थे। वे इस अकारण प्रेम-पुकारसे घायल हो चुके थे। व्याकुल भावसे वे सतगुरुके पास इसका उपाय पूछने गये थे—

> सतगुरु हो महराज, मोपै साईं रंग डारा।
> सब्दकी चोट लगी मेरे मनमें, बेध गया तन सारा।
> औषध-मूल कछू नहीं लागै, का करै बैद बेचारा।
> सुर नर-मुनिजन पीर-औलिया, कोई न पावे पारा।
> साहब कबीर सर्व रँग-रँगीया, सब रँगसे रँग न्यारा ॥
>
> —शब्दा० ५ पृ० ९

फागुनकी ऋतु नजदीक आ जाती है, प्रियतमके रंग डालनेसे अपने आपको भूल गया हुआ भक्त व्याकुल भावसे सोचने लगता है—हाय, वह सुख फिर क्या मिल सकेगा ? क्या वह अलबेला साँईं फिर मिलेगा ? फिर उसके रंगकी चोट खानेका सौभाग्य भाग्यमें बदा है ? कौन है जो पियाके पास तक पहुँचा सके ? धन्य हैं जो प्रियके साथ एकमेक होकर फाग खेलती हैं, धन्य हैं वे जो उसकी मनभावती हैं और अभागिन है वह सखी जो ऐंचातानीमें ही रह गई। प्रियका रूप क्या वर्णन किया जा सकता है ? प्रेम-दीवानी प्रेमिका उसे अलगसे

कैसे समझावे ? वह तो उसीमें समा गई है,—तन्मय हो गई है। कबीरदास इस फागलीलाका आनंद अनुभव कर चुके थे। उनकी गवाहीपर हम विश्वास कर सकते हैं कि वह फाग साधारण फाग नहीं है। इस पृथ्वीपर उसकी तुलनामें कोई फाग खड़ी ही नहीं हो सकती। वह कहनेकी चीज़ नहीं है, अनुभव करनेकी चीज़ है,–'अकथ कहानी' है,—विरलोंके नसीबमे इस परम-सुखका अनुभव बदा है—

ऋतु फागुन नियरानी हो,
कोइ पियासे मिलावे ॥
सोइ सुंदर जाकों पियाको ध्यान है,
सोइ पियाकी मनमानी।
खेलत फाग अंग नहिं मोडे,
सतगुरुसे लिपटानी।
इक इक सखियॉ खेल घर पहुंचीं,
इक इक कुल अरुझानी।
इक इक नाम बिना बहकानी,
हो रहीं ऐंचातानी ॥
पियको रूप कहाँ लगि बरनौं,
रूपहिं मांहि समानी।
जो रँग रँगे सकल छबि छाके,
तन-मन सबहि भुलानी ॥
यो मत जाने यहि रे फाग है,
यह कछु अकथ-कहानी।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो,
यह गति बिरले जानी ॥

( शब्दा० २२, पृ० १५ )

यह है लीला। इसका रहस्य समझना कठिन है, क्योंकि यह रहस्यका समाधान है। समाधानका समाधान कैसा ? भक्तका दावा है कि यह अनुभवसे पाई जाती है। लीला ही लीलाका मार्ग है। लीला ही साधन है, लीला ही साध्य। जो साधक एक बार इसकी मस्तीसे वाकिफ़ हो गया वह आठो पहर मतवाला बना रहता है,–नहीं, वह आठो पहरको,—संपूर्ण कालको निचोड़कर उसका रस पीता है। वह

आठों पहर मस्तीसे मत्त रहता है, ब्रह्मकी छौलमें वह जीवन धारण करता है। छौल अर्थात् आनंद। वह भगवदानंदमें, अर्थात् भगवान्‌की लीलामें ही वास करता है। उसके लिये सत्यको पकड़ना आसान हो जाता है, क्यों कि वह साँच और काँचके ऊपर उठ जाता है। उसका जन्म और मरणका भ्रम भाग जाता है। उसे कोई भय नहीं होता, दुःख नहीं होता, वह निर्भय हो जाता है—

आठहू पहर मतवाल लागी रहै,
आठहू पहरकी छाक पीवै।
आठहू पहर मस्तान माता रहै,
ब्रह्मकी छौलमें साथ जीवै।
साँच ही कहतु औ साँच ही गहतु है,
काँचको त्याग करि साँच लागा।
कहैं कब्बीर यों साध निर्भय हुआ,
जनम और मरनका भर्म भागा।

(शब्दा० पृ० १०३-४)

* * * *

भक्तकी भगवान्‌के साथ यह जो आनंद-केलि या प्रेम-लीला है वही मध्ययुगके समस्त भक्तोंकी साधनाका केन्द्र-विन्दु है। भगवान्‌के साथ यह रसमय लीला ही भक्तका परम काम्य है,—लीला जिसका कोई प्रयोजन नहीं, फल नहीं, कारण नहीं, आदि नहीं, अन्त नहीं। इसी बातको मध्ययुगके अन्यतम वैष्णव भक्त विश्वनाथ चक्रवर्तीने कहा था, 'प्रेम ही परम पुरुषार्थ है,—प्रेमाः पुमर्थो महान्।' साधारणतः जिनको पुरुषार्थ कहा जाता है वे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष भक्तके लिये कोई आकर्षण नहीं रखते। और कबीरदासने इसी बातको और भी शक्तिशाली ढंगसे कहा था—

राता-माता नामका, पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदारका, माँगै मुक्ति बलाय!

(क० वच० पृ० १३)

और भक्तिके आदर्शकी घोषणा करते हुए द्विधाहीन भाषामें कहा है—

भागविना नहिं पाइये, प्रेम-प्रीतिकी भक्त।
विना प्रेम नहीं भक्ति कछु, भक्ति-भरयो सब जक्त॥

प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निज दम्भ-बिचार।
उदर भरनके कारने, जनम गंवायौ सार॥

( स० क० सा० पृ० ४१ )

परन्तु कबीरदास अपने युगके सगुणसाधना-परायण भक्तोंसे कुछ भिन्न थे। यद्यपि दोनोंकी साधनाका केन्द्र-बिन्दु यह प्रेम-भक्ति है,—इसे आनन्दकेलि, प्रीति, भक्ति, प्रेमलीला आदि जो भी नाम दे दिया जाय,—तथापि एक बातमें वे सबसे अलग हो जाते हैं। हमने ऊपर लक्ष्य किया है कि भारतीय मनीषी उन दिनों स्मृति और पुराण ग्रन्थोंकी छान-बीनमें जुटे हुए थे। उन्होंने प्राचीन भारतीय परम्पराको शिरोधार्य कर लिया था,—अर्थात् सब कुछ मानकर, सबके प्रति आदरका भाव बनाये रहकर अपने चलनेका मार्ग तै करना। सगुणोपासक भक्तगण भी सम्पूर्ण रूपसे इस पुरानी परम्परासे प्राप्त मनोभावके पोषक रहे। वे समस्त शास्त्रों और मुनिजनोंको अकुण्ठ चित्तसे अपना नेता मानकर उनके वाक्योंकी संगति प्रेम-पक्षमें लगाने लगे। इसके लिये उन्हें मामूली परिश्रम नहीं करना पड़ा। समस्त शास्त्रोंका प्रेम-भक्ति-मूलक अर्थ करनेमें उन्हें नाना अधिकारियों और नाना भजन-शैलियोंकी आवश्यकता स्वीकार करनी पडी, नाना अवस्थाओं और अवसरोंकी कल्पना करनी पडी, शास्त्र-ग्रंथोंके तारतम्यकी भी कल्पना करनी पड़ी। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रकृतिके प्रस्तार-विस्तारसे अनन्त प्रकृतिके भक्तो और अनन्त प्रणालीके भजनोंकी कल्पना करनी पडी। सबको उन्होंने उचित मर्यादा दी। यद्यपि अन्त तक चल कर उन्हें भागवत महापुराणको ही सर्व-प्रधान प्रमाण-ग्रंथ मानना पड़ा था पर उन्होंने किसी भी शास्त्रकी उपेक्षा या अवहेलना न की। उनकी दृष्टि बराबर भगवान्के परम-प्रेममय रूप और उनकी मनोहारिणी लीला-पर निबद्ध रही पर उन्होंने बड़े धैर्यके साथ अन्यान्य शास्त्रोंकी संगति लगाई और एक अभूतपूर्व निष्ठा और मर्यादा-प्रेमको समाजमें प्रतिष्ठित कराया।

कबीरदासका रास्ता उल्टा था। उन्हें सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकारके संस्कार पड़नेके रास्ते हैं वे प्रायः सभी उनके लिये बंद थे। वे मुसलमान होकर भी असलमें मुसलमान नहीं थे, वे हिंदू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे साधु होकर भी साधु ( =अगृहस्थ ) नहीं थे, वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे, वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान्की ओरसे ही सबसे न्यारे बना कर भेजे गये थे। वे भगवान्के

नृसिंहावतारकी मानव प्रतिमूर्ति थे। नृसिंहकी भाँति वे नाना असंभव समझी जानेवाली परिस्थितियोंके मिलन-बिंदु पर अवतीर्ण हुए थे। हिरण्यकशिपुने वर माँग लिया था कि उसको मार सकनेवाला न मनुष्य हो न पशु; मारे जानेका समय न दिन हो न रात; मारे जानेका स्थान न पृथ्वी हो न आकाश; मार सकनेवाला हथियार न धातुका हो न पाषाणका—इत्यादि। इसीलिये उसे मार सकना एक असंभव और आश्चर्यजनक व्यापार था। नृसिंहने इसीलिये नाना कोटियोंके मिलन-बिंदुको चुना था। असंभव व्यापारके लिये शायद ऐसी ही परस्पर-विरोधी कोटियोंका मिलन-बिन्दु भगवान्‌को अभीष्ट होता है। कबीरदास ऐसे ही मिलन-बिंदुपर खड़े थे। जहाँसे एक ओर हिंदुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँपर एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति-मार्ग, जहाँसे एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना,—उसी प्रशस्त चौरास्तेपर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और और परस्पर-विरुद्ध दिशामें गये हुए मार्गोंके दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदासका भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग भी किया।

जैसा कि शुरूमें ही बताया गया है, कबीरदासने अपनी प्रेम-भक्तिमूला साधनाका आरंभ एकदम दूसरे किनारेसे किया था। यह किनारा सगुण साधकोंके किनारेसे ठीक उल्टे पड़ता है। सगुण साधकोंने सब कुछ मान लिया था, कबीरने सब कुछ छोड़ दिया था। प्रथम श्रेणीके भक्तोंकी महिमा उनके अथक परिश्रम और अव्यय धैर्यमें है और कबीरकी महिमा उनके उत्कट साहसमें। उन्होंने सफेद कागज़पर लिखना शुरू किया था। वे उस पाण्डित्यको बेकार समझते थे जो केवल ज्ञानका बोझ ढोना सिखाता है, जो मनुष्यको जड़ बना देता है और भगवान्‌के प्रेमसे वंचित करता है। भगवत्प्रेमपर उनकी दृष्टि इतनी दृढ़-निबद्ध थी कि इस ढाई अक्षर ( प्रेम ) को ही वे प्रधान मानते थे—

पढ़ि पढ़िके पत्थर भया, लिखि लिखि भया जु ईंट।
कहै कबीरा प्रेमकी, लगी न एकौ छींट ॥
पोथा पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
ढाई अक्षर प्रेमका, पढ़ै सो पंडित होइ ॥

यह प्रेम ही सब-कुछ है, वेद नहीं, शास्त्र नहीं, कुरान नहीं, जप नहीं, माला नहीं, तस्वीह नहीं, मंदिर नहीं, मस्जिद नही, अवतार नहीं, नवी नहीं, पीर नहीं, पैगंबर नहीं। यह प्रेम समस्त वाह्याचारोंकी पहुँचके बहुत ऊपर है। समस्त संस्कारोंके प्रतिपाद्यसे कहीं श्रेष्ठ है। जो कुछ भी इसके रास्तेमे खड़ा होता है वह हेय है।

उन्होंने समस्त व्रतों, उपवासों और तीर्थोंको एक साथ अस्वीकार कर दिया। इनकी संगति लगाकर और अधिकारि-भेदकी कल्पना करके इनके लिए भी दुनियाके मान-सम्मानकी व्यवस्था कर जानेको उन्होने बेकार परिश्रम समझा। उन्होंने एक अल्लाह निरंजन निर्लेपके प्रति लगनको ही अपना लक्ष्य घोषित किया। इस लगन या प्रेमका साधन यह प्रेम ही है और कोई भी मध्यवर्ती साधन उन्होंने स्वीकार नहीं किया। प्रेम ही साध्य है, प्रेम ही साधन,—व्रत भी नहीं, मुहर्रम भी नहीं; पूजा भी नहीं, नमाज भी नहीं; हज भी नहीं, तीर्थ भी नहीं;—

एक निरंजन अलह मेरा, हिंदू तुरुक दहूँ नहीं नेरा।
राखूँ व्रत न महरम जांनां, तिस ही सुमिरूँ जो रहै निदानां।
पूजा करूँ न निमाज गुजारूँ, एक निराकार हिरदै नमसकारूँ।
नां हज जाऊँ न तीरथ-पूजा, एक पिछाण्यां तौ क्या दूजा।
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन-सूं मन लागा।
(क० ग्रं० पद ३३८)

जो ये पीर पैगंबर, काजी-मुल्ला, रोज़ा-नमाज़ और पच्छिमकी भक्ति हैं ये सभी ग़लत हैं और वे जो देव और द्विज, एकादशी और दिवाली और पूरब दिशाकी भक्ति हैं वे भी ग़लत हैं। भला हिंदुओंके भगवान् तो मंदिरमें रहते हैं और मुसलमानोंके खुदा मस्जिदमे, पर जहाँ मंदिर भी नहीं है और मस्जिद भी नहीं है वहाँ किसकी ठकुराई काम कर रही है? कबीरदासने इन सबको अस्वीकार कर दिया और उन लोगोंको भी अस्वीकार कर दिया जो आँख मूँदकर चलना ही पसंद करते हैं। अपने आत्मारामको ही संगी बनाकर वे निकल पड़े। बोले, ओ फकीर, तू अपनी राह चल। मंदिरमें भी मत जा और मस्जिदकी ओर भी रुख न कर। काहेको टंटेमे पड़ता है। तेरे राम-रहीमा, केसौ-करीमामें तो कोई भेद नहीं है, तेरे लिये तो दोनों एक ही है, एकमेवाद्वितीयम्!—

हमारे राम-रहीम-करीमा, केसौ-अलह-रांम सति सोई ।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई ॥
इनके काजी-मुला पीर-पैकंबर, रोजा-पछिम-निवाजा ।
इनके पूरव-दिसा देव-दिज-पूजा, ग्यारसि-गंग-दिवाजा ॥
तुरुक मसीति देहुरै हिंदू, दुहूठा राम खुदाई ।
जहाँ मसीति-देहुरा नाहीं, तहाँ काकी ठकुराई ॥
हिंदू-तुरुक दोऊ रह तूटी, फूटी अरु कनराई ।
अरध उरध दसहूँ दिस जित तित पूरि रह्या राम राई ।
कहै कबीरा दास फकीरा, अपनीं रहि चलि भाई ।
हिंदू तुरुकका करता एकै, ता गति लखी ना जाई !

( क० ग्रं० पद ५८ )

परन्तु कबीर यहीं नहीं रुके । अगर 'अल्लाह' शब्द मुस्लिम धर्मका प्रतिनिधित्व करता है और 'राम' शब्द हिंदू संस्कृतिका तो वे इन दोनोंको सलाम कर देनेको तैयार हैं । आखिर कोई न कोई शब्द तो व्यवहार करना ही पड़ेगा । पर अगर अरबी फारसीके शब्द मुस्लिम सस्कृतिकी और संस्कृत-हिंदीके शब्द हिंदू संस्कृतिकी अवश्य याद दिला देते हैं तो कबीरदास इस बुद्धि-भेदको भी पनपने नहीं देंगे । वे वेद और कुरानके भी आगे बढकर कहते हैं—

गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै, होत झनकार नित बजत तूरा ।
वेद-कत्तेबकी गम्म नाहीं तहाँ, कहैं कब्बीर कोइ रमै सूरा ॥

—शब्दा० पृ० १०४

इस प्रकार सब बाहरी धर्माचारोंको अस्वीकार करनेका अपार साहस लेकर कबीरदास साधनाके क्षेत्रमें अवतीर्ण हुए । केवल अस्वीकार करना कोई महत्त्वकी बात नहीं है । हर कोई हर किसीको अस्वीकार कर सकता है । पर किसी बड़े लक्ष्यके लिये बाधाओंको अस्वीकार करना सचमुच साहसका काम है । बिना उद्देश्यका विद्रोह विनाशक है, पर साधुउद्देश्यसे प्रणोदित विद्रोह शूरका धर्म है । उन्होंने अटल विश्वासके साथ अपने प्रेम-मार्गका प्रतिपादन किया । रूढियों और कुसंस्कारोंकी विशाल वाहिनीसे वह आजीवन जूझते रहे, प्रलोभन और आघात,—काम और क्रोध भी उनके मार्गमें ज़रूर खड़े हुए होंगे, उन्होंने उनको असीम साहसके साथ जीता । ज्ञानकी तलवार उनका एक-मात्र साधन था, इस अद्भुत शमशेरको उन्होंने

क्षण-भरके लिये भी रुकने नहीं दिया। वह निरन्तर इकसार बजती रही, पर शीलके स्नेहको भी उन्होंने नहीं छोड़ा,—यही उनका कवच था। इन कुसंस्कारों, रूढियों और बाह्याचारके जंजालोंको उन्होंने बेदर्दीके साथ काटा। वे सिर हथेलीपर लेकर ही अपने भाग्यका सामना करने निकले थे। क्षण-भरके लिये भी उनकी भवें कुंचित नहीं हुईं, माथेपर बल नहीं पड़ा। वे सच्चे शूरकी भाँति जूझते ही रहे!—

एक समसेर इकसार बजती रहै
खेल कोइ सूरमा सन्त झेलै।
काम-दल जीति करि क्रोध पैमाल करि
परम सुख धाम तहँ सुरति मेलै॥
सीलसे नेह करि ज्ञानकौ खड्ग ले
आय चौगानमें खेल खेलै।
कहैं कब्बीर सोइ सन्त जन सूरमा
सीसको सौंप करि करम ठेलै!!—( शब्दा० पृ० १०६ )

जो लोग कबीरदासको हिन्दू-मुस्लिम धर्मोंका सर्व-धर्म-समन्वयकारी सुधारक मानते हैं, वे क्या कहते हैं, ठीक समझमें नहीं आता। कबीरका रास्ता बहुत साफ़ था। वे दोनोंको शिरसा स्वीकार कर समन्वय करनेवाले नहीं थे। वे समस्त बाह्याचारोंके जंजालों और संस्कारोंको विध्वंस करनेवाले क्रान्तिकारी थे। समझौता उनका रास्ता नहीं था। इतने बड़े जंजालको नाहीं कर सकनेकी क्षमता मामूली आदमीमें नहीं हो सकती। कमज़ोर स्नायुका आदमी इतना भार बर्दाश्त नहीं कर सकता। जिसे अपने मिशनपर अखण्ड विश्वास नहीं है वह इतना असम साहसी हो ही नहीं सकता।

कबीरने जो समस्त बाह्य-आचारोंको अस्वीकार करके मनुष्यको साधारण मनुष्यके आसनपर और भगवान्को 'निरपख' भगवान्के आसनपर बैठानेकी साधना की थी उसका परिणाम क्या हुआ और भविष्यमें वह उपयोगी होगा या नहीं, यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं। सफलता महिमाकी एक-मात्र कसौटी नहीं है। आज शायद यह सत्य निविड़ भावसे अनुभव किया जानेवाला है कि सबकी विशेषताओंको रखकर मानव-मिलनकी साधारण भूमिका नहीं तैयार की जा सकती। जातिगत, कुलगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत, शास्त्रगत, संप्रदायगत बहुतेरी विशेषताओंके जालको छिन्न करके ही वह आसन तैयार

किया जा सकता है जहाँ एक मनुष्य दूसरेसे मनुष्यकी हैसियतसे ही मिले। जब तक यह नहीं होता तब तक अशान्ति रहेगी, मारामारी रहेगी, हिंसा-प्रतिस्पर्द्धा रहेगी। कबीरदासने इस महती साधनाका बीज बोया था। फल क्या हुआ, यह प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं है। आधुनिक कालके श्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथने विश्वासपूर्वक गाया है कि जीवनमें जो पूजायें पूरी नहीं हो सकी हैं, मैं ठीक जानता हूँ कि वे भी खो नहीं गई हैं। जो फूल खिलनेसे पहले ही पृथ्वीपर झड़ गया है, जो नदी मरुभूमिके मार्गमें ही अपनी धारा खो बैठी है,—मैं ठीक जानता हूँ कि वे भी खो नहीं गई हैं। जीवनमें आज भी जो कुछ पीछे छूट गया है, जो कुछ अधूरा रह गया है, मैं ठीक जानता हूँ, वह भी व्यर्थ नहीं हो गया है। मेरा जो भविष्य है, जो अब भी अछूता है, वे सब तुम्हारी वीणाके तारमें बज रहे हैं, मैं ठीक जानता हूँ, ये भी खो नहीं गये हैं—

जीवने यत पूजा हलो ना सारा,
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा।
ये फुल ना फुटिते झरेछे धरणीते
ये नदी मरुपथे हारालो धारा।
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा।
जीवने आजो याहा रयेछे पिछे,
जानि हे जानि ताओ हय नि मिछे,
आमार अनागत आमार अनाहत
तोमार वीणा तारे बाजिछे ता'रा।
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा।—गीतांजलि

कबीरदासकी साधना भी न तो लोप हो गई है, न खो गई है। उनका पक्का विश्वास था कि जिसके साथ भगवान् हैं और जिसे अपने इष्टपर अखण्ड विश्वास है उसकी साधनाको करोड़ करोड़ काल भी झकझोरकर विचलित नहीं कर सकते—

जाके मन विश्वास है, सदा गुरू है संग।
कोटि काल झकझोरहीं, तऊ न होय चित भंग॥
(स० क० सा० पृ० १८४)

# १४—भगवत्प्रेमका आदर्श

हमने देखा है कि कबीरदासकी भक्ति-साधनाका केन्द्रबिन्दु प्रेमलीला है। किन्तु इस लीलाका जो स्वरूप कबीरदासने उपस्थित किया है वह बहुत व्यापक और विशाल है। भक्तरूपी प्रियाके लिये भगवान्‌रूपी प्रेमिकने जो चुनरी सँवार दी है वह मामूली चुनरी नहीं है और उस चुनरीको धारण कर सकनेकी क्षमता भी मामूली नहीं है। स्वयं प्रिय ही जिसपर प्रसन्न हो कर यह चुनरी दे दे वही इसे पा सकता है, वही इसे पहन सकता है,—यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। कैसी है वह चुनरी? अष्टप्रहररूपी आठ हार्थोकी वह बनी है और पंचतत्त्व-रूपी पाँच रंगोंसे रंगी है। समूचा काल उसका उपादान है और समस्त जड़ प्रकृति उसकी प्रकाशिका। कालके महान् उपादानसे जो आवरण-पट तैयार हुआ है उसको प्रकाशित करनेके लिये पंचतत्त्व ही उपयुक्त रंग है। कालका अनादि-अनन्त प्रवाह सचमुच ही तब तक व्यक्त नहीं हो सकता था जब तक पंचतत्त्वोंके द्वारा हम उसपर लकीर खींच खींचके न देख लें। काल अविभाज्य है, अगणनीय है, अपरिमेय है। ठोस पदार्थोंके द्वारा ही हम उसका विभाग करते हैं, गणना करते हैं, परिमाप करते हैं। सूर्य-चंद्र-तारा-ग्रह-उपग्रहआदि बाह्य वस्तुओंसे और मन-बुद्धिआदि अन्तःकरणसे हम इस अविभाज्य कालका रस ग्रहण करते हैं। इसीलिये काल-रूप सनातन तत्त्वसे बनी हुई चुनरीके लिये पंचतत्त्व ( और इसीलिये लक्षणासे जड़ प्रकृति ) ही उपयुक्त रंग है। इस महान् शृंगार-पटके आँचलमें सूर्य, चंद्र और तारोंकी जगमग ज्योतिका जलना ही उपयुक्त चित्रणसामग्री है। इस अनादि-अनन्त चुनरीको किसीने ताने-बानेपर नहीं बुना,—यह सनातन है, चिरनवीन है। पियाने प्रसन्न होकर जिस प्यारीको यह शृंगार-शाटिका दान की हो, धन्य है वह प्रियतमा, बलिहारी है उस प्रियतमकी !—

चुनरिया हमरी पियाने सँवारी,
कोइ पहिरै पियकी प्यारी।
आठ हाथकी बनी चुनरिया
पँच रँग पटिया पारी।

चाँद-सुरुज जामें आँचल-लागे
जगमग जोति उजारी।
बिनु ताने यह बनी चुनरिया
दास कबीर बलिहारी ॥

यह विशाल परिधेय-पट जिस प्रियने दिया है वह अजीब मस्तमौला है। प्रेम उसका सस्ता भी नहीं है, हल्का भी नहीं है। वह जिसे यह चुनरी देता है उससे बहुत बड़ा मूल्य चुका लेता है। इस चुनरीको पा लेना सौभाग्यकी बात है पर इसको सँभालके रख लेना हिम्मतका काम है। भक्त-गण साक्षी हैं कि इस महान् दानको जिस व्यक्तिने हल्का और मुलायम समझा वह हमेशाके लिये गया। भगवान्ने जिस उपहारको प्रेमपूर्वक दिया हो उसे हल्का और मुलायम समझना गलती है। प्रेम जितना ही महान् होगा उसकी कीमत भी उतनी ही अधिक होगी। यह तो माला नहीं है, यह उसकी तलवार है। भक्तने भावुकताके आवेशमें जिसे भगवान्की वरमाला समझा वह वस्तुतः तलवार निकली ! आगके समान है उसकी आँच, वज्रके समान है भार ! "हे प्रिय, तुमने कलकी सुहाग-रातको यह क्या रख दिया है ? प्रातःकालीन तरुण प्रकाश ज्यों ही खिड़कीके रास्ते तुम्हारी शय्यापर पड़ा त्यों ही मैंने देखा कि यह तो तुम्हारी तलवार है ! चहकते हुए सवेरेके पक्षीने व्यंग्य किया—'नारी तूने क्या पाया है ?' ना, यह माल्य नहीं है, नैवेद्यका पात्र नहीं है, गंधजलकी झारी भी नहीं है,—अरे, यह तो तुम्हारी भयंकर तलवार है !—

ए तो माला नय गो, ए ये
तोमार तरवारि।
ज्वले ओठे आगुन येन
वज्र-हेन भारी—
ए ये तोमार तरवारि।
तरुण आलो जानला बेये
पड़लो तोमार शयन-छेये
भोरेर पाखी शुधाय गेये
'की पेलि तुइ नारी !'
नय ए माला, नय ए थाला

गंधजलेर झारि,
ए ये भीषण तरवारि !
( —रवीन्द्रनाथ : 'खेया' )

भक्त हैरान है। इसे ही क्या दान कहते हैं ? हाय, उसे वह कहाँ छिपा कर रखे ? स्थान कहाँ है ? 'हाय प्यारे, यही क्या तुम्हारा दान है ? मैं शक्तिहीना नारी, मुझे क्या यह आभूषण शोभेगा ? तुम्हारे इस प्रेमोपहारको रखनेका एक-मात्र स्थान तो यह कलेजा है, पर वहाँ रखती हूँ तो प्राण व्यथासे काँप उठते हैं, तो भी हे प्रियतम, तुम्हारे इस दानको मैं इसी कलेजेसे लगा लूँगी। मैं जान गई कि तुम जिसे प्यार करते हो उसके लिये फूलकी सेज नहीं देते, दुःखका कँटीला मार्ग दिखा देते हो—

ताइ तो आमि भाबि बसे
ए कि तोमार दान ?
कोथाय एरे लुकिये राखि
नाइ ये हेन स्थान।
ओ गो ए कि तोमार दान ?
शक्तिहीना मरि लाजे
ए भूषण कि आमार साजे ?
राखते गेले बुकेर माझे
व्यथा ये पाय प्राण।
तबु आजि बइब बुके
एइ वेदनार मान।
निये तोमारि एइ दान। —( रवींद्रनाथ : खेया )

सो उस मस्ताने प्रियतमकी चुनरी संभालना भी कठिन काम है। रणरंगका मतवाला सूरमा दो-चार क्षणके लिये जूझता है। क्योंकि उसे जो उपहार मिला है वह स्थूल है, इस उपहारका प्रेम भी स्थूल है। भले ही वह उपहार राज्य हो, यश हो, मान हो, धन हो। सतीका संग्राम एकाध पलक रहता है, वह भी प्रलोभनोंसे जूझती है पर जो धर्म उसे उपहारके रूपमें मिला है वह सूक्ष्म होनेपर भी सांसारिक है। परन्तु भक्तका संग्राम दिन-रातका जूझना है, मन और प्राणकी बाजी है। ज़रा-सी वाग ढीली हुई कि वह गिरा। उसका गिरना

भी म मूली गिरना नहीं है क्योंकि वह आसमानसे गिरता है और धरतीपर टुकड़े टुकड़े हो कर बिखर जाता है। इस भयंकर जूझका कारण यह है कि भक्तको जो प्रेम उपहारमे मिला है वह बहुत बेशकीमत है। उसका दाम चुकाना मामूली बात नहीं है। वह फूलोंकी सेज नहीं है, काँटोंका जंगल है। यह दिन-रातका जूझना, दुःख और विपत्तिमें बढ़ते जाना, किसी बिरलेका ही काम है—

साधका खेल तो विकट बेढा मती
सती औ सूरकी चाल आगे।
सूर घमसान है पलक दो-चारका
सती घमसान पल एक लागे।
साध संग्राम है रैन-दिन जूझना
देह पर्जन्तका काम भाई
कहैं कब्बीर टुक बाग ढीली करै
उलटि मन गगनसों जमीं आई॥

(शब्दा० पृ० १०८)

तो क्या भगवान्का प्रेम किसी एक व्यक्तिको ही प्राप्त होता है? और लोग क्या निपट ठूँठे ही हैं? नहीं; भला कौन है जिसे प्रियतमने सनातन काल-तत्त्वकी बनी हुई और पंच-तत्त्वकी रंगी हुई चुनरी नहीं दी है? दी तो है लेकिन सँभालके रख सकनेवाला ही उसका प्रिय है, उस महान् शृंगार-पटका मूल्य समझ सकनेवाला धन्य है। बाकी लोग जो उसे मलिन कर रहे हैं, छिन्न-भिन्न कर रहे हैं, हल्का माने बैठे हैं, वे दयनीय नहीं तो क्या हैं? प्रियतम तो बराबर पुकार रहा है,—शब्दकी चोटसे बेध रहा है,—कौन है जो उसके साथ आनन्द-केलिको निकल पड़ेगा! चूनरी गंदी हो गई हो तो कुछ चिन्ता नहीं; उसने ज्ञानका साबुन दे रखा है। पर गंदी हो गई है, या गंदी हो रही है, इस बातसे मनमें पश्चात्ताप भी तो हो! अरे ओ सुहागिन, साहब जब तुझे अपनायेगा तो तेरी चुनरीका दाग भी मिट जायगा। क्यों नहीं तू एक बार उसकी पुकार पर चल पड़ती!

मोरी चुनरीमें परि गयो दाग पिया।
पाँच तत्तकी बनी चुनरिया, सोरह सै बंद लागे जिया।

यह चुनरी मेरे मैकेतें आई, ससुरामे मनुआँ खोय दिया।
मलि मलि धोई दाग न छूटै, ज्ञानको साबुन लाय पिया।
कहै कबीर दाग कब छुटि हैं, जब साहेब अपनाय लिया॥
( शब्दा० पृ० ५८ )

इस प्रकार कबीरदासने इस प्रेमलीलाको एक बहुत ही वीर्यवती साधनाके रूपमे देखा है। एक बार जिसे भगवान्की रहस्य-केलिकी पुकार सुनाई दे जाती है वह व्याकुल हो उठता है, प्रिय मिलनके लिये उसकी तड़पन संसारके किसी और विरह-व्यापारसे तुलनीय नहीं हो सकती। चकईका विरह प्रसिद्ध है पर वह भी तो रातकी समाप्तिके बाद प्रियके साथ आसानीसे मिल जाती है। रामका विरह इतना आसान नहीं है। एक बार जो इस विरहके चपेटमें आ गया वह कुछ ऐसा बेहाल हो जाता है कि कहकर प्रकाश करना कठिन है। उसे न दिनमे सुख मिलता है न रातमे; न सपनेमें, न जागरणमें; न धूपमें, न छाँहमे। राम-विरहका मारा भक्त हर एक साधकसे पूछता रहता है कि वह कहाँ है, उसका प्रियतम किधर है, उसके पास जानेका रास्ता क्या है? वह ठीक उस विरहसे ऊबी विरहिणीके समान होता है जो हर-एक राहगीरसे पूछती रहती है कि उसके प्रियतम कब आयेंगे?—

चकवी बिछुरी रैणिकी, आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुरे रामसे, ते दिन मिलें न राति॥
बासरि सुख ना रैंण सुख, नां सुख सपुनैमांहि।
कबीर बिछुव्या रामसूं, ना सुख धूप न छाँह॥
विरहिनि ऊभी पंथसिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीवका, कब रे मिलैंगे आइ॥
( क० ग्रं० पृ० ७–८ )

रवीन्द्रनाथने जिसे तलवार कहा है, कबीरदासने उसीको बाण कहा है। यह बाण जब प्रियतमके कमानसे खिंच कर भक्तके कलेजेमें लगता है तो अन्तर तक छेद देता है, कलेजेको बेध देता है। जब तक यह बाण लग नहीं जाता तब तक पता नहीं चलता और जब एक बार कलेजेमे घुस जाता है तो उसकी पीड़ा कुछ ऐसी मधुर लगती है, कुछ इतनी मनभावनी होती है कि भक्त बार बार प्रार्थना करता है कि हे प्रिय, इस बाणसे फिर छेद दो, फिर इस हृदय-देशको

कुरेद डाले। अब तो वह बाण ही जीवन-आधार हो जाता है। उसके बिना भक्तको कल नहीं पड़ती—

कर कमान सर साधि करि, खैंचि जु मारया माहि।
भीतरि भिद्या सुमार ह्वै, जीवै कि जीवै नाहिं॥
जब हूं मारा खैंचि करि, तब मैं पाई जाणि।
लागी चोट मरम्मकी, गई कलेजा छाँडि॥
जिसि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूं मारि, सर बिनु सचुपाऊँ नहीं॥
( क० ग्रं० पृ० ८-९ )

परन्तु वह प्रिय बड़ा ही कठोर है, और जैसा कि रवीन्द्रनाथने कहा है, 'दुःखकी रातका राजा है, अन्धकार-भरे महलका बादशाह है!' उसे सुख और साज पसद नहीं; अपनी प्रेयसीके विरहमें वह रस लेता है। वह सहज ही नहीं गलता। जब दुःखकी आँधी आती है, तब बिजलीकी कड़कके साथ वह भक्त-प्रेयसीके छिन्न-भिन्न-शयन कथापर आ विराजमान होता है। उसका रास्ता दुःखका है, संकटका है, जूझनेका है, विपत्तिका है! भोले हैं वे, जो दुःखकी इस महिमाको नहीं समझते। अरे कौन है वहाँ पड़ा हुआ? खोल दे दरवाजा, जल्दी खोल दे। मांगल्य-शंखकी गंभीर ध्वनिसे मुखरित कर दे दिगन्तको। घनी काली गहरी रातमें अँधेरे घरका बादशाह आया है। देख, आँधीसे दिशायें समाच्छन्न हैं, आकाशमें बारम्बार वज्र-निनाद हो रहा है, बिजली झलक रही है। खींच ले आ, बिछा दे अपनी फटी गूदड़ी। अचानक दुःखकी रातका मेरा राजा आँधीके साथ आ पहुँचा है!—

ओरे दुयार खुले दे रे—
बाजा शंख बाजा।
गंभीर राते एसेछे आज
आँधार घेरर राजा।
वज्र डाके शून्य तले
विद्युतेरि झिलिक झले
छिन्न शयन टेने एने
आडिना तोर साजा

झड़ेर साथे हठात् एलो
दुःख-रातेर राजा ।

( रवीन्द्रनाथ : खेया )

सो कबीरदासका प्रियतम भी 'दुःखका राजा है' । उसका रास्ता देखते देखते ऑखोंमे झाईं पड़ गई है, नाम पुकारते पुकारते जीभमें छाले पड़ गये हैं । रात-दिन ऑंखोंसे निर्झर झर रहा है, मुखसे पपीहेकी रट लगी हुई है,—विरह-वेदनासे सारा शरीर म्लान हो गया है । यह अजस्र 'दुःख' है । लोग इसे सांसारिक पीडा समझते हैं जो केवल कष्ट देती है, केवल अभावका प्रतिनिधित्व करती है । लेकिन यह पीड़ा अभाव-जन्य नहीं है, भाव-स्वरूपा है । लोग जिसे दुःख कहते हैं उससे यह भिन्न है । यह जो परमप्रियतमके लिये रो-रोकर ऑखें लाल हो गई हैं, वह भी एक अनिर्वचनीय आनंद है,—प्रेमकषायित नयनोंकी अद्भुत खुमारी है । प्रियतम इस दुःखके मार्गसे आता है, रोदन ही उसका मार्ग है । वह हॅसीको पसन्द नहीं करता, सुखको नहीं चाहता और इसीलिये इस रोदनमें भक्त एक प्रकारका उल्लास अनुभव करता है, क्योंकि यह प्रेमीके मिलनका मार्ग है—

अंखड़ियॉ झाईं पड़ी, पन्थ निहारि निहारि ।
जीभड़ियॉं छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि ॥ २२ ॥
नैना नीझर लाइया, रहट बसै निस-जाम ।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम ॥ २४ ॥
अंखडि प्रेम-कसाइयॉ, लोग जाणै दुःखड़ियॉ ।
सॉंई अपणैं कारणैं, रोइ रोइ रत्तड़ियॉं ॥ २५ ॥
हॅंसि हॅंसि कन्त न पाइये, जिनि पाया तिन रोइ ।
जो हॅंसे ही हरि मिलै, तो न दुहागिनि कोइ ॥ २९ ॥

( क० ग्रं०, पृ० ९ )

एक बार अगर वह प्रियतम मिल जाय तो भक्त उसे नैनोंमें इस प्रकार बन्द कर ले कि न वह और किसीको देख सके और न प्रियतमको ही किसी औरके देखनेका मौका मिले—

नैना अन्तरि आपनूं, ज्यूं हौं नैन झॅपेउं ।
नॉं हौं देखौं औरकूं, ना तुझ देखन देउं ॥

( क० ग्रं०, पृ० १९)

कबीरदासके प्रेमके आदर्श सती और शूर हैं। जो प्रेम पद पदपर भावविह्वल कर देता है, जो मन और बुद्धिका मन्थन कर मनुष्यको परवश बना देता है, जो उन्मत्त भावावेश प्रेमीको हतचेतन बना देता है वह कबीरदासका अभीष्ट नहीं है। भक्तका संग्राम शूरके संग्रामसे भी बढ़ कर है, सतीके आत्मबलिदानसे भी श्रेष्ठ है। परन्तु फिर भी यदि भक्तके आत्मबलिदानकी झलक कहीं दिख सकती है तो वह सती और शूरमें ही दिखती है—

साधु सती औ सूरमा, इन पटतर कोउ नाहिं।
अगम-पन्थकौं पग धरैं, डिगैं तो कहॉं समाहिं ॥ २१ ॥
साधु सती औ सूरमा, कबहुँ न फेरैं पीठ।
तीनों निकसि जो बाहुरैं, ताको मुँह मति दीठ ॥ ३९ ॥
टूटै बरत अकाससो, कौन सकत है झेल
साधु सती अरु सूरका, आनी ऊपर खेल ॥ २६ ॥
( स० क० सा०, पृ० २२० )

परन्तु फिर भी,

आगि-ऑंच सहना सुगम
सुगम खड्गकी धार।
नेह निबाहन एकरस
महा कठिन व्यवहार ॥ ६१ ॥

यह जो एकरस प्रेम है उसका निबाहना सचमुच कठिन व्यवहार है। एक-रस अर्थात् जो भावावेगसे उफन न पड़े और विरह-तापसे बैठ न जाय; जो क्षणिक आवेशमें ज्ञान और कर्मकी मर्यादा न तोड़ दे और चिर-अभ्याससे जड़ आवर्तन-का रूप न ग्रहण कर ले। रवीन्द्रनाथने इस बातको बहुत ही कवित्वपूर्ण और मार्मिक भाषामें व्यक्त किया है। "हे नाथ, जो भक्ति तुम्हें लेकर अधीर हो उठती है, क्षणभरमें नृत्य-गीत-गानेके रूपमें विह्वल हो उठती है, भावोन्मादसे मत्त बना देती है, वह ज्ञानको लोप कर देनेवाली ( बेहोश कर देनेवाली ) उफनती हुई फेनमयी भक्तिकी मद-धारा मुझे नहीं चाहिये। हे नाथ, मुझे शान्त भक्तिरूपी स्निग्ध अमृतसे भरा हुआ मंगल-कलश दान करो,—मंगल कलश, जो संसारके भवन-द्वारपर सुशोभित हो,—जो भक्ति मेरे समस्त जीवनमें गूढ और गंभीर भावसे फैल जायगी, समस्त कर्मोंमें मुझे बल देगी, और हमारी उन सारी

शुभ चेष्टाओंको भी आनंद और कल्याणसे भर देगी जो विफल हो चुकी हैं। यह शान्तरस-भक्ति मुझे सब प्रेमोंमें तृप्ति देगी, समस्त दुःखोंमें कल्याण देगी, समस्त सुखोंमें दाहहीन दीप्ति भर देगी। भावनावेगके आँसुओंको रोककर मेरा चित्त परिपूर्ण अ-मत्त और गंभीर बना रहेगा—

ये भक्ति तोमारे लये धैर्य नाहि माने,
मुहूर्ते विह्वल हय नृत्य-गीत-गाने,
भावोन्माद मत्तताय, सेइ ज्ञानहारा
उद्‌भ्रान्त उच्छलफेन भक्ति-मद-धारा
नाहि चाहि नाथ। दाओ भक्ति शान्तिरस,
स्निग्ध-सुधापूर्ण करि, मंगल-कलस
संसार-भवन-द्वारे। ये भक्ति-अमृत
समस्त जीवन मोर हइबे विस्तृत
निगूढ़ गभीर, सर्व कर्मे दिबे बल,
व्यर्थ शुभ चेष्टारे ओ करिबे सफल
आनन्दे कल्याणे। सर्व प्रेमे दिबे तृप्ति
सर्व दुःखे दिबे क्षेम, सर्व सुखे दीप्ति-
दाहहीन। सम्बरिया भाव-अश्रुनीर
चित्त रबे परिपूर्ण अमत्त गभीर।

(—नैवेद्य)

सो, कबीरदासका आदर्श भी वही प्रेम है जो क्षण-भरके भावावेशमें उफन नहीं पड़ता। यह प्रेम मृत्युका प्रेम है, सिर उतार कर ही किसीको इस प्रेम-मंदिरमें पैठनेका अधिकार मिलता है। अगम्य है इसका मार्ग, अगाध है इसका विस्तार। यह खालाका घर नहीं है जहाँ मचलने और रोनेसे ही फ़रमाइश पूरी हो जाती है—

कबीर यहु घर प्रेमका, खालाका घर नाहि।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर माहि॥
कबीर निज घर प्रेमका, मारग अगम-अगाध।
सीस उतारि पगतलि धरै, तब निकटि प्रेमका स्वाद॥

(क० ग्रं०, पृ० ६९)

और फिर जिस सतीने हाथमें सिंदूरकी डिबिया ले ली है, उसे मृत्युका क्या डर ?—सिंदूरकी डिबिया अर्थात् अचल सौभाग्यकी निशानी। भक्त भी भगवानके साथ अनन्त मिलनका अभिज्ञान जब पा जाता है तो उसे मृत्युका कोई डर नहीं रहता। मृत्यु उसके लिये आनंद है क्योंकि इसी दरवाजेसे 'पूरण परमानंद'का आगमन होता है। मृत्यु तो सीमाके अन्तका नाम है और सीमाका अन्त पाना ही असीमकी गोदमें जाना है। इसलिये भक्त मृत्युकी परवा तो करता ही नहीं, उलटे उसे चाहता है, कब वह दिन आयेगा जब वह मृत्युके द्वारा इस सीमाको पार कर जायगा और असीम 'पूरण परमानंद'में मिल जायगा !—

> अब तो ऐसी ह्वै पड़ी, मनकारु चित कीन्ह।
> मरनैं कहा डराइये, हाथि सिंध्यौरा लीन्ह ॥
> जिस मरनैंथैं जग डरै, सो मेरे आनन्द।
> कब मरिहूँ कब देखहूँ, पूरण परमानन्द ॥
>
> (क० ग्रं०, पृ० ६९)

मृत्यु ? मरना भी कोई चाहेगा ? पर भक्त मरना चाहता है, आत्म-हत्या नहीं। सांसारिक विषयी व्यक्ति आत्म-हत्या करते हैं। मृत्यु तो संग्राममें होती है, जौहरसे होती है,—जहाँ मरनेवाला अपनेको बलिदान कर देता है। जो अपनेको बलिदान नहीं करता वह रोग-शोकका शिकार हो जाता है। उसकी मृत्यु या तो परवश मृत्यु है या आत्मघात है। पर जो प्रतिक्षण अपनेको उत्सर्ग कर सकता है, जो सदा सिर हथेलीपर लिये हुए है, वह जीता भी है तो मृत्युका वरण करके। अपना आपा ही तो सीमा है, बंधन है, भय है। उसको त्याग देना और बलिदान कर देना ही मृत्यु है। सो कबीरदास इसी मृत्युको वरण करनेकी सलाह देते हैं। मरके मरना तो कोई मरना नहीं हुआ, क्यों न जीते ही मरा जाय ? अपने आपको उत्सर्ग कर देना ही जीते हुए मर जाना है !—

> हौं तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यों न मराइ।
> मूँआ पीछे सत करै, जीवत क्यूँ न कराइ ॥
>
> (क० ग्रं० पृ० ७१)

कबीरके प्रेमका जो आदर्श है वह कविवर रवीन्द्रनाथके प्रेम-लीलाके आदर्शसे मिलता-सा है। रवीन्द्रनाथने बहुत अधिक सरस और कवित्वपूर्ण भंगीमें जिस प्रेमलीलाको व्यक्त किया है उसे कबीरने सरल, फक्कड़ाना और अर्थपूर्ण

भाषामें व्यक्त किया है। रवीन्द्रनाथ काव्यके सुकुमार माध्यमका सहारा लेते हैं और नये-पुराने, बाहरके और घरके शत शत विचारोंकी सहायतासे जिस भाव-जगत्‌का निर्माण करते हैं वह अपूर्व है, परन्तु, यह कहनेमें कोई हर्ज नहीं कि उनके आदर्शका वैसा ही रूप कबीरमें मिल जाता है। कभी कभी रवीन्द्रनाथकी कवितायें और आलोचनायें कबीरको समझनेमें सहायक होती हैं। फिर भी दोनोंमें एक बड़ा भारी भेद है जो जानना कबीरके पाठकके लिये बड़े कामकी चीज़ है। ऊपर हमने कई जगह लक्ष्य किया है कि कबीर और रवीन्द्रनाथ दोनोंकी ही धारणा है कि भगवान् भक्तके साथ प्रेम-केलिके लिये व्याकुल रहते हैं। पर रवीन्द्रनाथकी अधिकांश कविताओं और गीतियोंमें भक्तके पास भगवान् स्वयं अभिसार करते हैं जब कि कबीरकी अधिकांश कविताओंमें भक्त ही अभिसारिकाका कार्य करता है। ऐसा तो नहीं है कि रवीन्द्रनाथमें एक जगह भी भक्त अभिसारके लिये नहीं निकला हो और कबीरमें कहीं भी भगवान्‌ने अभिसारका प्रयत्न न किया हो, पर सब मिलाकर कबीरका भक्त अभिसारका प्रयत्न स्वयं करता है जब कि रवीन्द्र-नाथका भगवान् निरन्तर अभिसार करता रहता है।

कबीरदासकी भक्त-रूपी अभिसारिका आरती सजाकर प्रियको ढूँढ़ने निकल पड़ती है, प्रेम-रसके बूँदसे उसकी चूनरी भीजती रहती है—

भीजै चुनरिया प्रेमरस-बूँदन।
आरती साजके चली है सुहागिनि,
प्रिय अपनेको ढूँढन।

—शब्दा० पृ० ९

या फिर वह प्रियतमकी ऊँची अटारी तक पहुँचकर भी लज्जासे भरी ऊपर जानेमें संकोच करती है, पैर उसके थक गये होते हैं, यदि हिम्मत करके चढ़नेके लिये पैर भी उठाती है तो सीढ़ियोंपर ही लड़खड़ा जाती है, अंग अंग थहरा जाते हैं, चित्त भयसे काँप उठता है,—अनाड़ी नारी इस महीन ऊँचे सँकरे मार्गकी थाह ही नहीं पा पाती! और फिर भी यह कैसा मोह है, सद्गुरुके उपदेशसे उसका अन्तरपट ज्यों ही खुलता है त्यों ही ऊँचाई गायब हो जाती है, दूरी दूर हो गई होती है और थकानका पता नहीं रहता! प्रियतम हृदयमें ही क्रीड़ा करते पाये जाते हैं—

पिया-मिलनकी आस रहौं कबलौं खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी॥
पाँव नहीं ठहराय चढूँ गिर गिर परूँ।
फिरि फिरि चढहुं सम्हारि चरन आगे धरूँ॥
अंग अंग थहराय तो केहि बिधि डरि रहूँ।
करम-कपट मग घेरि तो भ्रममे परि रहूँ॥
बारी निपट अनारि तो झीनी गैल है।
अटपट चाल तुम्हार मिलन कस होइहै॥
छोरो कुमति-विकार सुमति गहि लीजिये।
सतगुरु-शब्द सम्हारि चरन चित दीजिये॥
अन्तरपट दे खोल शब्द उर लाव री।
दिल-बिच दास कबीर मिलैं तोहिं बावरी॥

( क० वच० पृ० १४१–२ )

या फिर वह ऊँचे रपटीले मार्गपर व्याकुल भावसे निकल पड़ती है, पाँव डगमगाते रहते हैं, मन लोज और कुलकी मर्यादाओंके भंग होनेके भयसे सशंक बना रहता है, नैहरकी बसनेवाली होनेके कारण वह नैहरमें प्रिय-समागम,—सो भी अभिसारकी लज्जा नहीं छोड़ पाती, ऊँचे महलको देखकर भौंचक्का रह जाती है। परन्तु सद्गुरु-रूपी दूती मिलते ही प्रियतमके गले लगना उसके लिये संभव हो जाता है—

मिलना कठिन है कैसे, मिलौंगी प्रिय जाय।
समझि-सोचि पग धरौं जतनसे, बार बार डिग जाय।
ऊँची गैल राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय॥
लोक-लाज कुलकी मरजादा, देखत मन सकुचाय।
नैहर-वास बसौं पीहरमें, लाज तजी नहिं जाय॥
अधर-भूमि जहँ महल पियाका, हमपै चढ्यौ न जाय॥
धन भइ बारी पुरुख भये भोला, सुरत झकोरा खाय।
दूती सतगुरु मिले बीचमें, दीन्हो भेद बताय।
साहब कबीर पिया-सो भेट्यौ, सीतल कंठ लगाय॥

( क० वच०–पृ० १३६–७ )

और सही बात तो यह है कि उसे नैहर अच्छा लगता ही नहीं। उसके प्रियतमकी नगरी,—जहाँ दिन-रात मोती बरसते रहते हैं, जहाँ प्रियकी मधुर मुरलीसे दिगन्त मुखरित होता रहता है, जहाँ बिना मूलके कमल पुष्पो और अन्य नाना-विध कुसुमोके सौरभसे वायुमण्डल व्याप्त रहता है,—वह नगरी उसको खींचती रहती है। वह अभिसार-यात्राको निकलनेको बाध्य है। चातक जैसे चाँदकी ओर टक लगाये रहता है वैसे ही वह उस प्रेममयी नगरीको ताकती ही रह जाती है—

मोतिया बरसे रैरे देसवां दिन-राती।<br>
मुरली-शब्द सुनि मन आनंद भयौ, जोति बरै दिन-राती।<br>
बिना मूलके कमल प्रगट भयौ, फुलवा फुलत भाँति भाँती।<br>
जैसे चकोर चंद्रमा चितवै, जैसे चातक स्वाती॥ इत्यादि।

(शब्दा० पृ० ७२)

उस परम अद्भुत नगरीके सामने क्या नैहर भा सकता है? कैसी है वह नगरी? परम रमणीय उस अद्भुत नगरीके भीतर कोई पहुँच नहीं पाता। चाँद और सूर्य भी, पवन और पानी भी वहाँ जानेमे असमर्थ हैं। इस अगम अगोचर स्थानतक प्रियतमके पास विरहकी मारी प्रियाका संदेश भी तो नहीं कोई पहुँचा सकता! हाय सखी, कोई उपाय क्यो नहीं सोचती, किस प्रकार उस अजब सासुरेको जाऊँ? लेकिन कबीरदासको निश्चित रूपसे मालूम है कि उस नगरीको पहुँचा दे सकनेवाला साथी एक सद्गुरु ही है। वही वहाँतक प्रियाको पहुँचा सकता है। नहीं तो प्रियतमका मिलन स्वप्नमें भी असंभव ही है!—

नैहरवा हमकाँ नहिं भावै।<br>
साईंकी नगरी परम अति सुंदर, जहाँ कोइ जाइ न आवै।<br>
चाँद-सुरुज जहँ पवन न पानी, को संदेस पहुँचावै?<br>
दरद यह साँई, को सुनावै?<br>
आगे चलौं पंथ नहिं सूझै, पीछे दोष लगावै।<br>
केहि विधि ससुरे जाँव मोरी सजनी, विरहा जोर जनावै।<br>
विषै-रस नाच नचावै।<br>
बिन सतगुरु अपनो नहिं कोई; जो यह राह बतावै।

कहते कबीर सुनो भाई साधो, सपने न प्रीतम पावै ।
तपन यह जियकी बुझावै ।—( शब्दा० पृ० ७२ )

सिर्फ यात्राके विषयमे ही कबीरदासकी परिकल्पित भक्ताभिसारिका स्वयं क्रियात्मक प्रयत्न करती हो यह बात नहीं है । प्रियके शान्त स्निग्ध क्रोडमें शयन करनेका प्रयत्न भी पहले उसीकी ओरसे होता है—

ए ऑखिया अलसानी, पिया हो सेज चलो ।
खंभ पकरि पतंग अस डोलै, बोलै मधुरी बानी ।
फूलन सेज बिछाइ जो राख्यौ, पिया बिना कुम्हलानी ।
धीरे पॉव धरौ पलँगापर, जागत ननँद-जिठानी ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लोक-लाज बिछलानी ॥
( क० वच० पृ० १६६ )

परन्तु रवीन्द्रनाथकी भक्त-प्रेयसी और तरहकी है । उसके जीवन-देवता उसके हृदयमें अपनी प्यास बुझानेके लिये आते हैं—

ओहे अन्तरतम,
मिटेछे कि तव सकल तियाष
असि' अन्तरे मम !

अरी ओ अभागिन, तुझे कैसी नींद आ गई थी जो प्रियतमके पास आने-पर भी जाग नहीं सकी । वह निस्तब्ध रात्रिमें आया था, हाथमें उसके वीणा थी, तेरे स्वप्नमें उसने गभीर रागिणी बजा दी और तू सोती ही रही ! हाय, जागके देखती हूँ, दक्खिनी हवाको पागल बनाकर उसका सौरभ अन्धकारमें व्याप्त होकर प्रवाहित हो रहा है ! हाय, क्यों मेरी रात व्यर्थ चली जाती है, उसे नजदीक पा कर भी नहीं पा सकती, क्यों उसकी मालाका स्पर्श मेरे वक्षःस्थलको नहीं लगने पाता—

से ये पाशे एसे बसेछिल, तबु जागिनि ?
की घूम तोरे पेयेछिल हतभागिनी ?
एसे छिल नीरव राते, वीणाखानि छिल हाते,
स्वपन माझे बाजिये गेलो, गभीर रागिणी ।
जेगे देखि दखिन-हाओया पागल करिया,

गध ताहार भेसे बेड़ाय आँधार भरिया।
केन आमार रजनी याय, काछे पेये काछे ना पाय
केन गो तार मालार परश, बुके लागेनि।—( गीताजलि )

"शयनके सिरहाने अभी अभी प्रदीप बुझा था, जाग उठी थी प्रभातकालके कोकिलके शब्दोंसे। अलस चरणोंसे ( चलकर ) खिड़कीपर आकर बैठी थी, शिथिल केशोंमे नई माला धारण की थी। ऐसे ही समयमे जब कि रास्ता अरुण-धूसर हो उठा था, राजमार्गपर तरुण पथिक दिखाई दिया। सोनेके मुकुटपर उषाका आलोक पड़ रहा था। गलेमें सुसज्जित मुक्ताकी माला शोभ रही थी। कातरकण्ठसे उसने पुकारा—'वह कहॉ है, कहॉ है वह ?'—व्यग्र चरणोंसे मेरे ही द्वारपर उतर कर!—मैं लाजसे मरी जा रही थी, कैसे कहूँ कि 'ऐ बटोही, वह मै ही हूँ, वही तो मैं हूँ!'

"गोधूलि-वेला थी, तब भी प्रदीप नहीं जला था, मैं माथेमें सोनेकी बेंदी पहन रही थी,—हाथमे सोनेका दर्पण लेकर खिड़कीपर अपने मनसे कबरी बॉध रही थी। ऐसे ही समय संध्या-धूसर पथपर वह करुण नयनोंवाला तरुण पथिक रथपरसे उतरा। फेन और पसीनेके कारण घोड़े व्याकुल हो रहे थे। उसके वस्त्रों और भूषणोंमें धूल भर गई थी। कातरकठसे उसने पुकारा—'वह कहाँ है ? वह कहाँ है ?'—क्लान्त चरणोंसे हमोर ही द्वारपर उतर कर! हाय मैं लाजसे मरी जा रही थी। कैसे कहती कि 'ऐ थके बटोही, वह मै ही हूँ, वही तो मैं हूँ!'

"फागुनकी रात है। घरमे प्रदीप जल रहा है, दक्षिणी हवाके झकोरे छातीपर लग रहे हैं, यह मुखरा सारिका ( मैना ) सोनेके पिंजड़ेमें सो रही है, द्वारके सामने द्वारपाल भी सो रहा है। सोहागघर धूपके धुऑसे धूसर हो उठा है। अगुरुकी गंधसे सारा शरीर व्याकुल है, मोर-पंखी कंचुकी मैने पहन ली है। दूर्वाके समान उस श्यामल वक्षःस्थलपर ऑचल खींचकर विजन राजमार्गके उस पार देख रही हूँ। धूलमें उतरकर खिड़कीके नीचे बैठ गई हूँ। अकेली बैठी तीन पहरतक उदास भावसे गान गाती रही हूँ—'हताश पथिक, वह मै ही तो थी, वही तो मैं थी!"—'भ्रष्ट लग्न'से अनुवादित।

इसी प्रकार

"हे सुंदर, तुम आज प्रातःकाल आये थे, अरुणवर्णका पारिजात तुम्हारे हाथोंमें था। सारी नगरी निद्रित थी, रास्तेमें कोई पथिक भी नहीं था। तुम

अपने सोनेके रथपर अकेले ही चले गये। सिर्फ एक बार रुक मेरी खिड़कीकी ओर तुमने करुणाभरी आँखोंसे देखा था,—हाँ, सुंदर, तुम आज प्रातःकाल आये थे!—

सुन्दर, तुमि एसेछिले आजि प्राते,
अरुण-वरण पारिजात लये हाते।
निद्रित पुरी, पथिक छिल ना पथे,
एका चलि गेले, तोमार सोनार रथे,
वारेक थामिया मोर वातायनपाने
चेये छिले तव करुण नयन-पाते।
सुन्दर, तुमि एसेछिले आजि प्राते। (गीतांजलि)

स्पष्ट ही कबीर और रवीन्द्रनाथकी प्रेम-लीला एक ही प्रकारकी होनेपर भी दोनोंमें मौलिक भेद है। एककी केलि यत्न-साधित है, दूसरेकी स्वयं-प्राप्त; एक अपनेको और अपने पौरुषको भूलकर भी भूलना नहीं जानता, दूसरा अपनेको और अपनी शक्तिको स्मरण रखकर भी भूल जाता है; एक क्रियात्मक है, दूसरा भावनात्मक; एकका मार्ग साधनाका मार्ग है, दूसरेका मार्ग सौन्दर्यका; एक करनेमें विश्वास करता है दूसरा होनेमें; एक प्रधान रूपसे सन्त है, दूसरा कवि। परन्तु दोनोंमें प्रियसे मिलनेकी व्याकुलता है, दोनोंका ही प्रियतमके प्रेम-पर अखण्ड विश्वास है, दोनोंमें ही आत्मार्पणका भाव प्रबल है, दोनों ही प्रिय-प्राप्तिको सहज-लभ्य व्यापार नहीं मानते, दोनोंका ही प्रेम हिस्टीरिक प्रेमोन्मादका परिपंथी है। दोनों ही कठोर साधना और कोमल भक्तिके हामी हैं। अद्भुत है वह प्रेम, अपूर्व है उसकी ज्योति। दुःख और द्वन्द्वसे परे, भ्रम और भ्रान्ति-से अतीत यह एकरस प्रेम ही परम पुरुषार्थ है—

गगनकी गुफा तहँ गैबका चाँदना, उदय औ' अस्तका नाम नाहीं।
दिवस औ रैन तहँ नेक नहिं पाइये, प्रेम-परकाशके सिंधुमाहीं।
सदा आनंद दुख-दंद व्यापै नहीं, पूरनानंद भरपूर देखा।
भर्म औ' भ्रान्ति तहँ नेक आवै नहीं, कहैं कब्बीर रस एक पेखा॥

(शब्दा० पृ० १०५)

## १५—रूप और अरूप, सीमा और असीम

इस संसारमें सब-कुछ चंचल है, चलता जा रहा है। चूँकि कुछ भी स्थिर नहीं है, सब कुछ गतिशील है, परिवर्तनीय है, इसीलिये संसारकी स्थिति है। यह एक अद्भुत विरोधाभास है, पर है सत्य। समस्त संसरणशील वस्तुओंकी अस्थिरताके होते हुए भी यह संसार 'है'। इसका 'है'—भाव ही सूचित करता है कि सब चलमान वस्तुओंके भीतर एक अविचल सत्य प्रतिष्ठित है। "जो लोग अनन्तकी साधना करते हैं और जो सत्यकी उपलब्धि करना चाहते हैं, उन्हे बार बार यह बात सोचनी होती है कि वे चारों ओर जो कुछ देख और जान रहे हैं वही चरम सत्य नहीं है, वह अपने आपमे स्वतंत्र नहीं है, और किसी भी क्षण वह अपने आपको पूर्ण रूपसे प्रकाश नहीं कर रहा है। यदि ये वस्तुएँ ऐसी होतीं तो वे सभी स्वयंभू-स्वप्रकाश होकर स्थिर हो रहतीं। पर उनमें एक अन्तहीन गति है, अविराम अस्थिरता है। ये जो अन्तहीन गतिके द्वारा अन्तहीन स्थितिको निर्देश कर रहे हैं वही हमारे चित्तका परम आश्रय और चरम आनंद है। अतएव, आध्यात्मिक साधना कभी भी रूपकी साधना नहीं हो सकती। वह समस्त रूपोंके भीतरसे चंचल रूपके बंधनको अतिक्रम करके, ध्रुव सत्यकी ओर चलनेकी चेष्टा करती है। कोई भी इन्द्रियगोचर वस्तु जो अपनेको ही चरम या स्वतंत्र समझनेका भान करती है वस्तुतः वैसी नहीं है। साधक इस भानके आवरणको भेद करके ही परम पदार्थको देखना चाहता है। यदि नाम-रूपका यह आवरण चिरन्तन होता तो वह भेद नहीं कर सकता था। यदि वे अविश्रान्त भावसे नित्य प्रवहमान होकर अपने आपकी ही सीमा तोड़ते हुए न चलते, तो इन्हे छोड़कर और किसी बातके लिये मनुष्यके मनमें स्थान भी न होता—तब इन्हें ही सत्य समझकर हम निश्चिन्त हो रहते, तब विज्ञान और तत्त्व-ज्ञान इन सारे अचल प्रत्यक्ष सत्योंके भीषण श्रृंखलमे बँधकर एकदम मूक और मूर्छित हो रहते। इनके पीछे कुछ भी न देख सकते। किन्तु ये सारे खण्ड-वस्तु-समूह केवल चल ही रहे हैं, कतार बाँधकर खड़े होकर रास्ता नहीं रोके हुए हैं, इसीलिये हम अखण्ड सत्यका और अक्षय पुरुषका संधान पाते हैं।" (रवीन्द्रनाथ)

इसीलिये भक्त जन रूप-मात्रके इस निरन्तर गतिशील पहलूपर बराबर जोर देते रहते हैं। मध्ययुगमें वैराग्योद्रकके लिये इस पहलूका अधिक उपयोग किया गया है। कबीरने भी किया है, पर कबीरका लक्ष्य उस समस्त अस्थिर रूप-राशिके भीतरसे स्थिर अरूप-तत्त्वकी ओर इशारा करना अधिक रहा है। वे दस दिनके लिये अपनी नौबत बजाकर इस नगर और गलीको हमेशाके लिये नमस्कार करके चल देनेवालोंको उस परमतत्त्वकी बार बार याद दिला देते हैं जो स्थिर है, शाश्वत है, रूपातीत है—

कबीर नौबत आपणीं, दिन दस लेहु बजाइ।
ए पुर-पाटन ए गली, बहुरि न देखै आइ॥ १॥
जिनके नौबति बाजती, मैंगल बँधते बारि।
एकै हरिके नाँव बिन, गये जन्म सब हारि॥ २॥

(क० ग्रं०, पृ० २०)

इस विनाशकी दुनियामें एकमात्र अविनाशी तत्त्व राम है। नष्ट होते हुए शरीरको अगर बचा लेना है तो इसी अविनश्वरकी शरण जाओ। नहीं तो इस कच्चे कुम्भके फूटनेमें क्या देर है?

कबीर यह तन जात है, सकै तो लेहु बहोड़ि।
नागे-हाथे ते गये, जिनकै लाख-करोड़ि॥ ३७॥
यहु तन काचा कुम्भ है, चोट चहूँ दिस खाइ।
एक रामके नाँव बिन, जदि तदि परलै जाइ॥ ३८॥

(क० ग्रं०, पृ० २४)

परन्तु रूप और सीमा चाहे जितनी भी तुच्छ क्यों न हों, हम उनके द्वारा ही अरूप और असीमको पानेकी ओर उन्मुख होते हैं। साधक रूप और सीमाकी सहायतासे उस शाश्वत अरूप और परिव्याप्त असीमको देखता है जो उसका चरम प्राप्तव्य है। कवि शब्द और अर्थका सहारा लेकर अरूप रसकी ओर उन्मुख होता है, कलाकार रेखा और रंगकी सहायतासे रूपातीत भावकी अभिव्यंजना करता है, और भक्त भी नाम और रूपकी सीढ़ियोंसे ही उठकर अनाम और अरूप परम-तत्त्वकी झाँकी पाता है। यह जो रूप है और सीमा है वह वस्तुतः जड़ प्रकृतिका ही विकार है। इसीको कबीरदास 'गुण' कहते हैं। जो वस्तु गुणातीत है वह गुणोंमें नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते। यह धोखा है,—भ्रम है जो

लोग 'गुण'को 'निर्गुण'का उल्टा समझते हैं। 'गुण' 'निर्गुण'की विरोधी वस्तु नहीं है। निर्गुण परमात्मा क्या गुणोंमें नहीं है? यह जो धरती, आकाश, चन्द्र, तारा दिखाई दे रहे हैं वे क्या त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके विकार नहीं हैं और इसीलिये क्या ये परमात्मासे खाली हैं? यह हो नहीं सकता। सो वे लोग भोले ही हैं जो गुणको निर्गुणके बाहर या विरुद्ध मानते हैं,—वस्तुतः गुणसे हम निर्गुणका अनुमान करते हैं। दूसरे शब्दोंमे रूप हमें अरूपकी ओर उन्मुख कर देता है, सीमा असीमका सधान बताती है। गुण और निर्गुण केवल तारतम्य बतानेके वास्ते हैं। जब कहा जाता है कि भगवान् गुणमय नहीं हैं तो उसका मतलब यही होता है कि जो रूप और सीमा हमें दिख रही है वह अरूप और असीमको ठीक ठीक प्रकट नहीं कर सकती,—भगवान् न तो वह रूप ही है और न उसके समान ही है। वह उससे अतीत है, परे है। 'निर्गुण' कहनेसे यदि यह अर्थ लिया जाता है कि वह दृश्यमान गुणोंसे बाहर है या विरुद्ध है, तो यह भ्रम है, धोखा है—

सन्तो, धोखा कासूं कहिये,<br>
गुणमैं निरगुंण निरगुंणमैं गुण,<br>
बाट छोंड़ि क्यूं बहिये?<br>
अजरा-अमरा कथै सब कोई,<br>
अलख न कथणां जाई।<br>
नाहिं सरूप, बरण नहिं जाकै,<br>
घटि घटि रह्यौ समाई॥<br>
प्यंड-ब्रह्मंड कथै सब कोई,<br>
वाकै आदि अरु अन्त न होई।<br>
प्यंड-ब्रह्मंड छोड़ि जे कथिये,<br>
कहै कबीर हरि सोई॥

(क० ग्र०, पद १८०)

इसीलिये वह अद्भुत अनुपम रामतत्त्व कहकर बताया नहीं जा सकता। उसको सगुण-निर्गुणमेंसे किसी भी नामसे पुकार नहीं सकते पर न तो वह सगुण वस्तुमें अविद्यमान है और न निर्गुण वस्तुद्वारा असूचयितव्य। वह इन झमेलोंसे ऊपर है। ससीम-रूपदर्शी बुद्धि उस तत्त्वको नहीं समझ सकती। उसके मुँह

भी नहीं, माथा भी नहीं, रूप भी नहीं और रूपक भी नहीं। वह सूक्ष्म-से भी सूक्ष्म है, पुष्प-सौरभसे भी महीन है, वह अनुपम तत्त्व है।

जाकै मुँह माथा नहीं, नाहीं रूपक-रूप।
पुहुप-बासथैं पातला, ऐसा तत्त अनूप ॥ ४ ॥
(क० ग्रं०, पृ० ६०)

'मुँह और माथा' तो उपलक्षण मात्र हैं। वह समस्त रूप और सीमाओंसे परे है, वह मन और बुद्धिके भी परे है। उसमें मोह नहीं, माया नहीं, ममता नहीं। ऐसे ही निर्मम निर्मोही पियासे प्रेम-क्रीड़ाका व्रत भक्तोंने लिया है। ऐसे प्रियके मिलनकी क्या आशा की जा सकती है? भक्तरूपी नारी चाहे जैसी भी विरहिणी हो,—दिनका भोजन और रातकी नींद खो चुकी हो, सहेलियोंकी रंग-केलि और ज्ञातिकुलकी धन-सम्पत्तिको छोड़ आई हो, वन-खंडमे तपस्या कर चुकी हो और पानीसे निकाली हुई मछली-सी तड़प रही हो, पर प्रियतम क्यों गलेगा? वह तो आकार और रूपके परे है, मोह और ममतासे ऊपर है, कामना और लालसाके अगम्य है, वह मिलेगा कैसे? ममताभरी प्रेयसीका निर्ममसे मेल क्या, लालसाकी आँखोंसे अलखका लखाव क्या, रूपसे अरूपका सामंजस्य क्या? यह रहस्यमय प्रेम-केलि चल कैसे सकती है? कबीरदास जवाबमें कहते हैं कि सिर्फ एक ही मार्ग है। तुम्हारे शरीरमें जो जड़ विकार हैं,—जो इंद्रिय, मन और बुद्धि हैं,—उनको तुमने गलतीसे अपना मान लिया है। ये उस निर्मोहीकी ओर उन्मुख करनेके साधन हैं, परन्तु यदि इन्हें ही तुमने उनके मिलनेका साधन भी समझा है तो यह भ्रम है। तुम्हारे इस नाशमान ससीम जड़ विकारके बीच एक स्थिर शाश्वत चेतन है, वह इंद्रिय-मन और बुद्धिके अगोचर है, वही उस निर्मोही प्रियतमका वास्तविक आकर्षण-स्थान है। निर्मोही प्रियतमको पाना चाहते हो तो शरीर, मन और बुद्धिको अपना स्वरूप समझनेके रूपमें जो पर्दा पड़ा हुआ है उसे दूर करो। एक बार इस भ्रमके पर्देको दूर कर दो तो देखो कि प्रियतम दूर नहीं है, तुम्हारी रग रगमें भीना हुआ है। उस भ्रमके पर्देमें भी वही है, पर दीखता तब तक नहीं जब तक तुम उस पर्देको अपना स्वरूप समझते रहो। भगवान् और भक्तमें अब भेद नहीं रह सकेगा। युग-युगान्तरसे ये दोनों एकमेक होकर रह रहे हैं—

कैसे जीवेगी विरहिनी
पिया बिन कीजै कौन उपाय।
दिवस न भूख रैनि नहिं सुख है,
जैसे कलियुग जाम (?)॥
खेलति फाग छाँड़ि चलु सुंदर
तजु चलु धन औ धाम॥
बन-खँड जाय नाम लै लावौ
मिलि पियसे सुख पाय।
तलफत मीन बिना जल जैसे,
दरसन लीजै धाय।
बिन आकार रूप नहिं रेखा
कौन मिलेगी आय।
आपन पुरुष समुझि ले सुन्दरि
देखो तन निरताप।
सब्द सरूपी जिव पिव बूझौ
छाँड़ौ भ्रमकी टेक।
कहैं कबीर और नहिं दूजा
जुग जुग हम तुम एक॥

(शब्दा० पृ० १०-११)

यही कारण है कि कबीरदासने कामना और लालसाके त्यागको भक्तिकी आवश्यक शर्त रखी है। जब भगवान् लालसा और कामनाकी पहुँचके बाहर ही हैं तो क्यों न पहले कामना और लालसाको खत्म किया जाय? जब तक मनमें कहीं भी कामना है, तब तक शरीर और मनके प्रति आत्माभिमानका भ्रम है। यह भ्रम और भक्ति एक साथ नहीं रह सकतीं। सो कबीरदास पुकार पुकार कर कह गये हैं कि सकामताका भ्रम छोड़कर ही भक्तिके मैदानमें आओ—

और कर्म सब कर्म हैं, भक्ति कर्म निष्कर्म।
कहै कबीर पुकारिकै, भक्ति करो तजि भर्म॥

(क० वच०, पृ० ११)

निष्कर्म अर्थात् निष्काम । निष्काम भावसे ही भक्ति हो सकती है, क्योंकि, जिस देवताकी भक्ति करनी है वह स्वयं निष्काम है—

जब लगि भगति सकामतां, तब लगि निर्फल सेव ।
कहै कबीर वै क्यूं मिलै, निहकांमी निज देव ॥

( क० ग्रं०, पृ० १९ )

फिर एक बार समस्त कामनाओंका विसर्जन कर जब भक्तरूपी सुन्दरी अपने निर्गुण प्रियतमका दर्शन पाती है तो जो अद्भुत कौतुक उसे दिखाई देता है, वह कहकर समझानेकी बात नहीं है । वह प्रियतम समस्त कालकी सीमाओंके परे है इसलिये अनन्त है, समस्त देशके परे है इसलिये असीम है । सो उस अनन्तका प्रकाश अपरम्पार है, सुन्दरी कुतूहल-विस्फारित नयनोंसे उस अपूर्व तेजको देखती है,—मानों कोटि कोटि सूर्योंकी सेना खड़ी हो । वहाँ पाप नहीं, पुण्य नहीं, कर्म नहीं, आचार नहीं,—केवल अपरिमेय ज्योतिका प्रकाश, अगम्य अगोचर तेजकी झिलमिल ज्योति ! ऐसे तेजोमय अद्भुत लोकमें प्रवेश करते ही भक्त भी हद छोड़ कर बेहद हो जाता है,—अपने स्वधर्म और स्वभावमें प्रतिष्ठित हो जाता है—

कबीर तेज अनंतका, मानौं ऊगी सूरज सेणि ।
पतिसँग जागी सुंदरी, कौतिग दीठा तेणि ॥
पारब्रह्मके तेजका, कैसा है उनमान ।
कहिबेकूं सोभा नहीं, देख्या ही परवान ॥
अगम-अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै ज्योति ।
जहाँ कबीर बन्दगी, ( तहाँ ) पापपुन्य नहीं छोति ॥

और

हदै छाँडि बेहद गया, हुवा निरन्तर बास ।
कंवल जु फूल्या फूल बिन, को निरखै निज दास ॥

( क० ग्रं० पृ० १२ )

जहाँ अनन्त कोटि सूर्य सतत प्रकाशमान हैं, वहाँ केवल ज्योतिका ही निर्झर झर रहा है । उस स्थानपर अगर बिना फूले ही कमल फूलता रहे तो आश्चर्य क्या है ? फूलनेपर कमलके खिलनेका तो हिसाब वहाँ है जहाँ रोज अंधकार आता है और कमलको अनफूला कर जाता है । पर जहाँ सूर्योंकी सेना खड़ी हो वहाँ कमलका संकोच कैसा ? सो यह कमल निरंतर खिला रहता है । पिंडमें यही कमल शून्य

या सहस्रार चक्र है और ब्रह्माण्डमें सर्वतोव्याप्त महा-आकाश। यही परम अवकाश हद छोड़कर बेहद होनेका उपयुक्त स्थान है। एक बार पिंडस्थित आकाश ( शून्य )में जब भक्त पहुँच जाता है,—जब इस विशाल शून्यमें स्नान करता है—तो प्रियतमके उस क्रीडा-हर्म्यमें पहुँचता है जो सिर्फ योग और तप साधनेवाले मुनियोंको दुर्लभ है। यह प्रेमलोक देवताओंको भी दुर्लभ है क्योंकि वे कर्मके उपासक हैं, मुनियोंको अगम्य हैं क्योंकि कबीरदास उन्हे योगमार्गके पथिक मानते थे, पीर-औलियाको भी दुर्लभ है, क्योंकि उनका मार्ग अल्लाह और रामकी भेद-बुद्धिका है,—सबकी पहुँचके बाहर जो प्रेमलोक है वहाँ केवल भक्तको ही प्रवेश पानेका अधिकार है।—भक्त जो राम-रसायनका छका हुआ है :

सुर-नर-मुनिजन-औलिया, ए सब बेलै तीर।
अलह-रामका गम नहीं, तहँ घर किया कबीर।
( स० क० सा० पृ० ६४ )

हद्द छाँडि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनिजन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम॥
पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोत अनंत।
ससा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कन्त॥
( क० ग्रं० पृ० १३ )

परन्तु, इस दुनियाकी छोटी-मोटी रूपात्मक कल्पनाओंके आधारपर हम उस अनन्त तेजःपुंज लोकका अनुमान भी नहीं कर सकते। साधारण मनुष्य उस पर्दा-नशीन नववधूकी भाँति हैं जो आधी खुली खिड़कीपर खड़ी हुई घूँघटके भीतरसे संसारको देख रही है। उसके सामनेवाले रास्तेपर लोग आते रहते हैं, पर वह उनका कुछ भी उद्देश्य नहीं समझ पाती क्योंकि संपूर्ण देखनेका उसे अभ्यास नहीं है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने इस भावको अपनी एक कवितामें बड़ी मार्मिकताके साथ प्रकट किया है—

"तुम आधी खुली खिड़कीके किनारे खड़ी हो। नई बहू हो क्या? शायद तुम चूड़ीवालेकी इन्तज़ारमें हो कि तुम्हारे द्वारपर आयेगा। तुम सामने देख रही हो कि बैलगाड़ी धूल उड़ाती हुई चली जाती है, भरी नौकायें हवाके ज़ोरसे पालोंके सहारे बही जा रही हैं। मैं सोच रहा हूँ कि इस आधी खुली

खिड़कीपर घूँघटकी छायासे ढकी हुई तुम्हारी आँखोंको यह विश्व कैसा दिख रहा होगा। निश्चय ही यह छायामय भुवन तुमने स्वप्नों ( कल्पनाओं ) से गढा होगा, शायद किसी नानीके मुँहसे सुनी हुई परियोंकी कहानीके साँचेमें वह ढला होगा,—जिस लोरियोंकी बनी कहानीका न आदि है, न अन्त है।

"मैं सोच रहा हूँ कि हठात् यदि एक दिन वैशाखके महीनेमें आँधीके झोकोंसे नदी लाज-शर्म छोड़कर बंधनहीन सूने आसमानमें नाच उठे, यदि उसका पागलपन जाग पड़े,—और फिर उस आँधीके झोकोंसे तुम्हारे घरकी सभी जंजीरें खुल जायँ और वह तुम्हारी आँखोंपर गिरा हुआ घूँघट भी उड़ जाय,—और फिर यह सारा जगत् तीव्र विद्युत्की हँसी हँस एक क्षणमें शक्तिका वेश धारण करके तुम्हारे घरमें घुस पड़े और आमने-सामने खड़ा हो जाय तो फिर कहाँ रहेगी यह आधे ढके हुए अलस दिवसकी छाया, यह खिड़कीवाली दृश्यावली और सपनों-सनी अपनी कल्पनासे गढी हुई माया ?—सभी उड़ जायँगे।

"सोचता हूँ कि उस समय तुम्हारी घूँघट-रहित काली आँखोंके कोनेमें न जाने किसका प्रकाश काँपेगा, अपने-आपमें खोये हुए प्राणोंके आनंदमें अच्छा और बुरा सब-कुछ डूब जायगा, और तुम्हारे वक्षःस्थलमें रक्तकी तरंगिणी उत्ताल नर्तनसे नाच उठेगी। फिर तुम्हारे शरीरमें तुम्हारी यह कंकण और किंकिणी अपने चंचल कम्पनोंसे कौन-सा सुर बजा देंगीं ! आज तुम अपनेको आधी ढकी रख कर, घरके एक कोनेमें खड़ी होकर न जाने किस मायाके साथ इस जगत्को देख रही हो ?—मैं मन ही मन यही सोच रहा हूँ। तुम्हारे रास्तेमें आज जो आवागमन चल रहा है वह निरर्थक खेल-सा लग रहा है, छोटे दिनके कामोंकी छोटी छोटी हँसियाँ और रुलाइयाँ न जाने कितनी उठती हैं और विलीन हो जाती हैं ?—मैं मन ही मन यही सोच रहा हूँ।" ( खेया )

यह जो कल्पनाके गढे हुए रूप-जगत्का व्यापार है वह तब तक हमारी दृष्टिको रोके हुए है जब तक अनन्त सत्यका प्रकाश एकाएक आकर उसे छिन्नभिन्न नहीं कर जाता। जिस दिन छिन्न-भिन्न कर जायगा उस दिन, कबीरदास गवाह हैं कि, जो दृश्य दिखाई देगा वह एकदम विचित्र होगा। न वहाँ धरती होगी, न गगन; न पानी, न पवन; न तिथि, न वार; न चाँद, न सूर्य; न हाट, न वाट; —सबसे परे सबसे विचित्र। वहाँ कालका बंधन नहीं है, भूत और भविष्यका भेद

नहीं है। जिसे हम लाख युग पहलेकी बात कहते हैं वह वहाँ प्रत्यक्ष है, जिसे हम कोटिकल्प बादकी बात कहेंगे वह वहाँ विद्यमान है, क्योंकि वहाँ अनन्त स्थिति है, शाश्वत सत्ता है। हमारी आँखें क्षणिक और चलमान जगत्की परिभाषा इनमें ही देखनेको अभ्यस्त हैं। उस अनन्त स्थितिशील, देश-काल-व्यवच्छेदक अतीत परम प्रकाशमय लोकको हम क्या समझेंगे ?

चाँद नहीं सूरज नहीं, हता न वो ओंकार।
तहाँ कबीरा रामजन, को जाने संसार ॥
धरती-गगन-पवनै नहीं, नहीं होत तिथि-बार।
तब हरिके हरिजन हुते, कहै कबीर विचार ॥
जा दिन किरतम ना हता, नहीं हाट नहिं बाट।
हता कबीरा सन्त-जन, ( जिन ) देखा औघट घाट ॥
नहीं हाट नहिं बाट है, नहिं धरती नहिं धीर।
असंख्य युग परलै गया, तब ही कहै कबीर ॥
पवन नहीं पानी नहीं, नहिं धरती-आकास।
एक निरंजन देवका, कबिरा दास-खवास ॥

( स० क० सा० पृ० ६३–४ )

उस देशका सब कुछ विचित्र है। वह देश जहाँ बारह महीने वसन्त है, जहाँ प्रेमका निर्झर झरता रहता है, जहाँ अनन्त ज्योतिपुंजसे महा-अमृत बरसता रहता है, जहाँ जाति-कुल-वर्णका विशेषत्व नहीं, जहाँ आकाश और धरतीमें अन्तर नहीं, जहाँ अपार परब्रह्मकी आनंदकेलि निरन्तर चल रही है, जहाँ अगम्यका दीपक बिना बाती और तेलके ही जल रहा है। अपूर्व है वह देश! कबीर उसी देशके वासी थे :

हम वासी उस देशके, जहाँ बारह मास विलास।
प्रेम झरै विलसैं कँवल, तेजपुंज परकास ॥
हम वासी उस देशके, जहवाँ नहिं मास वसन्त।
नीझर झरै महा अमी, भीजत हैं सब सन्त ॥
हम वासी उस देशके, जहां जाति बरन कुल नाहिं।
शब्द मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहिं ॥

हम वासी वा देशके, जहाँ पारब्रह्मका खेल।
दीपक जरै अगम्यका, बिन बाती बिन तेल।
(स० क० सा० ६४–५)

यह कुछ उस प्रकारका देश है जिसे रवीन्द्रनाथने "सब-पाया-है-का-देश" कहा है। जहाँ दूरका राही एक रातके लिये आकर देख ही नहीं पाता कि इस 'सब-पा-लिया है-के देश' में क्या है :

एक रजनीर तरे हेथा, दूरेर पाथ एसे,
देखते ना पाय, कि आछे, एइ सब-पेयेछिर देशे ? (खेया)

कबीरने बताया है कि उस परिपूर्ण देशमें शब्द-मिलावा हो रहा है,—केवल भाव-रूपमें मिलन हो रहा है, देह रूपमें नहीं—'शब्द मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहिं !' क्योंकि जड़ ससीम देह उस अनन्त भाव-लोकको बर्दाश्त नहीं कर सकती। प्रश्न है कि वहाँ जाकर क्या भक्त उस अनन्त ज्योति और अनन्त प्रममें लोप हो जाता है ? क्या वह भी चिन्मय ब्रह्ममें विलय हो जाता है ? कबीरदास ऐसे अद्वैत-भावमें विश्वास नहीं करते। मिलन होगा यह ठीक है, पर भक्तजन वहाँ फिर भी साक्षी रूपसे वर्तमान रहेंगे। वे दो नहीं होकर रहेंगे, भगवानसे एकमेक होकर मिल जायँगे परन्तु उस मिलनके आनंदको अनुभव करते रहेंगे। यह कैसे संभव है ? क्या एकमेक और पृथक् सत्ता दोनों संभव हैं ? कबीरदासकी गवाहीपर तो यही मालूम होता है कि ऐसा संभव है। लौकिक दृष्टिसे जो बातें असंभव दिखती हैं ऐसी बहुतेरी बातें भगवान्के विषयमें संभव हैं। फिर इसी "द्वैताद्वैत विलक्षण" भावको हम कैसे असंभव मानें ? कबीर साक्षी हैं कि गगनमे गहरे गंभीर मेघ गर्जते रहते हैं, अमृतकी झड़ी लगी होती है और सन्तजन सिहर सिहर कर इस आनंद-रसकी वर्षामें भींजते रहते हैं, उस अनन्तकी ज्योति छलकती रहती होती है और परम प्रेमके आनंद-निकेतनमें गुरुकी कृपावाले सन्तजन पहुँच जाते हैं (अवश्य ही, निगुरोंकी गति वहाँ नहीं है)—

गगन गरजै बरषै अमी, बादल गहर गँभीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भींजै दास कबीर॥
गगन-मण्डलके बीचमें, तहवाँ झलकै नूर।
निगुरा महल न पावई, पहुँचैंगे गुरु पूर॥
(स० क० सा० पृ० ६२)

गगन गरजि अंमृत चवै, कदली-कँवल-प्रकास ।
तहाँ कबीरा बन्दगी, कै कोई निज दास ॥

( क० ग्र० पृ० १५ )

कबीरदासका यह असीम प्रियतमका प्रेम साधनाके साहित्यमें अपूर्व है। हद्दके जीवका बेहद्दके प्रियसे मिलनमें एक ऐसा अलौकिक रस है जो अनुभवद्वारा ही जाना जा सकता है। असीमकी सीमाके लिये व्याकुलताका प्रमाण यह सारा विश्व है। अगर असीम अपने आपमें ही सन्तुष्ट होता तो यह सीमाका सर्जन निरर्थक है। भक्त कबीरने इस इतने बड़े विश्व-व्यापारको निरर्थक नहीं समझा। उन्होंने उसे इस असीम प्रियतमकी लीलाका उन्मेषयिता माना है। सीमा मानों उस असीमकी ओर उठी हुई उँगली है। वह असीमका पथ बताती है पर स्वयं उसीको असीम नहीं माना जा सकता। इसीलिये प्रेम तो असीमका ही ठीक है, सीमाके प्रति आसक्त जीव उस पीवको नहीं पा सकता—

बेहद अगाधी पीव है, ये सब हदके जीव ।
जे नर राते हद्दसौं, ते कदी न पावें पीव ॥
हदमें पीव न पाइये, बेहदमें भरपूर ।
हद-बेहदकी गम लखै, तासौं पीव हजूर ॥

( स० का० सा० पृ० २६२ )

कबीरदासने इसीलिये सीमाको छोडकर असीमका प्रेम किया था। उस असीमरूपी अनन्त अवकाशवान् मैदानमें वे पैर फैला कर सो रहे थे—

हद्द छांडि बेहद गया, रहा निरन्तर होय ।
बेहदके मैदानमें, रहा कबीरा सोय ॥

( स० क० सा० पृ० २६३ )

पैर फैलाकर सोने लायक अवकाश सीमाओं और बंधनोंसे भरी दुनियामें और कहाँ मिल सकता है ? कविवर रवीन्द्रनाथ अपनी 'सब-पा-लिया-हैके-देश'-वाली कवितामें भी उल्लसित भावसे कहते हैं,—अहा, इस 'सब-पा-लिया-हैके-देश'के रास्तेमें ठेलमठेल और धक्कामुकी नहीं है और बाजारमें यहाँ शोर-गुल नहीं है। अरे ओ कवि, यहीं तू अपनी कुटी बना ले। रास्तेकी धूल यहीं झाड़ दे, बोझा उतार दे, अपने सितारके तार ठीक कर ले और अपनी सारी खोज यहीं बंद कर दे ( क्योंकि तू अब अपने गन्तव्यपर पहुँच चुका है )। आज साँझको यहीं

पैर फैलाकर बैठ जा;—यहीं, इस तारा-भरे आकाशके नीचे, ' सब-पा-लिया-है-के देशमें । '

नाइक पथे ठेलाठेलि, नाइक हाटे गोल,
ओरे कवि एइ खाने तोर, कुटीरखानि तोल ।
धुये फेल रे पथेर धुलो, नामिये दे रे बोझा,
बेंधे ने तोर सेतार खाना, रेखे दे तोर खोजा ।
पा छड़िये बस् रे हेथाय, सारा दिनेर शेषे,
तारार भरा आकाशतले, सब पेयेछिर देशे ॥ ( खेया )

आखिर इस देशमे इतनी निश्चिन्तता क्यों है ? कोई इस बेहद्दी मैदानमें सो रहता है और कोई पैर फैलाकर बैठ रहता और सितारके तार सँभालने लगता है, ऐसा क्यों ? यहाँ क्या मिलता है, क्या दीखता है कि इतने निश्चिन्त मनसे सन्त और कवि जम जाते हैं ? क्योंकि

हरि-संगति सीतल भया, मिटी मोहकी ताप ।
निसि-बासर सुख-निधि लह्या, जब अन्तरि प्रगट्या आप ॥
तत पाया तन बीसरा, जब मन धरिया ध्यान ।
तपन बई सीतल भया, जब सुन्नि किया असनान ॥ (क० ग्रं० पृ० १५)

इस असीम-अनन्त शून्यमें स्नान करते ही सारी व्यथा शान्त हो गई । सारे कथन, सारा विज्ञापन यहाँ उपशमित हो गया । जिसे खोजा जा रहा था वह जब स्वयं आ गया, तो ताप कैसा, चाञ्चल्य कैसा ?

थिति पाई मन थिर भया, सतगुरु करी सहाइ ।
अनिन कथा तिन आचरी, हिरदै त्रिभुवनराइ ॥
सचु पाया सुख ऊपना, अरु दिल-दरिया पूरि ।
सकल पाप सहजै गये, जब साईं मिल्या हजूरि ॥ (क० ग्रं० पृ० १४)

जब एक बार इसका चस्का लग गया, जब यह परम प्राप्तव्य रत्न प्राप्त हो गया तब ढिंढोरा पीटनेकी क्या बात रही ? ढूँढ़ने-खोजनेको रह क्या गया ?

जिन पाया सू गहि रह्या, रसना लागा स्वाद ।
रतन निराला पाइया, जगत ढंढौल्या बादि ॥

अब कुछ कहना बाकी नहीं रहा, इस प्रेम-नदके प्रवाहमें सारा द्वैतभाव बह गया,

साखी भी आज बेकार है, शब्द भी निष्प्रयोजन हैं। जब उस बिछुडे हुए परमतत्त्वसे मिलन ही हो गया तो इन प्रपंचोंसे क्या लाभ? यह देखा, वह देखा; यह चलमान है, वह स्थिर है; यह यह है, वह वह है,—ये सारी बातें अब निरर्थक हैं। परमप्रियका जब तक मिलन नहीं हुआ था,—उसका रस जब तक ज्ञात नहीं था, तभी इनकी कीमत थी। अब इस अखण्ड आनंद-रसके सामने और सब-कुछ फीका है—

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहना नाहिं।
एक रही दूजी गई, बैठा दरिया माहिं॥
साखी-शब्दी कब कही, मौन रहे मन माहिं।
बिछुरा था कब ब्रह्मसों, कहिबेकों कछु नाहिं॥
साखी-शब्दी जब कही, तब कछु जाना नाहिं।
बिछुरा था तब ही मिला, अब कछु कहना नाहिं॥
या देखा वा देखिया, या देखा वा थीर।
यह-वह दोउ एकै भया, जब सतगुरु मिले कबीर॥

(स० क० सा० पृ० ६८)

यह है कबीरकी असीम-सत्ताकी प्रीति। किन्तु कबीर परम सावधानीके साथ पाठकको शब्दोंकी संकीर्ण अर्थवत्ताकी याद दिला देते हैं। 'बेहद' शब्दमें साधारणतः यह भाव है कि जो हद न हो या जो हदके विरुद्ध हो। यह बात आंशिकरूपमें ही सत्य है। वस्तुतः सीमा असीमसे बाहर भी नहीं, उसकी विरोधी भी नहीं है; उसका अभाव तो एकदम नहीं। इसीलिये बेहदीकी प्रीति बताते समय कबीरदास सावधान कर देते हैं। इसे सीमाका विरोधी समझना ग़लत है, सीमाके विरुद्ध मानना भी ग़लत है। बेहद वह है जो सीमा और सीमा-भाव दोनोंके परे है, जो हद और ग़ैर-हद दोनोंके ऊपर है। इस हद बेहदसे अतीत वस्तुको ही भाषाकी सीमित शक्तिके कारण कबीरदास 'बेहद' कहते हैं। हद या सीमामें मनुष्य बसते हैं, बेहद या सीमाभावमें साधु बसते हैं, पर असल सन्त वह है जो इन दोनोंको छोड़ गया है, जो सीमातीत असीमका प्रेमी है—

हदमें रहै सो मानवी, बेहद रहै सो साधु।
हद-बेहद दोनों तजैं, तिनका मता अगाधु॥
हद-बेहद दोनो तजी, अवरन किया मिलान।
कहैं कबीर ता दासपर, वारौ सकल जहान॥

---

# उपसंहार

कबीर धर्म गुरु थे। इसलिये उनकी वाणियोंका आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिये, परन्तु, विद्वानोंने नाना रूपमें उन वाणियोंका अध्ययन और उपयोग किया है। काव्य-रूपमे उसे आस्वादन करनेकी तो प्रथा ही चल पड़ी है, समाज-सुधारकके रूपमें, सर्व-धर्म-समन्वयकारीके रूपमें, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य-विधायकके रूपमें, विशेष संप्रदायके प्रतिष्ठाताके रूपमें और वेदान्त-व्याख्याता दार्शनिकके रूपमें भी उनकी चर्चा कम नहीं हुई है। यों तो 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता, विविध भाँति गावहिं श्रुति-सन्ता' के अनुसार कबीर-कथित हरि-कथाका विविध रूपमे उपयोग होना स्वाभाविक ही है, पर कभी कभी उत्साह-परायण विद्वान् गल्तीसे कबीरको इन्हीं रूपोंमेंसे किसी एकका प्रतिनिधि समझकर ऐसी ऐसी बातें करने लगते हैं जो असंगत कही जा सकती हैं।

भाषापर कबीरका जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणीके डिक्टेटर थे। जिस बातको उन्होंने जिस रूपमें प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूपमें भाषासे कहलवा लिया है,—बन गया है तो सीधे सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीरके सामने लाचार-सी नज़र आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़की किसी फरमाइशको नाहीं कर सके। और अकह-कहानीको रूप देकर मनोग्राही बना देनेकी तो जैसी ताकत कबीरकी भाषामें है वैसी बहुत कम लेखकोंमें पाई जाती है। असीम-अनन्त ब्रह्मानंदमें आत्माका साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणीके अगोचर,—पकड़में न आ सकने वाली ही, बात है। पर 'बेहद्दी मैदानमें रहा कबीरा सोय' में न केवल उस गंभीर निगूढ़ तत्त्वको मूर्तिमान् कर दिया गया है बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृतिकी मुहर भी मार दी गई है। वाणीके ऐसे बादशाहको साहित्य-रसिक काव्यानंदका आस्वाद करानेवाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यंग करनेमें और चुटकी लेनेमें भी कबीर अपना प्रतिद्वंदी नहीं जानते। पंडित और काज़ी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौल्वी,—सभी उनके व्यंग्यसे तिलमिला जाते हैं। अत्यन्त सीधी भाषामें वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खानेवाला केवल धूल झाड़के चल देनेके सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता।

इस प्रकार यद्यपि कबीरने कहीं काव्य लिखनेकी प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रसकी गगरीसे छलके हुए रससे काव्यकी कटोरीमें भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।

हिंदी-साहित्यके हजार वर्षोंके इतिहासमें कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमामें यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वंद्वी जानता है,—तुलसीदास! परन्तु तुलसीदास और कबीरके व्यक्तित्वमें बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परन्तु, दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोणमें एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब कुछको झाड़-फटकार चल देने वाले तेजने कबीरको हिंदी-साहित्यका अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियोंमें सब कुछको छाकर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है। उसीने कबीरकी वाणियोंमे अनन्य-साधारण जीवन-रस भर दिया है। कबीरकी वाणीका अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण करनेकी सभी चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्वके कारण कबीरकी उक्तियाँ श्रोताको बलपूर्वक आकृष्ट करती हैं। इसी व्यक्तित्वके आकर्षणको सहृदय समालोचक सँभाल नहीं पाता और रीझकर कबीरको 'कवि' कहनेमें सन्तोष पाता है। ऐसे आकर्षक वक्ताको 'कवि' न कहा जाय तो और कहा क्या जाय? परन्तु यह भूल नहीं जाना चाहिये कि यह कविरूप घलुएमें मिली हुई वस्तु है। कबीरने कविता लिखनेकी प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नहीं कही थीं। उनकी छन्दोयोजना, उक्तिवैचित्र्य और अलंकार-विधान पूर्ण-रूपसे स्वाभाविक और अयत्नसाधित हैं। काव्यगत रूढियोंके न तो वे जानकार थे और न क़ायल। अपने अनन्य-साधारण व्यक्तित्वके कारण ही वे सहृदयको आकृष्ट करते हैं। उनमें एक और बड़ा भारी गुण है जो उन्हें अन्यान्य सन्तोंसे विशेष बना देता है। यद्यपि कबीरदास एक ऐसे विराट् और आनंदमय लोककी बात करते रहते हैं जो साधारण मनुष्योंकी पहुँचके बहुत ऊपर है और वे अपनेको उस देशका निवासी बताते हैं जहाँ बारह महीने बसन्त रहता है और निरन्तर अमृतकी झड़ी लगी रहती है (दे० ऊपर पृ० २११) फिर भी, जैसा कि एवेलिन अण्डरहिलने कहा है, वे उस आत्म-विस्मृतिकारी परम उल्लासमय साक्षात्कारके समय भी दैनंदिन-व्यवहारकी दुनियाके छोड़ नहीं जाते और साधारण मानव-जीवनको भुला नहीं देते। उनके पैर मज़बूतीके साथ धरतीपर जमे रहते हैं; उनके महिमा-समन्वित और आवेगमय

विचार, बराबर धीर और सजीव बुद्धि तथा सहजभाव द्वारा नियंत्रित होते रहते हैं जो सच्चे मरमी कवियोंमें ही मिलते हैं। उनकी सर्वाधिक लक्ष्य होनेवाली विशेषताएँ हैं—( १ ) सादगी और सहजभावपर निरन्तर ज़ोर देते रहना, ( २ ) बाह्य धर्माचारोंकी निर्मम आलोचना और ( ३ ) सब प्रकारके विरागभाव और हेतु-प्रकृति-गत अनुसंधित्साके द्वारा सहज ही ग़लत दिखनेवाली बातोंको दुर्बोध्य और महान् बना देनेकी चेष्टाके प्रति वैर-भाव ( इसके लिये कबीर-वाणीके ७५,७८,८० और ९० नंबरके पद देखिये )। इसीलिये वे साधारण मनुष्यके लिए दुर्बोध्य नहीं हो जाते और अपने असाधारण भावोंको ग्राह्य बनानेमें सदा सफल दिखाई देते हैं। कबीरदासके इस गुणने सैकड़ों वर्षोंसे उन्हें साधारण जनताका नेता और साथी बना दिया है। वे केवल श्रद्धा और भक्तिके पात्र ही नहीं, प्रेम और विश्वासके आस्पद भी बन गये हैं। सच पूछा जाय तो जनता कबीरदासपर श्रद्धा करनेकी अपेक्षा प्रेम अधिक करती है। इसीलिये उनके सन्तरूपके साथ ही उनका कविरूप बराबर चलता रहता है। वे केवल नेता और गुरु नहीं हैं, साथी और मित्र भी हैं।

कबीरने ऐसी बहुत-सी बातें कहीं हैं जिनसे ( अगर उपयोग किया जाय तो ) समाज-सुधारमें सहायता मिल सकती है, पर इसीलिये उनको समाज-सुधारक समझना ग़लती है। वस्तुतः वे व्यक्तिगत साधनाके प्रचारक थे। समष्टि-वृत्ति उनके चित्तका स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। सर्व-धर्म-समन्वयके लिये जिस मजबूत आधारकी ज़रूरत होती है वह वस्तु कबीरके पदोंमें सर्वत्र पाई जाती है, वह बात है भगवान्‌के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्य-मात्रको उसके निर्विशिष्ट रूपमें समान समझना। परन्तु, आजकल सर्व-धर्म-समन्वयसे जिस प्रकारका भाव लिया जाता है वह कबीरमें एकदम नहीं था। सभी धर्मोंके बाह्य आचारों और आन्तर संस्कारोंमें कुछ-न-कुछ विशेषता देखना और सब आचारों और संस्कारोंके प्रति सम्मानकी दृष्टि उत्पन्न करना ही यह भाव है। कबीर इसके कठोर विरोधी थे। उन्हें अर्थ-हीन आचार पसन्द नहीं थे, चाहे वे बडेसे बडे आचार्य या पैगंबरके ही प्रवर्तित हों या उच्चसे उच्च समझी जानेवाली धर्म-पुस्तकसे उपदिष्ट हों। बाह्याचारकी निरर्थक पूजा और संस्कारोंकी विचारहीन गुलामी कबीरको पसंद नहीं थी। वे इनसे मुक्त मनुष्यताको ही प्रेम-भक्तिका पात्र मानते थे। धर्मगत विशेषताओंके प्रति सहन-शीलता और संभ्रमका

भाव भी उनके पदोंमें नहीं मिलता। परन्तु वे मनुष्य-मात्रको समान मर्यादाका अधिकारी मानते थे; जातिगत, कुलगत, आचारगत श्रेष्ठताका उनकी दृष्टिमें कोई मूल्य नहीं था। सम्प्रदाय-प्रतिष्ठाके भी वे विरोधी जान पड़ते हैं। परन्तु, फिर भी, विरोधाभास यह है कि उन्हें हजारोंकी संख्यामें लोग संप्रदाय-विशेषके प्रवर्तक माननेमें ही गौरव अनुभव करते हैं!

जो लोग हिन्दू-मुस्लिम-एकताके व्रतमें दीक्षित हैं वे भी कबीरदासको अपना मार्गदर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम-रहीम और केशव-करीमकी जो एकता स्वयं-सिद्ध है उसे भी सम्प्रदाय-बुद्धिसे विकृत मस्तिष्कवाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदाससे अधिक जोरदार शब्दोंमें इस एकताका प्रतिपादन किसीने नहीं किया। पर जो लोग उत्साहाधिक्य-वश कबीरको केवल हिन्दू-मुस्लिम एकताका पैगम्बर मान लेते हैं वे उनके मूल-स्वरूपको भूलकर उसके एक-देश-मात्रकी बात करने लगते हैं। ऐसे लोग यदि यह देखकर क्षुब्ध हों कि कबीरदासने 'दोनों धर्मोकी ऊँची संस्कृति या दोनो धर्मोंके उच्चतर भावोंमें सामंजस्य स्थापित करनेकी कहीं भी कोशिश नहीं की, और सिर्फ यही नहीं, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओंकी खिल्ली ही उड़ाई है जिसे मज़हबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कह कर व्याख्या करते हैं,' तो कुछ आश्चर्य करनेकी बात नहीं है, क्योंकि कबीरदास इस बिन्दुपरसे धार्मिक द्वंद्वोंको देखते ही न थे। उन्होंने रोगका ठीक निदान किया था या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं पर औषध-निर्वाचनमें और अपथ्य-वर्जनके निर्देशमें उन्होने बिल्कुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवद्विश्वास। दोनों धर्म समान-रूपसे भगवान्में विश्वास करते हैं और यदि सचमुच ही आदमी धार्मिक है तो इस अमोघ औषधका प्रभाव उसपर पड़ेगा ही। अपथ्य हैं बाह्य आचारोंको धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण ऊँच-नीचका भाव। कबीरदासकी इन दोनों व्यवस्थाओंमें गलती नहीं है और अगर किसी दिन हिन्दुओ और मुसलमानोंमें एकता हुई तो इसी रास्ते हो सकती है। इसमे केवल बाह्याचार-वर्जनकी नकारात्मक प्रक्रिया नहीं है, भगवद्विश्वासका अविश्लेष्य सीमेंट भी काम करेगा। इसी अर्थमें कबीरदास हिन्दू और मुसलमानोंके ऐक्य-विधायक थे। परन्तु जैसा कि आरंभमें ही कहा गया है, कबीरदासको केवल इन्हीं रूपोंमे देखना सही देखना नहीं है। वे मूलतः भक्त थे। भगवान्पर उनका अविचल अखण्ड विश्वास था। वे कभी सुधार करनेके फेरमे नहीं पड़े। शायद वे अनुभव

कर चुके थे कि जो स्वयं सुधरना नहीं चाहता उसे जबर्दस्ती सुधारनेका व्रत व्यर्थका प्रयास है। वे अपने उपदेश 'साधु' भाईको देते थे या फिर स्वयं अपने आपको ही सम्बोधित करके कह देते थे। यदि उनकी बात कोई सुननेवाला न मिले तो वे निश्चिन्त होकर स्वयंको ही पुकार कर कह उठते : 'अपनी राह तू चले कबीरा!' अपनी राह अर्थात् धर्म, सम्प्रदाय, जाति-कुल और शास्त्रकी रूढियोंसे जो बद्ध नहीं है, जो अपने अनुभवके द्वारा प्रत्यक्षीकृत है।

कबीरदासका यह भक्त रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्रके इर्द गिर्द उनके अन्य-रूप स्वयमेव प्रकाशित हो उठे हैं। मुश्किल यह है कि इस केन्द्रीय वस्तुका प्रकाश भाषाकी पहुँचके बाहर है। भक्ति कहकर नहीं समझाई जा सकती, वह अनुभव करके आस्वादन की जा सकती है। कबीरदासने इस बातको हजार तरहसे कहा है। इस भक्ति या भगवान्के प्रति अहैतुक अनुरागकी बात कहते समय उन्हें ऐसी बहुत-सी बातें कहनी पड़ी हैं जो भक्ति नहीं हैं पर भक्तिके अनुभव करनेमें सहायक हैं। मूल वस्तु चूँकि वाणीके अगोचर है, इसीलिये केवल वाणीका अध्ययन करनेवाले विद्यार्थीको अगर भ्रममें पड़ जाना पड़ा हो तो आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। वाणीद्वारा उन्होंने उस निगूढ़ अनुभवैकगम्य तत्त्वकी ओर इशारा किया है, उसे 'ध्वनित' किया है। ऐसा करनेके लिये उन्हें भाषाके द्वारा रूप खड़ा करना पड़ा है और अरूपको रूपके द्वारा अभिव्यक्त करनेकी साधना करनी पड़ी है। काव्यशास्त्रके आचार्य इसे ही कविकी सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं। रूपके द्वारा अरूपकी व्यंजना, कथनके जरिये अकथ्यका ध्वनन, काव्यशक्तिका चरम निदर्शन नहीं तो क्या है? फिर भी वह ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करनेकी शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पर्देमें फोकटका माल है,—बाईप्रोडक्ट है; वह कोलतार और सीरेकी भाँति और चीज़ोंको बनाते बनाते अपने आप बन गया है!

प्रेम-भक्तिको कबीरदासकी वाणियोंकी केन्द्रीय वस्तु न माननेका ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे अच्छे विद्वान् उन्हें घमंडी, अटपटी वाणीका बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैतवादके बारीक भेदको न जाननेवाला, अहंकारी, अगुण-सगुण-विवेक-अनभिज्ञ आदि कहकर अपनेको उनसे अधिक योग्य मानकर सन्तोष पाते रहे हैं। यह मानी हुई बात है कि जो बात लोकमें अहंकार कहलाती है वह भगवत्प्रेमके क्षेत्रमें,—स्वाधीनभर्तृका नायिकाके गर्वकी भाँति—अपने

और अपने प्रियके प्रति अखण्ड विश्वासकी परिचायक है; जो बात लोकमें दब्बूपन और कायरता कहलाती है वही भगवत्प्रेमके क्षेत्रमें भगवान्‌के प्रति भक्तका अनन्यपरायण आत्मार्पण होती है और जो बातें लोकमें परस्पर-विरुद्ध जँचती हैं भगवान्‌के विषयमें उनका विरोध दूर हो जाता है। लोकमें ऐसे जीवकी कल्पना नहीं की जा सकती जो कर्णहीन होकर भी सब कुछ सुनता हो, चक्षुरहित बना रहकर भी सब कुछ देख सकता हो, वाणीहीन होकर भी वक्ता हो सकता हो; जो छोटेसे छोटा भी हो और बड़ेसे बड़ा भी; जो एक भी हो और अनेक भी; जो बाहर भी हो और भीतर भी; जिसे सबका मालिक भी कहा जा सके और सबका सेवक भी; जिसे सबके ऊपर भी कहा जा सके और सर्वमय भी; जिसमें समस्त गुणोंका आरोप भी किया जा सके और गुण-हीनताका भी, और फिर भी जो न इंद्रियका विषय हो, न मनका, न बुद्धिका! परन्तु भगवानके लिये ये सब विशेषण सब देशोंके साधक सर्व-भावसे देते रहे हैं। जो भक्त नहीं हैं, जो अनुभव-द्वारा साक्षात्कार किये हुए सत्यमें विश्वास नहीं रखते, वे केवल तर्कमें उलझकर रह जाते हैं पर जो भक्त हैं, वे भुजा उठाकर घोषणा करते हैं, 'अगुणहिं-सगुणहिं नहिं कछु भेदा!' (तुलसीदास)। परन्तु तर्कपरायण व्यक्ति इस कथनके अटपटेपनको वदतोव्याघात कहकर सन्तोष कर लेता है। यदि भक्तिको कबीरदासकी वाणियोंकी केन्द्रीय वस्तु मान लिया जाता तो निस्सन्देह स्वीकार कर लिया जाता कि भक्तके लिये वे सारी बातें बेमतलब हैं जिन्हें कि विद्वान् लोग बारीक भेद कहकर आनंद पाया करते हैं। भगवानके अनिर्वचनीय स्वरूपको भक्तने जैसा कुछ देखा है वह वाणीके प्रकाशन-क्षेत्रके बाहर है, इसी-लिये वाणी नाना प्रकारसे परस्पर विरोधी और अविरोधी शब्दो द्वारा उस परम प्रेममयका रूप निर्देश करनेकी चेष्टा करती है। भक्त उसकी असमर्थतापर नहीं जाता, वह उसकी रूपातीत व्यंजनाको ही देखता है।

भक्ति-तत्त्वकी व्याख्या करते करते उन्हें उन बाह्याचारके जंजालोंको साफ़ करनेकी ज़रूरत महसूस हुई है जो अपनी जड़-प्रकृतिके कारण विशुद्ध चेतन-तत्त्वकी उपलब्धिमें बाधक हैं। यह बात ही समाज-सुधार और साम्प्रदायिक ऐक्यकी विधात्री बन गई है। पर यहाँ भी यह कह रखना ठीक है कि यह भी फोकटका माल या बाईप्रोडक्ट ही है।

जो लोग इन बातोंसे ही कबीरदासकी महिमाका विचार करते हैं वे केवल

सतहपर ही चक्कर काटते हैं। कबीरदास एक जबर्दस्त क्रान्तिकारी पुरुष थे। उनके कथनकी ज्योति जो इतने क्षेत्रोंको उद्भासित कर सकी है सो मामूली शक्तिमत्ताकी परिचायिका नहीं है। परन्तु यह समझना कि उद्भासित पदार्थ ही ज्योति हैं, बड़ी भारी गलती है। उद्भासित पदार्थ ज्योतिकी ओर इशारा करते हैं और ज्योति किधर और कहाँ है, इस बातका निर्देश देते हैं। ऊपर ऊपर सतहपर चक्कर काटनेवाले समुद्र भले ही पार कर जाँय पर उसकी गहराईकी थाह नहीं पा सकते। इन पंक्तियोंका लेखक अपनेको सतहका चक्कर काटनेवालोंसे विशेष नहीं समझता। उसका दृढ विश्वास है कि कबीरदासके पदोंमें जो महान् प्रकाशपुंज है वह बौद्धिक आलोचनाका विषय नहीं है। वह म्यूज़ियमकी चीज़ नहीं है बल्कि जीवित प्राणवान् वस्तु है। कबीरपर पुस्तकें बहुत लिखी गई हैं, और भी लिखी जायँगीं पर ऐसे लोग कम ही हैं जो उस साधनाकी गहराई तक जानेकी चेष्टा करते हों। रामकी वानरी सेना समुद्र ज़रूर लाँघ गई थी पर उसकी गहराईका पता तो मंदर पर्वतको ही था जिसका विराट् शरीर आपाताल निमग्न हो गया था—

अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गंभीरताम्
आपाताल-निमग्न-पीवरतनु-र्जानाति मन्द्राचलः !

सो, कबीरदासकी सच्ची महिमा तो कोई गहरेमें गोता लगानेवाला ही समझ सकता है।

फिर भी लेखकने इस पुस्तकमें जो लंबी व्याख्या प्रकाशित की है उसके लिये उसे पश्चात्ताप नहीं है। कबीरने जिन तत्त्वोंको अपनी रचनासे ध्वनित करना चाहा है उनके लिये कबीरकी भाषासे ज्यादा साफ़ और जोरदार भाषाकी संभावना भी नहीं है और जरूरत भी नहीं है। परन्तु कालक्रमसे वह भाषा आजके शिक्षित व्यक्तिको दुरूह जान पड़ती है। कबीरने शास्त्रीय भाषाका अध्ययन नहीं किया था, पर फिर भी उनकी भाषामें परम्परासे चली आई हुई विशेषताएँ वर्तमान हैं। इसका ऐतिहासिक कारण है। इस ऐतिहासिक कारणको जाने बिना उस भाषाको ठीक ठीक समझना संभव नहीं है। इस पुस्तकमें उसी ऐतिहासिक परम्पराके अध्ययनका प्रयास है। यह प्रयास पूर्णरूपसे सफल हुआ ही होगा, ऐसा हम दावा नहीं करते परन्तु वह गर्हणीय नहीं है, इस बातमें लेखकको कोई सन्देह नहीं है।

कबीरदासने स्वयं अरूपको रूप देनेकी चेष्टा की थी। परन्तु वे स्वयं कह गये हैं कि ये सारे प्रयास तभी तक थे जब तक परम-प्रेमके आधार प्रियतमका मिलन

नहीं हुआ था। साखी, पद, शब्द और दोहरे उसी प्राप्तिके साधन हैं, मार्ग हैं ( दे० पृ० २१५ )। गन्तव्य तक पहुँच जानेपर मार्गका हिसाब करना बेकार होता है। फिर इन साखी, शब्द और दोहरोंकी व्याख्याके प्रयासको क्या कहा जाय? ये तो साधनको समझानेके साधन,—साधनके भी साधन हैं!

प्रसंग-क्रमसे इसमें कबीरदासकी भाषा और शैली समझानेके कार्यसे कभी कभी आगे बढनेका साहस किया गया है। जो वाणीके अगोचर है, उसे वाणीके द्वारा अभिव्यक्त करनेकी चेष्टा की गई है, जो मन और बुद्धिकी पहुँचसे परे हो उसे बुद्धिके बलपर समझनेकी कोशिश की गई है, जो देश और कालकी सीमाके परे है उसे दो-चार-दस पृष्ठोंमे बॉध डालनेकी साहसिकता दिखाई गई है। कहते हैं, समस्त पुराणों और महाभारतीय संहिता लिखनेके बाद व्यास-देवने अत्यंत अनुतापके साथ कहा था कि हे अखिल विश्वके गुरुदेव, आपका कोई रूप नहीं है फिर भी मैंने ध्यानके द्वारा इन ग्रन्थोंमें रूपकी कल्पना की है, आप अनिर्वचनीय हैं, व्याख्या करके आपके स्वरूपको समझा सकना संभव नहीं है फिर भी मैंने स्तुति-द्वारा व्याख्या करनेकी कोशिश की है,—वाणीद्वारा प्रकाश करनेका प्रयास किया है। तुम समस्त-भुवन-व्याप्त हो, इस ब्रह्माण्डके प्रत्येक अणु-परमाणुमें तुम भिने हुए हो, तथापि तीर्थ-यात्रादिके विधानसे उस व्यापित्वको खंडित किया है। भला जो सर्वत्र परिव्याप्त है उसके लिये तीर्थ-विशेषमें जानेकी व्यवस्था क्या? सो हे जगदीश, मेरी बुद्धिगत विकलताके ये तीन अपराध,—अरूपकी रूप-कल्पना, अनिर्वचनीयका स्तुति-निर्वचन, व्यापीका स्थान-विशेषमे निर्देश—तुम क्षमा करो। क्या व्यासजीके महान् आदर्शका पदानुसरण करके इस लेखकको भी यही कहनेकी जरूरत है?—

> रूपं रूप-विवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत्कल्पितम्,
> स्तुत्या निर्वचनीयताऽखिलगुरो-र्दूरीकृता यन्मया।
> व्यापित्वं च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना,
> क्षन्तव्यं जगदीश, तद् विकलता-दोषत्रयं मत्कृतम्॥

---

# कबीर-वाणी

[ १ से १०० तक आचार्य क्षितिमोहन सेनके संग्रहसे उद्धृत और अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिके वे पद्य हैं जिन्होंने महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे व्यक्तिको आकृष्ट किया, जो उन्हें इस योग्य जँचे कि भारतीय मनीषाके प्रति पाश्चात्य विद्वानोंकी उपेक्षा और अवज्ञाको दूर कर सकेंगे और इस लिए जिनका अँग्रेजी अनुवाद उन्होंने स्वयं किया। यूरोपीय भाषाओंमें इनके अनुवादोंसे कितने ही चोटीके समीक्षक भारतीय साधना और साहित्यके विषयमें अपना मत बदलनेको बाध्य हुए।

हिंदीके पाठकोंको इन कविताओंके पढ़ते समय दो बातें ध्यानमें रखनी चाहियेः (१) ये कवितायें मुख्यतः पश्चिमी विद्वानोंको दृष्टिमें रखकर संग्रहीत हुई थीं और (२) इनके संग्रहकर्ता आचार्य सेनने छपी पोथियोंकी अपेक्षा साधुओंके मुँहसे सुनी हुई वाणियोंको अधिक ठीक माना था। प्रत्येक पदके अन्तमें दी हुई दो संख्यायें आचार्य सेनके संग्रहकी जिल्द और पृष्ठका निर्देश करती हैं।

१०१ से २७३ तकके पद पिछले अध्यायोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंका और भी अधिक समर्थन करनेकी दृष्टिसे संग्रहीत हुए हैं। जिस क्रमसे सिद्धान्तोंका प्रतिपादन है, उसी क्रमसे संग्रह भी। ]

१

मोकों कहाँ ढूढ़े वन्दे, मै तो तेरे पासमे ।
ना मैं देवल ना मै मसजिद, ना काबे कैलासमें ।
ना तौ कौन क्रिया-कर्ममे, नहीं योग-वैरागमे ।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहौ, पल-भरकी तालासमें ।
कहै कवीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसोकी स्वाँसमे ॥ (१-१२)

२

सन्तन जात न पूछो, निरगुनियाँ ।
साव ब्राहमन साध छत्तरी, साधै जाती बनियाँ
साधनमाँ छत्तीस कौम है, टेढ़ी तोर पुछनियाँ ।
साधै नाऊ साधै धोबी, साध जाति है बरियाँ ।
साधनमाँ रैदास सन्त हैं, सुपच ऋषि सो भँगियाँ ।
हिन्दु-तुर्क दुइ दीन वने है, कछू नहीं पहचनियाँ । (१-१६)

३

साधो भाई, जीवत ही करो आसा ।
जीवत समझे जीवत बूझे, जीवत मुक्तिनिवासा ।
जीवत करमकी फाँस न काटी, मुये मुक्तिकी आसा ।
तन छूटे जिव मिलन कहत हैं, सो सब झूठी आसा ।
अवहुँ मिला सो तबहुँ मिलंगा, नहिं तो जमपुरवासा ।
सत्त गहे सतगुरुको चीन्हे, सत्त-नाम विस्वासा ।
कहैं कवीर साधन हितकारी, हम सावनके दासा ॥ (१-५७

४

बागो ना जा रे ना जा,

तेरी कायामे गुलजार ।

सहस-कँवलपर बैठके

तू देखे रूप अपार ॥ ( १-५८ )

५

अवधू, माया तजी न जाई ।

गिरह तजके बस्तर बाँधा, बस्तर तजके फेरी ।

काम-तजेतें क्रोध न जाई, क्रोध तजेतें लोभा ।

लोभ तजे अहँकार न जाई, मान-बड़ाई-सोभा ।

मन बैरागी माया त्यागी, शब्दमे सुरत समाई ।

कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह गम बिरले पाई । ( १-६३ )

६

चंदा झलकै यहि घट माहीं । अंधी आखन सूझै नाहीं ।

यहि घट चंदा यहि घट सूर । यहि घट गाजै अनहद तूर ।

यहि घट बाजै तबल-निसान । बहिरा शब्द सुनै नहिं कान

जब लग मेरी मेरी करै । तब लग काज एकौ नहिं सरै ॥

जब मेरी ममता मर जाय । तबलग प्रभु-काज सँवारै आय ॥

ज्ञानके कारन करम कमाय । होय ज्ञान तब करम नसाय ॥

फल कारन फूलै वनराय । फल लागै पर फूल सुखाय ॥

मृगा पास कस्तूरी बास । आप न खोजै खोजै घास ॥ (१-८३)

७

साधो, ब्रह्म अलख लखाया ।
जब आप आप दरसाया ॥
बीज-मद्ध ज्यो बृच्छा दरसै, बृच्छा-मद्धे छाया ॥
ज्यों नभ-मद्धे सुन्न देखिये, सुन्न अनन्त आकारा ।
निःअच्छरते अच्छर तैसे, अच्छर छर बिस्तारा ॥
ज्यों रवि-मद्धे किरन देखिये, किरन-मद्ध परकासा ।
परमातममे जीव ब्रह्म इमि, जीव-मद्ध तिमि स्वाँसा ॥
स्वाँसा-मद्धे शब्द देखिये, अर्थ शब्दके माहीं ।
ब्रह्मते जीव जीवते मन यो, न्यारा मिला सदा ही ॥
आपहि बृच्छ बीज अंकूरा, आप फूल-फल-छाया ।
आपहि सूर किरन परकासा, आप ब्रह्म जिउ माया ॥
अनन्ताकार सुन्न नभ आपै, स्वाँस शब्द अरथाया ।
निःअच्छर अच्छर छर आपै, मन जीव ब्रह्म समाया ॥
आतममें परमातम दरसै, परमातममे झाँई ।
झाँईमें परछाई दरसै, लखै कबीरा साँई ॥ (१-८५)

८

इस घट-अंतर बाग-बगीचे, इसीमें सिरजनहारा ।
इस घट-अंतर सात समुन्दर, इसीमें नौ लख तारा ।
इस घट अन्तर पारस मोती, इसीमे परखनहारा ।
इस घट अन्तर अनहद गरजै, इसीमे उठत फुहारा ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, इसीमे साईं हमारा ॥ (१-१०१)

९

ऐसा लो नहिं तैसा लो, मै केहि बिधि कथौ गँभीरा लो।
भीतर कहूँ तो जगमय लाजै, बाहर कहूँ तो झूठा लो॥
बाहर-भीतर सकल निरन्तर, चित्त-अचित दोउ पीठा लो।
दृष्टि न मुष्टि परगट अगोचर, बातन कहा न जाई लो॥

( १-१०४ )

१०

तोहि मोर लगन लगाये रे फकिरवा।
सोवत ही मै अपने मन्दिरमें,
शब्द मारि जगाये रे फकिरवा।
बूड़त ही भवके सागरमें
बहियॉ पकरि समुझाये रे फकिरवा।
एकै बचन दूजै बचन नहिं
तुम मोसे बंद छुड़ाये रे फकिरवा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो,
प्रानन प्रान लगाये रे फकिरवा। ( १-१२१ )

११

निस-दिन खेलत रही सखियन सँग,
मोहि बड़ा डर लागे।
मोरे साहबकी ऊँची अटरिया,
चढ़तमें जियरा काँपे॥

जो सुख चहै तो लज्जा त्यागे,
पियासे हिलमिल लागे ॥
घूंघट खोल अंग भर भेटे,
नैन आरती साजे ॥
कहै कबीर सुनो सखि मोरी,
प्रेम होय सो जाने ।
निज प्रीतमकी आस नहीं है,
नाहक काजर पारे ॥ ( १-१३१ )

१२

हंसा कहो पुरातम बात ।
कौन देससे आया हंसा, उतरना कौन घाट ॥
कहाँ हंसा बिसराम किया है, कहाँ लगाये आस ।
अबहीं हंसा चेत सबेरा, चलो हमारे साथ ।
संसय-सोक वहाँ नहिं व्यापै, नहीं कालकै त्रास ॥
हुआँ मदन-बन फूल रहे है, आवे सोहं वास ।
मन भौंरा जहँ अरुझ रहे हैं, सुखकी ना अभिलास ॥ (२-२४)

१३

अनगढ़िया देवा, कौन करै तेरी सेवा ।
गढ़े देवको सब कोइ पूजै, नित ही लावै सेवा ।
पूरन ब्रह्म अखंडित स्वामी, ताको न जानै भेवा ।
दस औतार निरंजन कहिए, सो अपना ना होई ।
यह तो अपनी करनी भोगैं, कर्ता और हि कोई ।

जोगी जती तपी संन्यासी, आप आपमें लड़ियाँ ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, राग लखै सो तरियाँ । (२-३७)

१४

दरियाकी लहर दरियाव है जी
दरिया और लहरमे भिन्न कोयम् ।
उठै तो नीर है बैठे तो नीर है
कहो जी दूसरा किस तरह होयम् ।
उसीका फेरके नाम लहर धरा
लहरके कहे क्या नीर खोयम् ।
जक्त ही फेर सब जक्त परब्रह्मे
ज्ञान कर देख माल गोयम् (२-५६)

१५

जहाँ खेलत बसन्त रितुराज
जहाँ अनहद बाजा बजै बाज ।
चहुँदिसि जोतिकी वहै धार
बिरला जन कोइ उतरै पार ।
कोटि कृष्ण जहँ जोड़े हाथ
कोटि विष्णु जहँ नावै माथ ।
कोटिन ब्रह्मा पढ़ै पुरान
कोटि महेश धरै जहँ ध्यान ।
कोटि सरस्वती जहँ धरै राग
कोटि इन्द्र जहँ गगन लाग ।

सुर-गंधर्व-मुनि गनै न जायँ
जहँ साहब प्रगटे आय आय ।
चौबा चंदन और अबीर
पुहप-बास-रस रह्यो गँभीर ॥ ( २-५७ )

१६

जहँ चेत-अचेत खंभ दोउ मन रच्या है हिंडोर ।
तहँ झूलै जीव जहान, जहँ कतहुँ नहिं थिर ठौर ॥
और चंद-सूर दोऊ झूलै नाहीं पावै अन्त ।
चौरासी लच्छहु जिव झूलै झूलै रवि-ससि धाय
कोटिन कल्प जुग बीतिया आने न कबहुँ हाय ।
धरनी अकासहु दोऊ झूलै झूलै पवनहु नीर ।
धरि देह हरि आपहु झूलैं जो लखहीं दास कबीर ( २-५९ )

१७

ग्रह चंद्र तपन जोत बरत है
सुरत राग निरत तार बाजै ।
नौबतिया घुरत है रैन दिन सुन्नमे
कहै कबीर पिउ गगन गाजै ॥

क्षण और पलककी आरती कौनसी
रैन-दिन आरती विस्व गावै ।
घुरत निस्सान तहँ गैबकी झालरा
गैबकी घंटका नाद आवै ।

कहै कबीर तहँ रैन-दिन आरती
जगतके तखतपर जगत सांई ।
कर्म औ भर्म संसार सब करत है
पीवकी परख कोई प्रेमी जानै
सुरत औ' निरत धार मनमे पकड़ कर
गंग और जमनके घाट आनै ॥
नीर निर्मल तहाँ रैन-दिन झरत है
जनम औ' मरन तब अन्त पाई ॥

देख वोजूदमे अजब बिसराम है
होय मौजूद तो सही पावै ।
सुरतकी डोर सुख-सिंधका झूलना
घोरकी सोर तँह नाद गावै ।
नीर-बिन कँवल तहँ देख अति फूलिया
कहै कबीर मन भँवर छावै ।

चक्रके बीचमे कँवल अति फूलिया
तासुका सुक्ख कोइ सन्त जानै ।
शब्दकी घोर चहुँ ओर तहँ होत है
असीम समुंदरकी सुक्ख मानै ।
कहैं कबीर यो डूब सुख-सिंधमे
जन्म और मरनका भर्म भानै ॥
पाँचकी प्यास तहँ देख पूरी भई
तीनकी ताप तहँ लगै नाहीं ।

कहै कबीर यह अगमका खेल है
गैबका चाँदना देख माहीं ।

जनम-मरन जहाँ तारी परत है
होत आनंद तहँ गगन गाजै ।
उठत झनकार तहँ नाद अनहद घुरै
तिरलोक-महलके प्रेम बाजै ।

चंद्र-तपन कोटि दीप बरत है
तूर बाजै तहाँ सन्त झूलै ।
प्यार झनकार तहँ नूर बरसत रहै
रस पीवै तहँ भक्त झूलै ।

जनम-मरन बीच देख अन्तर नहीं
दच्छ औार बाम यूं एक आही
कहैं कबीर या सैन गूंगातई
वेद कत्तेबकी गम्म नाहीं ॥

अवर आसन किया अगम प्याला पिया
जोगकी मूल गह जुगुति पाई ।
पंथ बिन जाय चल सहर बेगम पुरे
दया जगदेवकी सहज आई ।
ध्यान धर देखिया नैन-बिन पेखिया
अगम अगाध सब कहत गाई ।
सहर बेगमपुरा गम्मको ना लहै
होय बेगम्म जो गम्म पावै ।

गुनाकी गम्म ना अजब बिसराम है
सैन जो लखै सोइ सैन गावै ।
मुक्ख वानी तिको स्वाद कैसे कहै
स्वाद पावै सोइ सुक्ख मानै ।
कहै कबीर या सैन गूंगातई
होय गूंगा जोई सैन जानै ।

छक्याँ अवधूत मस्तान माता रहै
ज्ञान-वैराग्य सुधि लिया पूरा
स्वाँस-उस्वाँसका प्रेम-प्याला पिया
गगन गरजै तहाँ बजै तूरा ।

बिनकर ताँतिया नाद गाता रहै
जतन जरना लिया सदा खेलै
कहैं कबीर प्रान प्रान-सिंधमें मिलावै
परम सुखधाम तहँ प्रान मेलै ।

आठहू पहर मतवाल लागी रहै
आठहू पहरकी छाक पीवै ।
आठहू पहर मस्तान माता रहै
ब्रह्मके देहमे भक्त जीवै ।

साँच ही कहत और साँच ही गहत है
काँचकूँ त्यागकर साँच लागा ।
कहैं कबीर यूँ भक्त निर्भय हुआ
जन्म और मरनका भर्म भागा ।

गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै
होत झनकार नित बजत तूरा।
गगनके भवनमे गैबका चाँदना
उदय् और अन्तका नाँव नाहीं।
दिवस और रैन तहँ नेक नहिं पाइये
प्रेम, परकासके सिंधमाहीं॥
सदा आनंद दुख-दंद व्यापै नहीं
पूरनानंद भरपूर देखा।
भर्म और भ्रांति तहँ नेक नहिं पाइये
कहैं कबीर रस एक पेखा॥
खेल ब्रह्माण्डका पिंडमे देखिया
जगतकी भरमना दूर भागी।
बाहरा-भीतरा एक आकासवत
धरियामे अधर भरपूर लागी।
देख दीदार मस्तान मै होय रह्या
सकल भरपूर है नूर तेरा।
ज्ञानका खाल और प्रेम दीपक अहै
अधर आसन किया अगम डेरा।
कहै कबीर तहँ मर्म भासै नहीं
जन्म और मरनका मिटा फेरा॥ ( २-६१ )

१८

मद्ध अकास आप जहँ बैठे, जोत शब्द उजियारा हो।
सेत सरूप राग जहँ फूले, सांइं करत बिहारा हो।

कोटिन चन्द-सूर छिप जैहैं, एक रोम उजियारा हो ।
वही पार एक नगर वसतु है, वरसत अमृत-धारा हो ।
कहै कवीर सुनो धमदासा, लखो पुरुष दरवारा हो । ( २-७७ )

१९

परमातम गुरु निकट विराजै
जाग जाग मन मेरे ।
धायके पीतम चरनन लागै
साईं खड़ा सिर तेरे ।
जुगन जुगन तोहिं सोवत बीता
अजहुँ न जाग सवेरे । ( २-२० )

२०

मन, तू पार उतर कहँ जैहौ ।
आगे पंथी पंथ न कोई, कूच-मुकाम न पैहौ ।
नहिं तहँ नीर, नाव नहिं खेवट, ना गुन खैचनहारा ।
धरनी-गगन-कल्प कछु नाहीं, ना कछु वार न पारा ।
नहिं तन, नहिं मन, नहीं अपनपौ सुनमे सुद्ध न पैहौ ।
वलीवान होय पैठौ घटमे, वाही ठौरै होइहौ ।
वारँ हि बार विचार देख मन, अंत कहूँ मत जैहौ ।
कहै कबीर सब छाड़ि कलपना, ज्योंके त्यों ठहैरहौ ( २-२२ )

२१

घर घर दीपक बरै, लखै नहिं अन्ध है ।
लखत लखत लखि परै, कटै जम फन्द है ॥

कहन-सुनन कछु नाहिं, नहीं कछु करन है।
जीते जी मरि रहै, बहुरि नहिं मरन है ॥
जोगी पड़े बियोग, कहै घर दूर है।
पासहि बसत हजूर, तू चढ़त खजूर है ॥
बाह्मन दिच्छा देता घर घर घालि है।
मूर सजीवन पास, तू पाहन पालि है ॥
ऐसन साह कबीर, सलोना आप है।
नहीं जोग नहिं जाप, पुन्न नहिं पाप है ॥ ( २-३२ )

२२

साधो, सो सतगुरु मोंहि भावै।
सत्त प्रेमका भर भर प्याला, आप पिवै मोहि प्यावै।
परदा दूर करै आँखिनका, ब्रह्म-दरस दिखलावै।
जिस दरसमे सब लोक दरसै, अनहद सब्द सुनावै।
एकहि सब सुख-दुख दिखलावै, सब्दमे सुरत समावै।
कहैं कबीर ताको भय नाही, निर्भय पद परसावै। (२-३८)

२३

तिंविर साँझका गहिरा आवै, छावै प्रेम मन-तनमे।
पच्छिम दिसकी खिड़की खोलो, डूबहु प्रेम-गगनमें।
चेत-कँवल-दल रस पीयो रे, लहर लेहु या तनमे।
संख-घंट-सहनाई बाजै, सोभा-सिंध महलमे।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अमर साहब लख घटमे। (२-४०)

२४

जिससे रहनि अपार जगतमे, सो प्रीत मुझे पियारा हो ।
जैसे पुरइनि रहि जल-भीतर, जलहिमे करत पसारा हो ।
वाके पानी पत्र न लागै, ढरकि चलै जस पारा हो ।
जैसे सती चढ़ै आगिनपर, प्रेम-वचन ना टारा हो ।
आप जरै औरनिको जारै, राखै प्रेम-मरजादा हो ।
भवसागर इक नदी अगम है, अहद अगाह धारा हो ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, विरले उतरे पारा हो । (२-४८)

२५

हरिने अपना आप दिखाया ।
हरिने नफीज कर दिखराया ॥
हरिने मुझे कठिन बिच घेरी ।
हरिने दुविधा काटी मेरी ॥
हरिने सुख-दुख बतलाये ।
हरिने सब दुंद मिटाये ॥
ऐसे हरिपै तन-मन वारूँ,
प्राणहिं तजूँ हरि नहीं बिसारूँ ॥ (२-४५)

२६

ओकार सबै कोई सिरजै, रागस्वरूपी अंग ।
निराकार निर्गुन अविनासी, कर वाहीको संग ॥
नाम निरंजन नैनन-मद्धे, नाना रूप धरंत ।
निरंकार निर्गुन अविनासी, अपार अथाह अंग ॥

महासुक्ख मगन होइ नाचै, उपजै अंग तरंग।
मन और तन थिर न रहतु है, महा सुक्खके संग।
सब चेतन सब अनन्द सब है दुःख गहन्त।
कहाँ आदि कहँ अन्त आप सुक्ख बिच धरंत॥ (२-७५)

२७

सतगुरु सोइ दया करि दीन्हा।
ताते अन-चिन्हार मैं चीन्हा॥
बिन पग चलना बिन पर उड़ना, बिना चूँचका चुगना।
बिना नैनका देखन-पेखन, बिन सरवनका सुनना
चंद न सूर दिवस नहिं रजनी, तहाँ सुरत लौ लाई।
बिना अन्न अंमृत-रस-भोजन, बिन जल तृषा बुझाई।
जहाँ हरस तहँ पूरन सुख है, यह सुख कासौ कहना।
कहैं कबीर बल बल सतगुरुकी, धन्न सिष्यका लहना। (२-८१)

२८

निरगुन आगे सरगुन नाचै,
बाजै सोहँग तूरा।
चेलाके पाँव गुरूजी लागैं,
यही अचम्भा पूरा॥ (२-८५)

२९

प्रश्न

कबीर, कबसे भये बैरागी।
तुम्हरी सुरति कहाँको लागी॥

उत्तर

वड़चित्राका मेला नाहीं, नहीं गुरू नहिं चेला ।
सकल पसारा जिन दिन नाहीं, जिहि दिन पुरुष अकेला ॥
गोरख, हम तबके अहैं वैरागी ।
हमरी सुरति ब्रह्मसों लागी ॥
ब्रह्मा नहिं जब टोपी दीन्ही, बिस्नु नहीं जब टीका ।
सिव-सक्तीकै जनमौ नाहीं, तबै जोग हम सीखा ॥
कासीमे हम प्रगट भये हैं, रामानंद चेताये ।
प्यास अहदकी साथ हम लाये, मिलन-करनको आये ॥
सहजै सहजै मेला होइगा, जागी भक्ति उतंगा ।
कहैं कबीर सुनो हो गोरख, चलो गीतके संगा ॥ (२-८७)

३०

या तरिवरमे एक पखेरू, भोग सरस वह डोलै रे ।
वाकी संध लखैं नहिं कोई, कौन भावसों बोलै रे ।
दुर्म्म-डार तहँ अति घन छाया, पंछी बसेरा लेई रे ।
आवै साँझ उड़ि जाय सवेरा, मरन न काहू देई रे ।
सो पंछी मोहि कोइ न बतावै, जो बोलै घटमाँहीं रे ।
अबरन-बरन रूप नहिं रेखा, बैठा प्रेमके छाँही रे ।
अगम अपार निरन्तर बासा, आवत-जात न दीसा रे ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह कुछ अगम कहानी रे ।
या पंछीके कौन ठौर है, बूझो पंडित ज्ञानी रे । (२-९५)

३१

निस-दिन सालै घाव, नींद आवै नहीं ।
पिया-मिलनकी आस, नैहर भावै नहीं ॥
खुल गये गगन-किवाड़, मन्दिर उजियार भयो ।
भयो है पुरुषसे भेट तन-मन वार दयो ॥ (२-१००)

३२

नाचु रे मेरे मन मत्त होय ।
प्रेमको राग बजाय रैन-दिन शब्द सुनै सब कोइ ।
राहु-केतु नवग्रह नाचै जम जन्म आनंद होइ ।
गिरी-समुन्दर धरती नाचै, लोक नाचै हँस-रोइ ।
छापा-तिलक लगाइ बाँस चढ़, हो रहा जगसे न्यारा ।
सहस कला कर मन मेरौ नाचै, रीझै सिरजनहारा ॥ (२-१०३)

३३

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ।
हीरा पायो गाँठ गरियायो, बार बार वाको क्यो खोले ।
हलकी थी तब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों तोले ।
सुरत-कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले ।
हंसा पाये मानसरोवर, ताल तलैया क्यो डोलें ।
तेरा साहब है घरमाँहीं, बाहर नैना क्यो खोले ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिल गये तिल ओले ॥
(२-१०५)

३४

मोहि तोंहि लागी कैसे छूटे।
जैसे कमलपत्र जल बासा,
ऐसे तुम साहिब हम दासा॥
जैसे चकोर तकत निस चंदा,
ऐसे तुम साहिब हम बंदा॥
मोहि-तोहि आदि-अन्त बन आई,
अब कैसे लगन दुराई॥
कहै कबीर हमरा मन लागा,
जैसे सरिता सिंध समाई॥ (२-११०)

३५

बालम, आवो हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे।
सब कोई कहै तुम्हारी नारी, मोको लागत लाज रे।
दिलसे नहीं दिल लगाया, तब लग कैसा सनेह रे।
अन्न न भावै नींद न आवै, गृह-बन धरै न धीर रे।
कामिनको है बालम प्यारा, ज्यों प्यासेको नीर रे।
है कोई ऐसा पर-उपकारी, पिवसो कहै सुनाय रे।
अब तो बेहाल कबीर भयो है, बिन देखे जिव जाय रे॥
(२-११३)

३६

जाग पियारी अब का सोवै।
रैन गई दिन काहेको खोवै॥

जिन जागा तिन मानिक पाया ।
तैं बौरी सब सोय गँवाया ॥
पिय तेरे चतुर तू मूरख नारी ।
कबहुँ न पियकी सेज सँवारी ॥
तैं बौरी बौरापन कीन्ही ।
भर-जोबन पिय अपन न चीन्ही ॥
जाग देख पिय सेज न तेरे ।
तोंहि छाँड़ि उठि गये सबेरे ।
कहैं कबीर सोई धुन जागै ।
शब्द-बान उर-अन्तर लागे ॥ (२-१२६)

३७

सूर-परकास, तहँ रैन कहँ पाइये
रैन-परकास नहिं सूर भासै ।
ज्ञान-परकास अज्ञान कहँ पाइये
होय अज्ञान तहँ ज्ञान नासै ।
काम बलवान तहँ प्रेम कहँ पाइये
प्रेम जहाँ होय तहँ काम नाहीं ।
कहै कबीर यह सत्त विचार है
समझ विचार कर देख माँहीं ।

पकड़ समसेर संग्राममे पैसिये
देह-परजन्त कर जुद्ध भाई ।
काट सिर बैरियाँ दाब जहँका तहाँ
आय दरबारमें सीस नवाई ॥

सूर संग्रामको देख भागे नहीं,
देख भागै सोई सूर नाहीं।
काम और क्रोध मद-लोभसे जूझना,
मचा घमसान तन-खेत माँहीं।
सील और साँच सन्तोष साही भये,
नाम समसेर तहाँ खूब बाजे।
कहै कबीर कोइ जूझिहै सूरमा
कायराँ भीड़ तहँ तुर्त भाजे॥

साधको खेल तो विकट बेंड़ा मती
सती और सूरकी चाल आगे।
सूर घमसान है पलक दो-चारका
सती घमसान पल एक लागै।
साध संग्राम है रैन-दिन जूझना
देह परजन्तका काम भाई॥ ( १-३६ )

३८

भ्रमका ताला लगा महल रे, प्रेमकी कुंजी लगाव।
कपट-किवड़िया खोलके रे, यहि बिधि पियको जगाव॥
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, फिर न लगै अस दाव॥ (१-५०)

३९

साधो, यह तन ठाठ तँबूरेका।
ऐंचत तार मरोरत खूँटी, निकसत राग हजूरेका॥

टूटे तार बिखर गई खूँटी, हो गया धूरम-धूरेका ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, अगम पंथ कोई सूरेका ॥ (१-५९)

४०

अवधू, भूलेको घर लावै ।
सो जन हमको भावै ॥
घरमें जोग भोग घरहीमे, घर तज बन नहिं जावै ।
घरमें जुक्त मुक्त घरहीमें, जो गुरु अलख लखावै ।
सहज सुन्नमें रहै समाना, सहज समाधि लगावै ।
उन्मुनि रहै ब्रह्मको चीन्है, परम तत्त्वको ध्यावै ।
सुरत-निरतसों मेला करके, अनहद नाद बजावै ।
घरमें बसत बस्तुभि घर है, घर ही वस्तु मिलावै ।
कहै कबीरा सुनो हो साधू, ज्योका त्यो ठहरावै ॥ (१-६५)

४१

सन्तो, सहज समाधि भली ।
साँई ते मिलन भयो जा दिनते, सुरत न अन्त चली ॥
आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ ।
खुले नैन मै हँस हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ ॥
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन, जो कछु करूँ सो पूजा ।
गिरह-उधान एकसम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा ॥
जहँ जहँ जाउँ सोई परिकरमा, जो कछु करूँ सो सेवा ।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, पूजूँ और न देवा ॥

शब्द निरन्तर मनुआ राता, मलिन बचनका त्यागी ।
ऊठत-बैठत कबहुँ न बिसरै, ऐसी तारी लागी ।
कहै कबीर यह उन्मुनि रहनी, सो परगट कर गाई ।
सुख-दुखके इक परे परम सुख, तेहिमे रहा समाई ॥ (१-७६)

४२

तीरथमे तो सब पानी है, होवे नहीं कछू अन्हाय देखा ।
प्रतिमा सकल तो जड़ हैं भाई, बोले नहीं बोलाय देखा ।
पुरान-कोरान सबै बात है, या घटका परदा ख़ोल देखा ।
अनुभवकी बात कबीर कहैं यह, सब है झूठी पोल देखा ॥(१-७९)

४३

पानी बिच मीन पियासी ।
मोंहिं सुन सुन आवै हाँसी ॥
घरमे वस्तु नजर नहिं आवत
बन बन फिरत उदासी ।
आतमज्ञान बिना जग झूँठा
क्या मथुरा क्या कासी ॥ ( १-८२ )

४४

गगन-मठ गैब निसान गड़े ।
चंद्रहार चँदवा जहँ टाँगे, मुक्ता-मानिक मढ़े ।
महिमा तासु देख मन थिरकर, रवि-ससि-जोत जरे ।
कहै कबीर पियै जोई जन, माता फिरत मरे ॥ ( १-९३ )

४५

साधो, को है कहँसे आयो ।
तेहिके मन धौं कहाँ बसत है, को धौं नाच नचायो ॥
पावक सर्व अंग काठहिमें, को धौं डहक जगायो ।
हो गया खाक तेज पुनि वाको, कहु धौं कहाँ समायो ॥
अहै अपार पार कछु नाहीं, सतगुरु जिन्हैं लखायो ॥
कहैं कबीर जेहि सूझ-बूझ जस, तेई तस आज सुनायो ॥ (१-९७)

४६

साधो, सहजै काया सोधो ।
जैसे बटका बीज ताहिमें पत्र-फूल-फल-छाया ।
काया-मद्धे बीज बिराजे, बीजा-मद्धे काया ।
अग्नि-पवन-पानी-पिरथी-नभ, ता-बिन मिलै नाहीं ।
काजी-पंडित करो निरनय को न आपा माहीं ।
जल-भर कुंभ जलै बिच धरिया, बाहर-भीतर सोई ।
उनको नाम कहनको नाहीं, दूजा धोखा होई ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सत्य-शब्द निज सारा ।
आपा-मद्धे आपे बोलै, आपे सिरजनहारा ॥ (१-९८)

४७

तरवर एक मूल बिन ठाढ़ा, बिन फूले फल लागे ।
साखा-पत्र कछू नहिं ताके, सकल कमल-दल गाजै ।
चढ़ तरवर दो पंछी बोले, एक गुरू एक चेला ।
चेला रहा सो रस चुन खाया, गुरू निरन्तर खेला ॥

पंछीके खोज अगम परगट, कहै कबीर बड़ी भारी।
सब ही मूरत बीच अमूरत, मूरतकी बलिहारी ॥ (१-१०२)

४८

चलत मनसा अचल कीन्ही, मन हुआ रंगी।
तत्त्वमें निःतत्त्व दरसा, संगमें संगी ॥
बंधते निर्बन्ध कीन्हा, तोड़ सब तंगी।
कहैं कबीर अगम गम कीया, प्रेम रंग रंगी ॥ (१-१०७)

४९

जो दीसै सो तो है नाहीं, है सो कहा न जाई।
बिन देखै परतीत न आवै, कहै न को पतियाना।
समझा होय तो शब्दै चीन्है, अचरज होय अयाना।
कोई ध्यावै निराकारको, कोई ध्यावै आकारा।
या विधि इन दोनोतें न्यारा, जानै जाननहारा।
वह राग तो लखा न जाई, मात्रा लगै न काना।
कहैं कबीर सो पढ़ै न परलय, सुरत-निरत जिन जाना ॥(१-१०५)

५०

मुरली बजत अखंड सदाये, तहाँ प्रेम झनकारा है।
प्रेम-हद्द तजी जब भाई, सत्त लोककी हद्द पुनि आई।
उठत सुगंध महा अधिकाई, जाको वार न पारा है।
कोटि भान रागको रूपा, बीन सत-धुन बजै अनूपा ॥ (१-१२६)

५१

सखियो, हमहुँ भई बलमासी ।

आयो जोबन विरह सतायो, अब मैं ज्ञान-गली अठिलाती ।

ज्ञान-गलीमे खबर मिल गये, हमे मिली पियाकी पाती ।

वा पातीमे अगम सँदेसा, अब हम मरनेको न डराती ।

कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, बर पाये अविनासी ।। (१-१२९)

५२

साईं बिन दरद करेजे होय ।

दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, कासे कहूँ दुख होय ।

आधी रतियाँ पिछले पहरवा, सांईं बिना तरस तरस रही सोय ।

कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, सांईं मिले सुख होय ।। (१-१३०)

५३

कौन मुरली-शब्द सुन आनन्द भयौ
जोत बरे बिन बाती ।

बिना मूलके कमल प्रगट भयौ
फुलवा फुलत भाँति भाँती ।

जैसे चकोर चंद्रमा चितवै
जैसे चातृक स्वाँती ।

तैसे सन्त सुरतके होके
हो गये जनम सँवाती ।। (१-१२२)

५४

सुनता नहीं धुनकी खबर, अनहदका बाजा बाजता ।
रस मंद मंदिर बाजता, बाहर सुने तो क्या हुआ ।
इक प्रेम-रस चाखा नहीं, अमली हुआ तो क्या हुआ ॥
काजी किताबे खोजता, करता नसीहत औरको
महरम नहीं उस हालसे, काजी हुआ तो क्या हुआ ॥
जोगी दिगंबर सेवड़ा, कपड़ा रंगे रंग लालसे ।
वाकिफ नहीं उस रंगसे, कपड़ा रंगेसे क्या हुआ ॥
मन्दिर-झरोखा-रावटी, गुल चमनमे रहते सदा ।
कहते कबीरा है, सही हर-दममे साहिब रम रहा ॥ (१-११२)

५५

भक्तिका मारग झीना रे ।
नहिं अचाह नहिं चाहना, चरनन लौ लीना रे ।
साधनके रस-धारमे, रहे निस-दिन भीना रे ।
रागमे स्रुत ऐसे बसे, जैसे जल मीना रे ।
साँई सेवनमे देत सिर, कुछ बिलम न कीना रे ।
कहै कबीर मत भक्तिका, परगट कर दीना रे । (१-७३)

५६

भाई, कोई सतगुरु सन्त कहावै ।
नैनन अलख लखावै ॥
प्राण पूज्य किरियाते न्यारा, सहज समाध सिखावै ।
द्वार न रूँधै पवन न रोके, नहिं भवखण्ड तजावै ।

यह मन जाय यहाँ लग जब ही परमातम दरसावै ।
करम करै निःकरम रहै जो, ऐसी जुगत लखावै ।
सदा-विलास त्रास नहिं तनमें, भोगमें जोग जगावै ।
धरती-पानी अकाश-पवनमें, अधर मँड़ैया छावै ।
सुन्न सिखरके सार सिलापर, आसन अचल जमावै ।
भीतर रहा सो बाहर देखै, दूजा दृष्टि न आवै । (१-६८)

५७

साधो, शब्द-साधना कीजै ।
जे ही शब्दते प्रगट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै ॥
शब्द गुरु शब्द सुन सिख भये, शब्द सो बिरला बूझै ।
सोइ शिष्य सोइ गुरु महातम, जेहि अन्तर-गति सूझै ॥
शब्दै वेद-पुरान कहत है, शब्दै सब ठहरावै ।
शब्दै सुर-मुनि-सन्त कहत है, शब्द-भेद नहिं पावै ॥
शब्दै सुन सुन भेष धरत हैं, शब्दै कहै अनुरागी ।
षट्-दर्शन सब शब्द कहत है, शब्द कहै बैरागी ॥
शब्दै काया जग उतपानी, शब्दै केरि पसारा ।
कहैं कबीर जहँ शब्द होत है, भवन भेद है न्यारा ॥ (१-६६)

५८

पीले प्याला हो मतवाला
प्याला नाम अमीरसका रे ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो
नख-सिख पूर रहा विषका रे । (१-६३)

५९

खसम न चीन्है बावरी, का करत बड़ाइ ।
बातन लगन न होयँगे, छोड़ौ चतुराई ।
साखी शब्द संदेस पढ़ि, मत भूलो भाई ।
सार-प्रेम कछु और है, खोजा सो पाई ॥ (१-५२)

६०

सुखसिंधकी सैरका स्वाद तब पाइ है,
चाहका चौतरा भूल जावै ।
बीजके मांहि ज्यो बीज-विस्तार यों
चाहके मांहि सब रोग आवै ॥ (१-५६)

६१

सुखसागरमे आयके मत जा रे प्यासा ।
अजहुँ समझ नर बावरे, जम करत निरासा ॥
निर्मल नीर भरे तेरे आगे, पी ले स्वाँसो स्वाँसा ।
मृगतृस्ना-जल छाँड़ बावरे, करो सुधारस-आसा ॥
ध्रू-प्रह्लाद-शुकदेव पिया, और पिया रैदासा ।
प्रेमहि संत सदा मतवाला, एक प्रेमकी आसा ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, मिट गई भयकी बासा । (१-४८)

६२

सतीको कौन सिखावता है,
सँग स्वामीके तन जारना जी ।

प्रेमको कौन सिखावता है,
त्यागमाँहि भोगका पावना जी। ( १-३५ )

६३

अरे मन धीरज काहे न धरै।
पसु-पंछी जिव कीट-पतंगा सबकी सुद्ध करै।
गर्भ-वासमें खबर लेतु है बाहर क्यों बिसरै।
मन तु हसनसे साहेबके भटकत काहे फिरै।
प्रीतम छाँड़ और को धारै, कारज इक न सरै॥ (१-२९)

६४

सांईसे लगन कठिन है भाई।
जैसे पपीहा प्यासा बूँदका, पिया पिया रट लाई।
प्यासे प्रान तड़फै दिन-राती, और नीर ना भाई।
जैसे मिरगा शब्द-सनेही, शब्द सुननको जाई।
शब्द सुनै और प्रानदान दे, तनिको नाहिं डराई।
जैसे सती चढी सत-ऊपर, पियाकी राह मन भाई।
पावक देख डरे वह नाहीं, हँसत बैठे सदा माई।
छोड़ो तन अपनेकी आसा, निर्भय है गुन गाई।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, नाहिं तो जनम नसाई॥
( १-११७ )

६५

जब मैं भूला रे भाई,
मेरे सतगुरु जुगत लखाई।

किरिया-करम-अचार मैं छाँड़ा, छाँड़ा तीरथका न्हाना।
सगरी दुनिया भई सयानी, मैं ही इक बौराना।
ना मैं जानूँ सेवा-बंदगी, ना मैं घंट बजाई।
ना मैं मूरत धरी सिंघासन, ना मैं पुहुप चढ़ाई।
ना हरि रीझै जपतप कीन्हे, ना कायाके जारे।
ना हरि रीझै धोती छॉड़े, ना पाँचोंके मारे।
दया राखि धरमको पाले, जगसों रहे उदासी।
अपना-सा जिव सबको जानै, ताहि मिलै अविनासी।
सहै कुशब्द बादको त्यागै, छाँड़ै गर्ब-गुमाना।
सत्त नाम ताहीको मिलिहै कहैं कबीर सुजाना॥ (१-२२)

६६

मन ना रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा।
आसन मारि मंदिरमे बैठे
ब्रह्म-छाड़ि पूजन लागे पथरा॥
कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौले,
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले
काम जराय जोगी होय गैले हिजरा॥
मथवा मुँड़ाय जोगी कपड़ा रंगौले,
गीता बाँचके होय गैले लबरा।
कहहिं कबीर सुनो भाई साधो,
जमं दरवजवा बाँधल जैबे पकड़ा॥ (१-२०)

६७

ना जाने साहब कैसा है !
मुल्ला होकर बांग जो देवै,
क्या तेरा साहब बहरा है ।
कीड़ीके पग नेवर बाजे,
सो भी साहब सुनता है ।
माला फेरी तिलक लगाया ।
लंबी जटा बढ़ाता है ।
अन्तर तेरे कुफर-कटारी,
यो नहिं साहब मिलता है । (१-९)

६८

हमसों रहा न जाय मुरलिया कै धुन सुनके ।
बिना बसन्त फूल इक फूलै भँवर सदा बोलाय ।
गगन गरजै बिजुली चमकै, उठती हिये हिलोर ।
बिगसत कँवल मेघ बरसाने चितवत प्रभुकी ओर ।
तारी लागी तहँा मन पहुँचा, गैब्र धुजा फहराय ।
कहै कबीर आज प्रान हमारा, जीवत ही मर जाय ॥ (२-१०२)

६९

जो खोदाय मसजीद बसतु है और मुलुक केहि केरा ।
तीरथ-मूरत राम-निवासी बाहर करे को हेरा ।
पूरब दिसा हरीकौ बासा पच्छिम अलह मुकामा ।
दिलमें खोज दिलहिमे खोजौ इहै करीमा-रामा ।

जेते औरत-मरद उपानी सो सब रूप तुम्हारा ।
कबीर पोंगडा अलह-रामका सो गुरु पीर हमारा । ( ३-२ )

७०

सील-सन्तोष सदा समदृष्टि, रहनि गहनिमें पूरा ।
ताके दरस-परस भय भाजै, होइ कलेस सब दूरा ॥
निसि-बासर चरचा चित-चंदन, आन कथा न सोहावै ।
करनी धरनी संगीत गावै, प्रेम रंग उड़ावै ॥
राग-सरूप अखंडित अविचल, निर्भय बे-परवाई ।
कहै कबीर ताहि पग परसो, घट घट सब सुखदाई ॥ (३-९)

७१

साध-संगत पीतम उहाँ चल जाइये ।
भाव-भक्ति-उपदेस तहाँते पाइये ॥
संगत हीं जरि जाव न चरचा नामकी ।
दूलह बिना बरात कहो किस कामकी ॥
दुबिधाको कर दूर पीतमको ध्याइये ।
आन देवकी सेव न चित्त लगाइये ॥
आन देवकी सेव भली नहिं जीवको ।
कहै कबीर विचार न पावै पीवको ॥(३-१३)

७२

तोर हीरा हिराइल बा किचड़ेमें ।
कोई ढूँढ़े पूरब कोई ढूँढ़े पच्छिम
कोई ढूँढ़े पानी-पथरेमें ।

दास कबीर ये हीराको परखै
बाँध लिहलै जीयराके अँचरेमें । ( ३-२६ )

७३

आयौ दिन गौनेकै हो, मन होत हुलास ।
डोलिया उठावे बीजा बनवाँ हो, जहँ कोई न हमार ॥
पइयाँ तोरी लागौ कहरवा हो, डोली धर छिन बार ।
मिल लेवै सखिया सहेलर हो, मिलौं कुल परिवार ॥
दास कबीर गाँवै निरगुन हो, साधो करि ले बिचार ।
नरम-गरम सौदा करि ले हो, आगे हाट ना बाजार ॥ (३-२६)

७४

अरे दिल,
प्रेमनगरका अन्त न पाया, ज्यों आया त्यों जावैगा ।
सुन मेरे साजन सुन मेरे मीता, या जीवनमें क्या क्या बीता ॥
सिर-पाहनको बोझा लीता, आगे कौन छुड़ावैगा ॥
परली पार मेरा मीता खड़िया, उस मिलनेका ध्यान न धरिया ।
टूटी नाव उपर जो बैठा, गाफिल गोता खावैगा ॥
दास कबीर कहै समुझाई, अन्तकाल तेरा कौन सहाई ।
चला अकेला संग न कोई, कीया अपना पावैगा ॥ ( ३-३० )

७५

वेद कहे सरगुनके आगे निरगुनका बिसराम ।
सरगुन-निरगुन तजहु सोहागिन, देख सबहि निज धाम ।
सुख-दुख वहाँ कछू नहिं व्यापै, दरसन आठों जाम ।

नूरै ओढ़न नूरै डासन, नूरैका सिरहान।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नूर तमाम। (३-५५)

७६

तू सूरत नैन निहार वह अंडमें सारा है।
तू हिरदे सोच बिचार यह देस हमारा है।
सतगुरु दरस होय जब भाई।
वह दें तुमको प्रेम चिताई,
सुरत-निरतके भेद बताई,
तब देखे अण्डके पारा है॥

सकल जगतमे सतकी नगरी,
चित्त भुलावै बांकी डगरी,
सो पहुँचे चाले बिन पग री,
ऐसा खेल अपारा है॥

लीला सुक्ख अनन्त वहाँकी
जहाँ रास-विलास अपारा है॥
गहन-तजन छूटै यह पाई
फिर नहिं पाना सताना है॥

पद निरबान है अनन्त अपारा
सुरति मूरति लोक पसारा।
सत्तपुरुष नूतन तन धारा
साहिब सकल रूप सारा है॥

बाग-बगीचे खिली फुलवारी
अंमृत-लहरैं हो रहीं जारी
हंसा केल करत तहँ भारी
जहँ अनहद घूरै अपारा है ॥

तामध अधर सिंहासन गाजे
पुरुष महा तँह अधिक बिराजै
कोटिन सूर रोम इक लाजै
ऐसा पुरुष दीदारा है ॥

पंथ बिना सतराग उचारैं
जो बेधत हिये मँझारा है।
जन्म जन्मका अंमृत धारा
जहँ अधर-अमृत फुहारा है ॥

सतसे सत्त सुन्न कहलाई,
सत्त भँडार याहीके माँहीं,
निःतत रचना ताहि रचाई
जो सबहिनतें न्यारा है ॥

अहद लोक वहाँ है भाई,
पुरुष अनामी अकह कहाई।
जो पहुँचे जानेंगे वाही
कहन सुननते न्यारा है ॥

रूप-सरूप कछू वहँ नाहीं,
ठौर-ठाँव कछु दीसै नाहीं।

अजर-तूल कछु दृष्टि न आई
कैसे कहूँ सुमारा है ॥
जापर किरपा करिहै साईं
अनहद मारग गावै ताही ।
उद्भव परलय पावत नाहीं
जब पावै दीदारा हो ॥
कहै कबीर मुख कहा न जाई
ना कागदपर अंक चढ़ाई ।
मानों गूँगे-सम गुड़ खाई
कैसे बचन उचारा हो ॥ ( ३-४८ )

७७

चल हंसा वा देस जहँ पिया बसै चितचोर ।
सुरत सोहागिन है पनिहारिन, भरै ठाढ़ बिन डोर ॥
वहि देसवाँ बादर ना उमड़ै, रिमझिम बरसै मेह ।
चौबारेमें बैठ रहो ना, जा भीजहु निर्देह ॥
वहि देसवामें नित्त पूर्निमा, कबहुँ न होय अँधेर ।
एक सुरजकै कवन बतावै, कोटिन सुरज उँजेर ॥ (३-६०)

७८

कहै कबीर सुनो हो साधो, अंमृत-बचन हमार ।
जो भल चाहो आपनो, परखो करो बिचार ॥
जे करतातैं ऊपजै, तासों परि गयो बीच ।
अपनी बुद्धि विवेक-बिन, सहज बिसाही मीच ॥

यहिमेंते सब मत चलै, यही चल्यौ उपदेस ।
निश्चय गहि निर्भय रहो, सुन परम तत्त संदेस ॥
केहि गावो केहि धावहू, छोड़ो सकल धमार ।
यह हिरदे सबको बसे, क्यों सेवो सुन्न-उजाड़ ॥
दूरहि करता थापिकै, करी दूरकी आस ।
जो करता दूरै हुते, तो को जग सिरजै आन ॥
जो जानो यहँ है नहीं, तो तुम धावो दूर ।
दूरसे दूर भ्रमि भ्रमि, निष्फल मरो बिसूर ॥
दुरलभ दरसन दूरके, नियर सदा सुख-बास ।
कहैं कबीर मोहि व्यापिया, मत दुख पावै दास ॥
आप अपनपौ चीन्हहू, नख-सिख सहित कबीर ।
आनंद-मंगल गावहू, होहि अपनपौ थीर ॥ (३-६३)

७९

ना मै धर्मी नाहिं अधर्मी, ना मैं जती न कामी हो ।
ना मैं कहता ना मै सुनता, ना मैं सेवक-स्वामी हो ।
ना मैं बंधा ना मैं मुक्ता ना मै बिरत न रंगी हो ।
ना काहूसे न्यारा हूआ, ना काहूके संगी हो ।
ना हम नरक-लोकको जाते, ना हम सुर्ग सिधारे हो ।
सब ही कर्म हमारा कीया, हम कर्मनतें न्यारे हो ।
या मतको कोइ बिरलै बूझै, सो अटर हो बैठे हो ।
मत कबीर काहूको थापै, मत काहूको मेटे हो ॥ (३-६६)

८०

सत्त नाम है सबतै न्यारा ।
निर्गुन-सर्गुन शब्द-पसारा ॥
निर्गुन बीज सर्गुन फल-फूला ।
साखा ज्ञान नाम है मूला ॥
मूल गहेते सब सुख पावै ।
डाल-पातमें मूल गँवावै ॥
साईं मिलानी सुख दिलानी ।
निर्गुन-सर्गुन भेद मिटानी ॥ (३-६९)

८१

प्रथम एक जो आपै आप । निराकार निर्गुन निर्जाप ॥
नहिं तव आदि-अन्त-मध-तारा । नहिं तव अंध-धुंध-उजियारा ॥
नहिं तव भूमि-पवन-आकासा । नहिं तव पावक-नीर-निवासा ॥
नहिं तव सरसुति-जमुना-गंगा । नहिं तव सागर-समुद-तरंगा ॥
नहिं तव पाप-पुन्न नहिं वेद-पुराना । नहिं तव भये कतेब-कुराना ॥
कहैं कबीर विचारिकै, तब कुछ किरपा नाहिं ।
परम पुरुष तहँ आपही, अगम-अगोचर माहिं ॥
करता कछु खावै नहिं पीवै । करता कबहूँ मरै न जीवै ॥
करताके कछु रूप न रेखा । करताके कछु बरन न भेखा ॥
जाके जात-गोत कछु नाहीं । महिमा बरनि न जाय मो-पाहीं ।
रूप-अरूप नहीं तेहि नाँव । बर्न-अबर्न नही तेहि ठाँव ॥ (३-७४)

८२

कहै कबीर विचारिकै, जाकै बर्न न गाँव ।
निराकार और निर्गुना, है पूरन सब ठाँव ॥
करता आनन्द खेल लाई । ओंकारते सृष्टि उपाई ॥
आनन्द धरती आनन्द आकास । आनन्द चंद-सूर परकास ॥
आनंद आदि-अंत-मध-तारा । आनंद अंधकूप उजियारा ॥
आनंद सागर-समुद्र-तरंगा । आनंद सरसुति जमुना-गंगा ॥
करता एक और सब खेल । मरन-जनम बिरह मेल ॥
खेल जल-थल-सकल जहाना । खेल जानौ जमी असमाना ॥
खेलका यह सकल पसारा । खेल माँहिं रहैं संसारा ॥
कहै कबीर सब खेलनमाहीं । खेलनहारको चीन्है नाहीं ॥
( ३-७६ )

८३

झी झी जंतर बाजै ।
कर चरन बिहूना नाचै ।
कर बिनु बाजै सुनै श्रवन बिनु
श्रवन श्रोता सोई ।
पाटन-सुबास सभा बिनु अवसर
बूझौ मुनि-जन सोई ॥ ( ३-८४ )

८४

मोह फकिरवा मागि जाय,
मैं तो देखहु नापौ ल्यौं ।

मंगनसे क्या मागिये,
बिन मागे जो देय ।
कहै कबीर मैं हौं वाही को,
होनी होय सो होय ॥

८५

नैहरसे जियरा फाट रे ।
नैहर नगरी जिसके बिगड़ी, उसका क्या घर-बाट रे ।
तनिक जियरवा मोर न लागै, तनमन बहुत उचाट रे ।
या नगरीमें लख दरवाजा, बीच समुंदर घाट रे ।
कैसेकै पार उतरिहै सजनी, अगम पंथका पाट रे ।
अजब तरहका बना तंबूरा, तार लगै मन मात रे ।
खूँटी टूटी तार बिलगाना, कोउ न पूछत बात रे ।
हँस हँस पूछै मातुपितासो, भोरे सासुर जाव रे ।
जो चाहैं सो वो ही करिहै, पत वाहीके हाथ रे ।
न्हाय-धोय दुल्हिन होय बैठी, जोहै पियकी बाट रे ।
तनिक घुंघटवा दिखाव सखीरी, आज सोहागकी रात रे ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, पिया-मिलनकी आस रे ।
भोर होत बंदे याद करोगे, नींद न आवे खाट रे । (३-९०)

८६

जीव महलमें सिव पहुनवाँ, कहाँ करत उनमाद रे ।
पहुंछा देवा करिलै सेवा, रैन चली आवत रे ।
जुगन जुगन करै पतीछन, साहबका दिल लाग रे ।

सूझत नाहिं परम-सुख-सागर, बिना प्रेम बैराग रे।
सरवन सुर बुझि साहेबसे, पूरन प्रगट भाग रे।
कहै कबीर सुनो भाग हमारा, पाया अचल सोहाग रे॥
(३-९६)

८७

गगनघटा घहरानी साधो, गगनघटा घहरानी।
पूरब दिससे उठी है बदरिया, रिमझिम बरसत पानी।
आपन आपन मेड़ सम्हारो, बह्यौ जात यह पानी।
सुरत-निरतका बेल नहायन, करै खेत निर्बानी।
धान काट मार घर आवै, सोई कुसल किसानी।
दोनों थार बराबर परसै, जेवैं मुनि और ज्ञानी॥ (१-७१)

८८

आज दिनके मै जाउँ बलिहारी।
पीतम साहेब आये मेरे पहुना, घर-आँगन लगे सुहौना॥
सब प्यास लगे मंगल गायन, भये मगन लखि छवि मनभावन॥
चरन पखारूँ बदन निहारूँ, तन-मन-धन सब साईंपै वारूँ॥
जा दिन पाये पिया धन सोई, होत अनंद परम सुख होई॥
सुरत लगी सत नामकी आसा, कहै कबीर दासनके दासा॥ (३-११८)

८९

कोई सुनता है ज्ञानी राग गगनमें, अवाज होती पीनी।
सब घट पूरन पूर रहा है, सब सूरनके खानी।
जो तन पाया खण्ड देखाया, तृस्ना नहीं बुझानी।

अंमृत छोड़ खंडरस चाखा, तृस्ना ताप तपानी ॥
ओ अंग सो अंग बाजा बाजे, सुरत-निरत समानी ।
कहैं कवीर सुनो भाई साधो, यही आदकी वानी ॥ (१-१००)

९०

मैं कासो कहो आपन पियकी बात री ।
कहै कबीर बिछुड़ नहिं मिलिहौ
ज्यो तरवर छोड़ बनधाम री ॥ ( १-१०८ )

९१

संसकिरत भाषा पढ़ि लीन्हा, ज्ञानी लोग कहो री ।
आसा-तृस्नामें बहि गयो सजनी, कामके ताप सहो री ॥
मान मनीकी मटुकी सिरपर, नाहक बोझ मरो री ।
मटुकी पटक मिलो पीतमसे, साहेब कबीर कहो री ॥ (३-१२)

९२

चरखा चलै सुरत विरहिनका ।
काया नगरी बनी अति सुंदर, महल बना चेतनका ।
सुरत भॉवरी होत गगनमे, पीढ़ा ज्ञान-रतनका ।
मिहीन सूत विरहिन कातैं, माँझा प्रेम-भगतिका ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, माला गूंथो दिन रैनका ।
पिया मोर ऐहैं पगा रखिहैं, ऑसु भेंट देहौं नैनका (३-११०)

९३

कोटिन भानु-चंद्र-तारा-गन, छत्रकी छॉह रहाई ।
मनमे मन नैननमें नैना, मन नैना इक हो जाई ।

यों मत जाने यहि रे फाग है, यह कुछ अकह-कहानी ।
कहै कबीर सुनो भई साधो, यह गत बिरले जानी ॥ (२-९८)

९९

नारद, प्यार सो अन्तर नाहीं ।
प्यार जागै तौही जागूँ प्यार सोवै तब सोऊँ ।
जो कोई मेरे प्यार दुखावै जड़ा-मूलसों खोऊँ ॥
जहाँ मेरा प्यार जस गावै तहाँ करौ मै बासा ।
प्यार चले आगे उठ धाऊँ मोहि प्यारकी आसा ॥
बेहद्द तीरथ प्यारके चरननि कोट भक्त समाय ।
कहै कबीर प्रेमकी महिमा प्यार देत बुझाय ॥ ( २-१११ )

१००

कोई प्रेमकी पेग झुलावै ।
भुजके खंड और प्रेमके रससे,
तन-मन आजु झुलाव रे ।
नैनन बादरकी झर लाओ,
श्याम घटा उर छाव रे ।
आवत आवत श्रुतकी राहपर,
फिकर पियाको सुनाव रे ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
पियाको ध्यान चित लाव रे ।

(२-१२२)

१०१

मै बुनि करि सिरांनां हो रांम, नालि करम नहीं ऊबरे।
दखिन कूंट जब सुनंहा भूँका, तब हम सुगन बिचारा
लरके परके सब जागत है, हम घरि चोर पसारा हो रांम ॥
तांनां लीन्हां बांनां लीन्हां, लीन्हे गोडके पऊवा।
इत-उत चितवत कठवन लीन्हां, मॉड चलवनां डऊवा हो रांम ॥
एक पग दोइ पग त्रेपग, संधे संधि मिलाई।
करि परपंच मोट बांधि आयो, किलि किलि सबै मिटाई हो रांम ॥
तांनां तनि करि बानां बुनि करि, छाक परी मोहि ध्यांन।
कहै कबीर मै बुनिकै सिरांनां, जानत है भगवांनां हो रांम ॥

१०२

को बीनै प्रेम लागौ री माई, को बीनैं।
राम-रसाइण माते री माई को बीनै ॥
पाई पाई तूँ पुतिहाई, पाईकी तुरियाँ बेंचि खाई
री माई को बीनैं।
ऐसै पाई पर बिथुराई त्यूँ रस आनि बनायौ
री माई को बीनै।
नाचै ताना नाचै बाना, नाचै कूँच पुरानां
री माई को बीनै।
करगाहि बैठि कबीरा नाचै चूहै काट्या तानां
री माई को बीनै।

१०३

अंमृत बरिसै हीरा निपजै,
घंटा पड़ै टकसाल।
कबीर जुलाहा भया पारषू
अनभै उतरया पार॥
कबीर हरि-रस यौ पिया,
बाकी रही न थाकि
पाका कलस कुंम्हारका,
बहुरि न चढ़ई चाकि॥

१०४

जोलहा बीनहु हो हरिनामा, जाके सुर-नर-मुनि धरें ध्याना।
ताना तिनको अहुँवा लीन्हौ, चरखी चारिहुँ बेदा॥
सर खूटी एक रामनरायन, पूरन प्रगटे कामा॥
भवसागर एक कठवत कीन्हौ, तामहँ माँड़ी साना॥
माँड़ीके तन माड़ि रहा है, माँड़ी बिरले जाना।
चाँद-सुरज दुई गोड़ा कीन्हौ, माँझ-दीप कियो माँझा।
त्रिभुवननाथ जो माँजन लागे, स्याम मुररिया दीन्हा॥
पाई करि जब भरना लीन्हौं, वै बाँधे क्यो रामा।
वै भरा तिहुँ लोकहिं बाँधै, कोइ न रहत डबाना॥
तीनि लोक एक करिगह कीन्हौ, दिगमन कीन्हो ताना।
आदि पुरुप बैठावन बैठे, कबिरा जोति समाना॥

१०५

जहिया किरतम ना हता, धरती हती न नीर
उतपाति परलय ना हता, तबकी कहै कबीर ॥

१०६

हौंतो सबहीकी कहो, मोको कोउ न जान ।
तबौ भला अब भी भला, जुग जुग होउँ न आन ॥ १ ॥
कलि खोटा, जग आँधरा, सब्द न. मानै कोय ।
जाहि कहौ हित आपुना, सो उठि बैरी होय ॥ २ ॥
मसि-कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हात ।
चारिउ जुगको महातम, मुखहिं जनाई बात ॥ ३ ॥
बोली हमरी पूर्वकी, हमै लखै नहिं कोय ।
हमको तो सोई लखै, धुर पूरबका होय ॥ ४ ॥

१०७

आसन-पवन कियैं दृढ़ रहु रे, मनका मैल छाँड़ि दे बौरे।
क्या सींगी-मुद्रा चमकाये, क्या विभूति सब अंग लगायें ।
सो हिंदू सो मुसलमान, जिसका दुरस रहै इमान ।
सो बाम्हन जो कथै ब्रह्मगियान, काजी सो जानै रहंमान ।
कहै कबीर कछु आन न कीजै, राम-नाम जपि लाहा लीजै ॥

१०८

अवधू मेरा मन मतिवारा ।
उन्मुनि चढ़ा गगन-रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा ।
गुड़ करि ज्ञान ध्यान करि महुवा, भव-भाठी करि भारा ।

सुषमन-नारी सहजि समांनीं, पीवै पीवनहारा ।
दोई पुड़ जोड़ि चिगाई, भाठी चुआ महारस भारी ।
कांम-क्रोध दुइ किया पलीता, छूटि गई संसारी ।
सुँनि-मंडलमे मँदला बाजै, तहँ मेरा मन नाचै ।
गुरुप्रसादि अंमृत-फल पाया सहजि सुषमनां काछै ।
पूरा मिल्या तबै सुख उपज्यौ तपकी तपनि बुझानी ।
कहै कबीर भव-बंधन छूटै, जोति हि जोति समानी ॥

## १०९

अवधू, भजन भेद है न्यारा ।
क्या गाये क्या लिखि बतलाये, क्या भर्मे संसारा ।
क्या संध्या-तर्पनके कीन्हे, जो नहिं तत्त बिचारा ।
मूँड़ मुड़ाये सिर जटा रखाये, क्या तन लाये छारा ।
क्या पूजा पाहनकी कीन्हे, क्या फल किये अहारा ।
बिन परिचे साहिब हो बैठे, विषय करै ब्यौपारा ।
ज्ञान-ध्यानका मर्म न जानै, बाद करै अहँकारा ।
अगम अथाह महा अति गहिरा, बीज न खेत निवारा ।
महा सो ध्यान मगन है बैठे, काट करमकी छारा ।
जिनके सदा अहार अंतरमे केवल तत्त बिचारा ।
कहै कबीर सुनो हो गोरख तारौ सहित परिवारा ।

## ११०

रस गगन गुफामे अजर झरै ।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ समुझि परै जब ध्यान धरै ।

बिना ताल जहँ कँवल फुलाने, तेहि चढ़ि हंसा केलि करै।
बिन चंदा उँजियारी दरसै, जहँ-तहँ हंसा नजर परै।
दसवे द्वारे तारी लागी, अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।
काल कराल निकट नहिं आवै, काम-क्रोध-मद-लोभ जरै।
जुगन जुगनकी तृषा बुझानी, कर्म-भर्म-अघ-व्याधि टरै।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, अमर होय कबहूँ न मरै।

१११

चुवत अमीरस भरत ताल जहँ, शब्द उठै असमानी हो।
सरिता उमड़ सिंधुको सोखै, नहिं कछु जात बखानी हो॥
चाँद-सुरज-तारागण नहिं वहँ, नहिं वहँ रैन बिहानी हो।
बाजे बजे सितार-बाँसुरी, ररंकार मृद बानी हो॥
कीट झिलमिली जँह वह झलकै, बिन जल बरसत पानी हो।
शिव-अज-बिस्नु-सुरेस-सारदा, निज निज मति अनुमानी हो॥
दस अवतार एक तत राजैं, असतुति सहज सयानी हो।
कहैं कबीर भेदकी बातै, बिरला कोइ पहिचानी हो॥
कर पहिचान फेर नहिं आवै, जम जुलमीकी खानी हो॥ २२॥

११२

अवधू, कुदरतिकी गति न्यारी।
रंक निवाज करै वह राजा, भूपति करै भिखारी॥
ये ते लवंगहिं फल नहिं लागे, चंदन फूल न फूलै।
मच्छ शिकारी रमै जंगलमे, सिंह समुद्रहि झूलै॥
रेड़ा रूख भया मलयागिर, चहुँ दिसि फूटी बासा।

तीन लोक ब्रह्मांड खंडमें देखै अंध तमासा ॥
पंगुल मेरु सुमेरु उलंघै त्रिभुवन मुक्ता डोलै।
गूँगा ज्ञान-विज्ञान प्रकासै अनहद बानी बोलै ॥
बाँधि अकास पताल पठावै सेस सरगपर राजै।
कहै कबीर राम हैं राजा जो कछु करैं सो छाजै ॥

११३

अगिनि जु लागी नीरमें, कंदू जलिया झारि।
उतर-दखिनके पंडिता, रहे बिचारि बिचारि ॥ १ ॥
गुरु दाझा चेला जला, बिरहा लागी आगि।
तिणका बपुरा ऊबरया, गलि पूरेकै लागि ॥ २ ॥
अहेड़ी दौ लाइया, मिरग पुकारे रोइ।
जा बनमे क्रीड़ा करी, दाझत है बन सोइ ॥ ३ ॥
पाणीं माहै परजली, भई अप्रबल आगि।
बहती सलिता रह गई, मच्छ रहे जल त्यागि ॥ ४ ॥
समँदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि, मच्छी रूखाँ चढ़ि गई ॥ ५ ॥

११४

कासो कहो को सुने को पतियाय, फूलवाके छुवत भँवर मरि जाय।
गगन-मँडल महँ फूल एक फूला, तरि भौ डार उपर भौ मूला।
जोतिये न बोइये सिंचिये न सोय, बिनु डार बिनु पात फूल एक होय।
फूल भल फूलल मालिनि भल गांथल, फुलवा बिनसि गैल भँवरा निरासल ॥
कहँहिं कबीर सुनहु संतो भई, पंडित-जन फूल रहत लुभाई।

## ११५

चंद-सूर दोइ खंभवा, वंक नालिकी डोरि ।
झूलैं पंच पियरियाँ तहँ झूलै तीय मोर ॥
द्वादस गमके अंतरा, तहँ अंमृतकौ ग्रास ।
जिनि यहु अंमृत चापिया, सो ठाकुर हम दास ॥
सहज सुंनिकौ नेहरौ, गगन-मँडल सिरिमौर ।
दोऊ कुल हम आगरी, जौ हंम झूलै हिंडौल ॥
अरध-ऊरधकी गंगाजमुना, मूल कँवलकौ घाट ।
षट चक्रकी गागरी, त्रिवेणी-संगम वाट ॥
नाद-व्यंदकी नाव री, रामनाम कनिहार ।
कहै कवीर गुंण गाइले, गुर गंमि उतरौ पार ॥

## ११६

उलटि जात-कुल दोऊ विसारी। सुन्न सहज महि बुनत हमारी।
हमरा झगरा रहा न कोऊ। पंडित-मुल्ला छाँड़े दोऊ।
बुनि बुनि आप आप पहिरावो। जहँ नहीं आप तहाँ है गावों।
पंडित-मुल्ला जो लिखि दीया। छाँड़ि चले हम कछू न लीया।
रिदै खलासु निरखि ले मीरा। आजु खोजि खोजि मिलै कवीरा ॥

## ११७

धरती-गगन-पवन नहिं होता, नहिं तोया नहिं तारा।
तब हरि हरिके जन होते, कहै कवीर विचारा ॥
जा दिन कृत्तम नां हुता, होता हट न पट ।
हुता कवीरा राम-जन, जिन देखे अवघट घट ॥

११८

बूझहु पंडित, करहु विचारी, पुरुष अहै की नारी ।
बाम्हनके घर बाम्हनि होती, योगीके घर चेली ।
कलमा पढ़ि पढ़ि भई तुरुकिनी, कलिमे रही अकेली ।
बर नहिं बरै ब्याह नहिं करई, पुत्र-जन्म-होनिहारी ।
कारे-मूंडे एक नहिं छाँड़ै अब हीं आदिकुँवारी ॥
रहै न मैके जाइ न ससुरे साईंके सँग सोवै ।
कह कबीर वह जुग जुग जीवै जाति-पाँति-कुल खोवै ॥

११९

अवधू, ऐसा ग्यान बिचारं ।
भेरे चढ़े सु अधधर डूबे, निराधार भये पारं ॥
अधर चले सो नगरि पहूँते, बाट चले ते लूटे ।
एक जेवड़ी सब लपटाँने, के बाँधे के छूटे । ॥
मंदिर पैसि चहूँ दिसि भींगे, बाहरि रहे ते सूषा ।
सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूषा ॥
बिन नैननके सब जग देखै, लोचन अछते अंधा ।
कहै कबीर कछु समझि परी है, यह जग देख्या धंधा ॥

१२०

रांम गुन वेलड़ी रे, अवधू गोरषनाथि जांणी ।
नाति सरूप न छाया जाकै, बिरध करै बिन पांणीं ॥

बेलड़िया हैं अणीं पहूँती, गगन पहूंती सैली।
सहज बेलि जब फूलण लागी, डाली कूपल मेल्ही॥
मन-कुंजर जाइ बाड़ीं बिलग्या, सतगुर वाही बेली।
पंच सखी मिलि पवन पयंप्या, बाड़ी पांणी मेल्ही॥
काटत बेली कूपले मेल्हीं, सींचताड़ीं कुमिलांणीं।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, सहज निरंतर जांणीं॥

१२१

सावज न होय भाई सावज न होइ,
वाकी मांसु भखै सब कोइ।
सावज एक सकल संसारा,. अविगत वाकी बाता।
पेट फारि जो देखिय रे भाई, आहि करेज न आँता।
ऐसी वाकी मॉसु रे भाई, पल पल माँसु बिकाई।
हाड़-गोड़ ले घूर पंवारै, आगि-धुआँ नहिं खाई।
सीर-सींग किछु वो नहिं वाके, पूँछ कहाँतै पावै।
सभ पंडित मिलि धंधे परिया, कबिरा बनौरी गावै॥

१२२

संतो यह अचरज भो भाई। कहौ तो को पतिआई॥
एकै पुरुख एक है नारी, ताकर करहु बिचारा।
एकै अंड सकल चौरासी, मार्ग भूल संसारा॥
एकै नारी जाल पसारा, जगमे भया अँदेसा।
खोजत काहू अंत न पाया, ब्रह्मा-बिस्नु-महेसा॥

नाग-फाँस लीन्हें घट भीतर, मूसि सकल जग खाई।
ज्ञान खड्ग बिन सब जग जूझै, पकरि काहु नहिं पाई॥
आपहि मूल फूल-फुलवारी, आपहि चुनि चुनि खाई।
कह कबीर तेई जन उबरे, जेहिं गुरु लिये जगाई॥

१२३

संतो, धागा टूटा गगन विनसि गया,
सब्द जु कहाँ समाई।
ए संसा मोहि निस-दिन ब्यापै,
कोइ न कहै समझाई॥
नहीं ब्रह्मंड प्यंड पुंनि नांहीं,
पंचतत्त भी नाहीं।
इला-प्यंगुला-सुषमन नांहीं,
ए गुण कहाँ समांहीं॥
नहीं ग्रिह-द्वार कछू नही तहियाँ,
रचनहार पुनि नांहीं।
जोवनहार अतीत सदा सँगि,
ये गुण तहाँ समाहीं॥
तूटै बँधै बँधै पुनि तूटै,
जब तब होइ बिनासा।
तबको ठाकुर अबको सेवग,
को काकै बिसवासा॥
कहै कबीर यहु गगन न बिनसै,
जौ धागा उनमांना।

सीखें-सुने-पढ़े का होई,

जौ नहिं पदहि समानां ॥

१२४

कर पल्लवके वल खेल नारि ।

पंडित जो होय सो ले विचारि ॥

कपरा नहिं पहिरै रह उघारि ।

निरजीवै सो धन अति पियारि ॥

उलटी-पलटी बाजै सो तार ।

काहुहि मारै काहुहि उबार ॥

कह कबीर दासनके दास ।

काहुहि सुख दे काहुहि उदास ॥

१२५

ए गुनवन्ती बेलरी, तव गुन बरनि न जाय ।
जहँ काटे तहँ हरियरी, सींचे ते कुम्हिलाय ॥ १ ॥
ए करुवाई बेलरी, है करुवा फल तोय ।
सिद्ध नाम जब पाइये, बेलि बिछोहा होय ॥ २ ॥

१२६

राम तेरी माया दुंद मचावै ।
गति-मति वाकी समझि परै नहिं, सुर-नर-मुनिहिं नचावै ॥
का सेमरके साखा वढ़ये, फूल अनूपम वानीं ।
केतिक चातक लागि रहे हैं, चाखत रुवा उड़ानी ॥
कहा खजूर बड़ाई तेरी, फल कोई नहीं पावै ।
ग्रीखम ऋतु अब आइ तुलानी, छाया काम न आवै ॥

अपना चतुर औरको सिखवै, कामिनि-कनक सयानी।
कहै कबीर सुनो हो सन्तो, राम-चरण रति मानी॥

१२७

ई माया रघुनाथकी बौरी, खेलन चली अहेरा हो।
चतुर चिकानिया चुनि चुनि मारे, काहु न राखे नेरा हो।
मौनी-बीर-दिगंबर मारे, ध्यान धरंते जोगी हो।
जंगलमें के जंगम मारे, माया किन्हहुँ न भोगी हो।
बेद पढ़ंतें बेदुआ मारे, पुजा करंते सामी हो।
अरथ विचारत पंडित मारे, बाँधिउ सकल लगामी हो।
सिंगी-रिषि बन-भीतर मारे, सिर ब्रह्माका फोरी हो।
नाथ मछंदर चले पीठि दै, सिंघलहूमें बोरी हो।
साकटके घर करता-धरता, हरि-भगतनकी चेरी हो।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जौ आवै तौ फेरी हो॥

१२८

अब हम जाना हो हरि बाजीको खेल।
डंक बजाय देखाय तमाशा, बहुरि सो लेत सकेल।
हरि बाजी सुर-नर-मुनि जहँडे, माया चेटक लाया।
घरमे डारि सबन भरमाया, हिरदय ज्ञान न आया॥
बाजी झूँठ बाजीगर साँचा, साधुनकी मति ऐसी।
कह कबीर जिन जैसी समझी, ताकी गति भइ तैसी॥

१२९

बागड़ देस लूवनका घर है, तहँ जिनि जाइ दाझनका डर है।
सब जग देखौ कोई न धीरा। परत धूरि सिर कहत अबीरा॥

न तहाँ सरवर न तहाँ पाणीं । न तहाँ सतगुरु साधू-वाणी ॥
न तहाँ कोकिल न तहाँ सूवा । ऊँचै चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा ॥
देस मालवा गहर गँभीर । डग डग रोटी पग पग नीर ॥
कहै कबीर धरती मन मांनां । गूंगेका गुड़ गूंगै का जांणा ॥

१३०

रहना नहिं देस बिराना है ।
यह संसार कागदकी पुड़िया, बूँद पड़े धुल जाना है ।
यह संसार काँटकी बाड़ी, उलझ-पुलझ मरि जाना है ।
यह संसार झाड़ औ झाँखर, आग लगे बरि जाना है ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है ।

१३१

(बुढ़िया) हँसि बोले मैं नितही बारि, मोसो कहु तरुनी कवनि नारि ।
दाँत गयल मोर पान खात, केस गयल मोर गंग न्हात ।
नयन गयल मोर कजरा देत, बयस गयल पर-पूरुष लेत ।
जान पुरुषवा मोर अहार, अनजानेका करो सिंगार ।
( कहहिं ) कबीर बुढ़िया आनँद गाय, पूत भतारहि बैठी खाय ।

१३२

सुवटा डरपत रहु मेरे भाई, तोहि डराई देत बिलाई ॥
तीनि बार रूंधै इक दिनमैं, कबहूँ का खता खवाई ॥
या मंजारी मुगध न मानै, सब दुनियाँ डहकाई ।
राणाँ-राव-रंककौ व्यापै, करि करि प्रीति सवाई ॥

कहत कबीर सुनहु रे सुवटा उबरै हरि सरनाई ।
लाषौ माँहिं तै लेत अचानक, काहू न देत दिखाई ॥

१३३

तुम्ह घरि जाहु हमारी बहना, विष लागैं तिहारें नैना ॥
अंजन छांड़ि निरंजन राते, ना किसहींका दैनां ।
बलि जाउँ ताकी जिनि तुम्ह पठई, एक भाई एक बहनाँ ॥
राती खाँडी देखि कबीरा, देखि हमारा सिंगारो ।
सरग-लोकथैं हम चलि आई, करन कबीर भरतारो ॥
सर्गलोकंम क्या दुख पड़िया, तुम्ह आई कलि माँहीं ।
जाति जुलाहा नाम कबीरा, अजहुँ पतीजौ नाहीं ॥
तहाँ जाहु जहाँ पाट-पटंबर, अगर-चंदन घसि लीनां ।
आइ हमारे कहा करौगी, हम तौ जाति कमीनां ॥
जिनि हम साजे साज्य निवाजे, बाँधे काचै धागै ।
जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा पाणी आगि न लागै ॥
साहिब मेरा लेखा माँगै, लेखा क्यूं करि दीजै ।
जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा तो पाहण नीर न भीजै ॥
जाकी मै मछी सो मेरा मछा सो मेरा रखवालू ।
टुक एक तुम्हारे हाथ लगाऊँ तौ राजाराम रिसालू ॥
जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरौ उपासी ।
आसि-पासि तुम्ह फिरि फिरि बैसौ एक माउ एक मासी ॥

१३४

माया महाठगनी हम जानी ।
तिरगुन फाँसि लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी ।

केसवके कमला होइ बैठी, सिवके भवन भवानी।
पंडाके मूरत होई बैठी, तीरथहूमे पानी।
जोगीके जोगिन होइ बैठी, राजाके घर रानी।
काहूके हीरा होइ बैठी, काहूके कौड़ी कानी।
भक्तनके भक्तिन होय बैठी, ब्रह्माके ब्रह्मानी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी॥

१३५

अब मोहि ले चलु ननदके बीर अपने देसा।
इन पंचन मिलि लूटी हूँ, सुसंग आहि बिदेसा।
गंगतीर मोरी खेती-बारी, जमुनतीर खरिहाना।
सातो बिरही मेरे नीपजै, पांचूं मोर किसाना।
कहै कबीर यह अकथकथा है, कहता कही न जाई।
सहज भाइ जिहि ऊपजै, ते रमि रहै समाई॥

१३६

लावौ बाबा आगि जलावो घरा रे।
ता कारनि मन धंधै परा रे।
इक डाइनि मेरे मनमें बसे रे,
नित उठि मेरे जियको डँसे रे।
ता डाइनिके लरिका पाँच रे।
निसि-दिन मोहि नचावै नाच रे।
कहै कबीर हूँ ताकौ दास,
डाइनिके सँग रहै उदास॥

१३७

बहुरि नहिं आवना या देस ।
जो जो गये बहुरि नहिं आये, पठवत नाहिं सँदेस ।
सुर-नर-मुनि औ पीर औलिया, देवी-देव-गनेस ।
धरि धरि जनम सबै भरमे हैं, ब्रह्मा-बिस्नु-महेस ।
जोगी जंगम औ संन्यासी, डीगम्बर दरबेस ।
चुंडित-मुंडित-पंडित लोई, सुर्ग रसातल सेस ।
ज्ञानी गुनी चतुर औ कबिना, राजा-रंक-नरेस ।
कोइ रहीम कोइ राम बखानै, कोई कहै आदेस ।
नाना भेष बनाय सबै मिलि, ढूंढि फिरे चहुँ देस ।
कहै कबीर अंत ना पैहौ, बिन सतगुरु उपदेस ।

१३८

कहूँ रे जे कहिबेकी होइ ।
नां को जानै नां को मांनै, ताथै अचिरज मोहि ॥
अपने अपने रंगके राजा, मांनत नाहीं कोइ ॥
अति अभिमान लोभके घाले, चले अपनपौ खोइ ॥
मैं मेरी करि यहु तन खोयौ, समझत नही गँवार ॥
भौजालि अधफर थाकि रहे है, बूड़े बहुत अपार ॥
मोहि आग्या दई दयाल दयाकरि, काहूकूं समझाइ ॥
कहै कबीर मैं कहि कहि हार्‍यौं, अब मोहि दोस न लाइ ॥

१३९

भारी कहौ तो बहु डरौं, हलका कहौ तो झूंठा ।
मैं का जांणो रामकूँ, नैनूं कबहूँ न दीठा ॥ १ ॥

ऐसा अद्भुत जिनि कथै, अद्भुत राखि लुकाइ।
बेद कुरानौं गमि नहीं, कह्यां न को पतिआइ॥ २॥
करताकी गति अगम है, तूं चल अपणैं उनमान।
धीरैं धीरैं पांव दे, पहुंचैंगे परवान॥ ३॥

१४०

ऐसा भेद बिगूचन भारी॥
वेद-कतेब दीन अरु दुनियां, कौन पुरिष कौन नारी॥
एक बूँद एकै मल-मूतर, एक चाम एक गूदा॥
एक जोतिथैं सब उतपन्ना, को ब्राम्हन को सूद्रा॥
माटीका प्यंड सहजि उतपनां, नाद रु ब्यंद समांनां॥
बिनसि गयां थैं का नांव धरिहौ, पढि गुनि हरि जांनां॥
रज-गुन ब्रह्मा तम-गुन संकर, सत-गुन हरि है सोई॥
कहै कबीर एक राम जपहु रे, हिंदू तुरक न कोई॥

१४१

खालिक हरि कहीं दर हाल।
पंजर जसि करद दुसमन, मुरद करि पैमाल।
भिस्त हुसकां दोजगां, दुंदर दराज दिवाल।
पहनांम परदा ईत आतस, जहर जंगम जाल।
हम रफत रहबरहु समाँ, मैं खुर्दा सुमाँ बिसियार।
हम जिमीं असमांन खालिक, गुंद मुसिकल कार।
असमान म्यांनैं लहंग दरिया, तहाँ गुसल करदा बूद।
करि फिकर रह सालक जसम, जहाँ स तहाँ मौजूद।

हंम चु बूंदनि बूँद खालिक, गरक हम तुम पेस।
कबीर पनह खुदाइकी, रह दिगर दावानेस।

१४२

मै कासे बूझौं अपने पियाकी बात री।
जान सुजान प्रान-प्रिय पिय बिन, सबै बटाऊ जात री।
आसा नदी अगाध कुमति बहै, रोकि काहू पै न जात री।
काम-क्रोध दोउ भये करारे, पड़े बिषय-रस मात री।
ये पाँचो अपमान के संगी, सुमिरन को अलसात री।
कहै कबीर बिछुरि नहिं मिलिहौ, ज्यौ सरवर बिन पात री।

१४३

या करीम बलि हिकमति तेरी,
खाक एक सूरति बहुतेरी॥
अर्ध गगन मै नीर जमाया,
बहुत भाँति करि नूरनि पाया॥
अवलिय-आदम-पीर-मुलाना
तेरी सिफति करि भये दिवाना॥
कहै कबीर यहु हेतु बिचारा
या रब या रब यार हमारा॥

१४४

(जाके) वारह-मास वसंत होये, (ताके) परमारथ बूझै बिरला कोय।
बरिसै अगिनि अखंड धार, हरिपर भौ बन (अ) ठारह भार।
पनिया आदर धरनि लोय, पवन गहै कस मलिन धोय।

बिनु तरिवर फूलै आकास, सिव-बिरंचि तहँ लेहिं बास।
सनकादिक भूले भँवर बोय, लख-चौरासी जोइनि जोय।
जो तोहि सतगुरु सत्त लखाव, ताते न छूटे चरन भाव।
अमर लोक फल लावै चाव, कहँहिं कबीर बूझै सो पाव।

## १४५

डाँड़िया फँदाय धन चलु रे, मिलि लेहु सहेली।
दिनॉं चारिको संग है, फिर अंत अकेली।
दिन दस नैहर खेलि ले, सासुर निज भरना।
बहियाँ पकरि पिय ले चले, तब उजर न करना।
इक अँधियारी कोठरी, दूजे दिया न बाती।
लेहिं उतारि ताही घरॉं, जहँ संगि न साथी।
इक अँधियारी कुइयाँ, दूजे लेजुर टूटी।
नैन हमारे अस ढुरें, मानो गागर फूटी।
दास कबीरा यों कहै, जग नाहिन रहना।
संगी हमरे चलि गये, हमहूँको चलना।

## १४६

अमरपुर ले चलु हो सजना।
अमरपुरीकी सँकरी गलियाँ, अड़बड़ है चढ़ना।
ठोकर लगी गुरु ज्ञान शब्दकी, उघर गये झपना।
वोहि रे अमरपुर लागि बजरिया, सौदा है करना।
वोहि रे अमरपुर संत बसतु हैं, दरसन है लहना।

संत-समाज सभा जहँ बैठी, वहीं पुरुष अपना ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, भवसागर है तरना ।

१४७

बाबा अगम-अगोचर कैसा, तातें कहि समझाओ ऐसा ।
जो दीसै सो तो है नाहीं, है सो कहा न जाई ।
सैना-बैना कहि समझाओ, गूंगेका गुड़ भाई ।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै, बिनसै नाहिं नियारा ।
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे, पंडित करौ बिचारा ।

१४८

रेख-रूप जेहि है नहीं, अधर धरो नहिं देह ।
गगन-मँडलके मध्यमें, रहता पुरुष विदेह ॥ १ ॥
साँई मेरा एक तू, और न दूजा कोइ ।
जो साहब दूजा कहै, दूजा कुलको होय ॥ २ ॥
सर्गुणकी सेवा करौ, निर्गुणका करु ज्ञान ।
निर्गुण सर्गुणके परे, तहैं हमारा ध्यान ॥ ३ ॥

१४९

साई मोर वसत अगम पुरवा जहँ गमन हमार ।
आठ कुँआ नव बावड़ी सोरह है पनिहार ।
महल घयलवा ढरकि गयल रे धन ठाढ़ी मनमार ।
छोट मोट डँड़िया चंदनकै हो, छोट चार कहार ।
जाय उतरिहै वाही देसवाँ हो, जहाँ कोइ ना हमार ।

ऊँची महलिया साहेबकै हो, लगी बिखमी बजार ।
पाप-पुन्न दोउ बनिया हो, हीरालाल अपार ।
कह कबीर सुन साइयाँ मोर याँहिय देस ।
जो गये सो बहुरे ना को कहत संदेस ॥

१५०

पाँड़े बूझि पियहु तुम पानी ।
जिहि मिटियाके घरमँह बैठे, तामँह सिस्टि समानी ।
छपन कोटि जादव जहँ भींजे, मुनिजन सहस अठासी ।
पैग पैग पैगंबर गाड़े, सो सब सरि भौ माँटी ।
तेहि मिटियाके भाँड़े पाँड़े, बूझि पियहु तुम पानी ॥
मच्छ-कच्छ-घरियार बियाने, रुधिर-नीर जल भरिया ।
नदिया नीर नरक बहि आवै, पसु-मानुस सब सरिया ॥
हाड़ झरी झरि गूद गरी गरि, दूध कहाँते आया ।
सोलै पाँड़े जेवन बैठे, मटियहिं छूति लगाया ॥
बेद-कितेब छाँड़ि देउ पाँड़े, ई सब मनके भरमा ।
कहहिं कबीर सुनहु हो पाँड़े, ई तुम्हरे है करमा ॥

१५१

साधो, पाँड़े निपुन कसाई ।
बकरी मारि भेड़िको धाये, दिलमे दरद न आई ।
करि अस्नान तिलक दै बैठे, बिधिसो देवि पुजाई ।
आतम मारि पलकमे बिनसे, रुधिरकी नदी बहाई ।
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये, सभा माहिं अधिकाई ।

इनसे दिच्छा सब कोई माँगे, हँसि आवै मोहिं भाई।
पाप-कटनको कथा सुनावै, करम करावै नीचा।
बूड़त दोऊ परस्पर दीखे, गहे बाँहि जम खींचा।
गाय बधै सो तुरुक कहावै, यह क्या इनसे छोटे।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, कलिमे बाम्हन खोटे॥

१५२

जो पै बीजरूप भगवाना,
तौ पंडितका कथिसि गियाना॥
नहिं तन नहिं मन नहिं अहँकारा
नहिं सत-रज-तम तीनि प्रकारा॥
विष-अमृत-फल फले अनेक,
बेद रु बोधक है तरू एक॥
कहै कबीर इहै मन माना,
कहिधूँ छूट कवन उरझाना॥

१५३

पंडित बाद बदन्ते झूठा।
राम कह्यां दुनियां गति पावै,
खाँड कह्या मुख मीठा॥
पावक कह्याँ पाव जे दाझै,
जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्यॉ भूख जे भाजै,
तो सब कोइ तिरि जाई॥

नरकै साथि सूवा हरि बोलै,
हरि परताप न जावै।
जो कबहूँ उड़ि जाइ जँगलमे,
बहुरि न सुरतै आवै॥
साँची प्रीति विषै मायासूँ,
हरि भगतनि-सूँ दासी।
कहै कबीर प्रेम नहिं उपज्यौ,
बांध्यौ जमपुरि जासी॥

१५४

पाँडे न करसी बाद-बिबादं।
या देही बिन सब्द न स्वादं॥
अण्डं ब्रह्मंड खंड भी माटी,
माटी नवनिधि काया।
माटी खोजन सतगुर भेटया,
तिन कछु अलख लखाया।
जीवत माटी मूवा भी माटी
देखौ ग्यॉन विचारी।
अति कालि माटीमै वासा
लेटै पाँव पसारी॥
माटीका चित्र पवनका थंभा
ब्यंद संजोगि उपाया।
भाँनै घडै संवारै सोई,
यहु गोब्यंदकी माया।

माटीका मंदिर ग्यानका दीपक
पवन बाति उजियारा ॥
तिहि उजियारै सब जग सूझै,
कबीर ग्याँन बिचारा ॥

१५५

तुम बूझहु पंढित कौन नारि।
कोइ नाहिं बिआइल रह कुमारि ॥
येहि सब देवन मिलि हरिहिं दीन्ह।
तेहि चारहुँ युग हरि संग लीन्ह ॥
यह प्रमथहिं पद्मिनि रूप पाय।
है साँपिनि सब जग खेदि खाय ॥
या बर युवती वे बार नाह।
अति तेज तिया है रैनि ताह ॥
कह कबीर सब जग पियारि।
यह अपने बलकवै रहै मारि ॥

१५६

चलन चलन सबको कहत है, नाँ जानौ
बैकुँठ कहाँ है।
जोजन एक प्रमिति नहि जानै, बातनि हीं
बैकुंठ बखानै ॥
जब लग है बैकुँठकी आसा, तब लग नहिं।
हरि-चरन-निवासा ॥

कहे-सुने कैसे पतिअइये, जब लग तहाँ
आप नाहिं जइये ॥
कहै कबीर यहु कहिये काहि, साध
संगति वैकुंठहिं आहि ॥

१५७

कर पकरै अंगुरी गिनै, मन धावै चहुँ ओर ।
जाहि फिरायाँ वो मिलै, सो भया काठकी ठौर ॥ १ ॥
केसों कहा बिगाड़िया, जो मूंड़ै सौ बार ।
मनकौ काहे न मूँड़िए, जामै बिषै-बिकार ॥ २ ॥
बैस्नौ भया तो क्या भया, बूझा नहीं बिबेक ।
छापा-तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक ॥

१५८

क्या है तेरे न्हाई-धोई, आतमराम न चीन्हा सोई ।
क्या घट ऊपरि मंजन कीयैं, भीतरि मैल अपारा ।
राम-नाम बिन नरक न छूटै, जो धोवै सौ बारा ।
का नट भेखै भगवा बस्तर, भसम लगावै लोई ।
ज्यूँ दादुर सुरसरि-जल भीतरि, हरि बिन मुकति न होई ॥
परिहरि काम राम कहि बौरे, सुनि सिख बंधू मोरी ।
हरिकौ नाँव अभै पद दाता, कहै कबीरा कोरी ॥

१५९

मन बनियाँ बनिज न छोड़ै ।
जनम जनमका मारा बनियाँ, अजहूँ पूर न तौले ।

पासँग कै अधिकारी लैले, भूला भूला डोलै।
घरमें दुविधा कुमति बनी है, पल पलमें चित तोरै।
कुनबा वाके सकल हरामी, अमृतमे विष घोलै
तुमहीं जलमे तुमहीं थलमे, तुमहीं घट घट बोलै।
कहै कबीर वा सिपको डरिये, हिरदे गाँठि न खोलै॥

१६०

लोका मतिके भोरा रे।
जो कासी तन तजै कबीरा,
तौ रामहिं कहा निहोरा रे।
तब हम वैसे अब हम ऐसे,
इहै जनमका लाहा रे॥
राम-भगति-परि जाकौ हित चित
ताकौ अचिरज काहा रे।
गुर-प्रसाद साधकी संगति,
जग जीते जाइ जुलाहा रे।
कहै कबीर सुनहु रे सन्तो,
भ्रमि परै जिनि कोई रे।
जस कासी तस मगहर ऊसर
हिरदै राम सति होई रे।

१६१

पूजा-सेवा-नेम-व्रत, गुड़ियनका-सा खेल
जब लग पिउ परसै नहीं, तब लग संसय मेल॥

१६२

जाति न पूछो साधकी, पूछि लीजिये ज्ञान ।
मोल करो तरवारका, पड़ा रहन दो म्यान ॥
हस्ती चढ़िए ज्ञानकौ, सहज दुलीचा डारि ।
स्वान-रूप संसार है, भूँकन दे झक मारि ॥

१६३

मेरा-तेरा मनुआँ कैसे इक होई रे ।
मै कहता हौ ऑखिन देखी, तू कहता कागदकी लेखी ।
मै कहता सुरझावन हारी, तू राख्यौ उरझाई रे ।
मै कहता तू जागत रहियो, तू रहता है सोई रे ।
मै कहता निर्मोही रहियो, तू जाता है मोहि रे ।
जुगन जुगन समुझावत हारा, कही न मानत कोई रे ।
तू तो रंडी फिरै बिहंडी, सब धन डारे खोई रे ।
सतगुरु धारा निर्मल बाहै, वामै काया धोई रे ।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो, तब ही वैसा होई रे ॥

१६४

दुलहिन ऑगिया काहे न धोवाई ।
बालपनेकी मैली ऑगिया बिषय-दाग परि जाई ।
बिन धोये पिय रीझत नाही, सेजसे देत गिराई ।
सुमिरन ध्यानकै साबुन करि ले सत्तनाम दरियाई ।
दुबिधाके भेद खोल बहुरिया मनकै मैल धोवाई ।
चेत करो तीनों पन बीते, अब तो गवन नगिचाई ।

पालनहार द्वार है ठाढ़े अब काहे पछिताई ।
कहत कबीर सुनो री बहुरिया चित अंजन दे आई ॥

१६५

मोरी चुनरीमें परि गयो दाग पिया ।
पाँच तत्तकी बनी चुनरिया सोरहसै बँद लागे जिया ।
यह चुनरी मोरे मैकेते आई ससुरेमे मनुवाँ खोय दिया ।
मलि मलि धोई दाग न छूटे ज्ञानको साबुन लाय पिया ।
कहै कबीर दाग कब छुटिहै जब साहब अपनाय लिया ।

१६६

तेरा जन एक आध है कोई ।
काम क्रोध अरु लोभ बिवर्जित, हरिपद चीन्है सोई ॥
राजस-तामस-सातिग तीन्यूँ, ये सब तेरी माया ।
चौथै पदकौ जे जन चीन्हें, तिनहि परम पद पाया ॥
असतुति-निंदा-आसा छाँडै, तजै मान-अभिमांन ।
लोहा-कंचन समि करि देखै, ते मूरति भगवाना ॥
च्यंतै तो माधौ च्यंतामणि हरिपद रमै उदासा ।
त्रिसनां अरु अभिमान रहित है कहै कबीर सो दासा ॥

१६७

अबुझा लोग कहाँलौ बूझै बूझनहार बिचारो ॥
केते रामचंद्र तपसीसे जिन जग यह भरमाया ।
केते कान्ह भये मुरलीधर तिन भी अन्त न पाया ॥

मच्छ-कच्छ-बाराह स्वरूपी वामन नाम धराया ।
केते बौध भये निकलंकी तिन भी अन्त न पाया ॥
केतिक सिध-साधक-संन्यासी जिन बन बास बसाया ।
केते मुनिजन गोरख कहिये तिन भी अन्त न पाया ॥
जाकी गति ब्रह्मै नहि पाये सिव-सनकादिक हारे ।
तोके गुन नर कैसे पैहो कहै कबीर पुकारे ॥

१६८

साधो, देखो जग बौराना ।
साँची कहौ तौ मारन धावै झूंठे जग पतियाना ।
हिन्दू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना ।
आपसमे दोउ लड़े मरतु है मरम कोइ नहिं जाना ।
बहुत मिले मोहिं नेमी-धर्मी प्रात करै असनाना ।
आतम-छोड़ि पषानै पूजै तिनका थोथा ज्ञाना ।
आसन मारि डिंभ धरि बैठे मनमे बहुत गुमाना ।
पीतर-पाथर पूजन लागे तीरथ-बर्न भुलाना ।
माला पहिरे टोपी पहिरे छाप-तिलक अनुमाना ।
साखी सब्दै गावत भूले आतम खबर न जाना ।
घर घर मंत्र जो देन फिरत है मायाके अभिमाना ।
गुरुवा सहित सिष्य सब बूड़े अंतकाल पछिताना ।
बहुतक देखे पीर-औलिया पढ़ै किताब-कुराना ।
करै मुरीद कबर बतलावै उनहूँ खुदा न जाना ।
हिन्दुकी दया मेहर तुरकनकी दोनो घरसे भागी ।
वह करै जिबह वाँ झटका मारे आग दोऊ घर लागी ।

या बिधि हँसत चलत हैं हमको आप कहावै स्याना ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, इनमे कौन दिवाना ॥

१६९

मीयाँ तुम्हसौ बोल्याँ बणि नहीं आवै ।
हम मसकीन खुदाई बन्दे तुम्हरा जस मनि भावै ॥
अलह अवलि दीनका साहिब, जोर नहीं फुरमाया ।
मुरिसद-पीर तुम्हारै है को, कहौ कहाँथै आया ॥
रोजा करै निवाज गुजारै कलमै भिसत न होई ।
सतरि काबे इक दिल भीतरि जे करि जानै कोई ॥
खसम पिछाँनि तरस करि जियमै, माल मनीं करि फीकी ।
आया जाँनि साँईकूं जॉनै, तब है भिस्त सरीकी ॥
माटी एक भेप धरि नॉनाँ सबमे ब्रह्म समानाँ ।
कहै कबीर भिस्त छिटकाई दोजग ही मनमानाँ ॥

१७०

वै क्यूं कासी तजै मुरारी । तेरी सेवा चोर भये बनवारी ॥
जोगी-जती-तपी संन्यासी । मठ-देवल बसि परसै कासी ॥
तीन वार जे नित प्रति न्हावै । काया भीतरि खबरि न पावै ॥
देवल देवल फेरी देहीं । नांव निरंजन कबहुँ न लेही ॥
चरन-विरद-कासी कौ न देहूं । कहै कबीर भल नरकहिं जैहूं ॥

१७१

वहुविध चित्र वनायकै, हरि रच्यौ क्रीड़ा-रास ।
जेहि न इच्छा झुलिवेकी, ऐसी बुधि केहि पास ॥

झुलत झुलत बहु कलप बीते, मन न छोड़े आस ।
राचि हिंडोला अहो-निसि हो चारि जुग चौमास ॥
कबहुँ ऊँचसे नीच कबहूँ, सरग-भूमि ले जाय ।
अति भ्रमत भरम हिंडोलवा हो, नेकु नहिं ठहराय ॥
डरत हा यह झूलबेको, राखु जादवराय ।
कहै कबीर गोपाल बिनती, सरन हरि तुअ पास ॥

१७२

चली मै खोजमे पियकी । मिटी नही सोच यह जियकी ॥
रहे नित पास ही मेरे । न पाऊँ यारको हेरे ॥
विकल चहुँ ओरको धाऊँ । तबहुँ नहिं कंतको पाऊँ ॥
धरो केहि भाँतिसो धीरा । गयौ गिर हाथसे हीरा ॥
कही जब नैनकी झांई । लख्यौ तब गगनमे साई ॥
कबीरा शब्द कहि त्रासा । नयनमे यारको बासा ॥

१७३

तलफै बिन बालम मोर जिया ।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया,
तलफ तलफके भोर किया ॥
तन-मन मोर रहंट-अस डोलै,
सून सेजपर जनम छिया ।
नैन थकित भये पंथ न सूझै,
साँई बेदरदी सुध न लिया ॥

कहत कबीर सुनो भाई साधो,
, हरो पीर दुख जोर किया ॥

१७४

अबिनासी दुल्हा कब मिलिहौ, भक्तनके रछपाल।
जल उपजी जल ही सों नेहा, रटत पियास पियास।
मै ठाढी बिरहन मग जोऊँ, प्रियतम तुमरी आस।
छोड़े गेह नेह लगि तुम-सो, भई चरन लवलीन।
ताला बेलि होत घर भीतर, जैसे जल बिन मीन।
दिवस न भूख रैन नहिं निद्रा, घर अंगना न सुहाय।
सेजरिया बैरिन भइ हमको, जागत रैन बिहाय।
हम तो तुमरी दासी सजना, तुम हमरे भरतार।
दीन-दयाल दया करि आओ, समरथ सिरजनहार।
कै हम प्रान तजत दै प्यारे, कै अपनी कर लेव।
दास कबीर बिरहा अति बाढ़ेव, हमको दरसन देव।

१७५

नैना अंतरि आव तूँ, ज्यूं हौ नैन झँपेउँ।
ना हौ देखौं औरकूँ, ना तुझ देखन देउँ ॥ १ ॥
कबीर रेख सिंदूरकी, काजल दिया न जाइ।
नैनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ ॥ २ ॥
मन परतीति न प्रेम-रस, नां इस तनमे ढंग।
क्या जाणौ उस पीवसूँ, कैसै रहसी रंग ॥ ३ ॥

१७६

नैनोकी करि कोठरी, पुतरी पलँग बिछाय ।
पलकोकी चिक डारिकै, पियाको लिया रिझाय ॥ १ ॥
प्रीतमको पतिया लिखूँ, जो कहुँ होय विदेस ।
तनमे मनमे नैनमे, ताकौ कहा सँदेस ॥ २ ॥

१७७

अँखियाँ तो झाई परी, पंथ निहारि निहारि ।
जीहड़ियॉ छाला पड़या, नाम पुकारि पुकारि ॥ १ ॥
बिरह कमंडल कर लिये, बैरागी दो नैन ।
माँगै दरस मधूकरी, छके रहै दिन-रैन ॥ २ ॥
सब रंग ताँत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुनि सकै, कै साई कै चित्त ॥ ३ ॥

१७८

पछा पछीके कारनै, सब जग रहा भुलान ।
निरपछ ह्वैकै हरि भजै, सोई सन्त सुजान ॥ १ ॥
अमृत केरी मोटरी, सिरसे धरी उतार ।
जाहिं कहौ मै एक है, मोहि कहै दो-चार ॥ २ ॥

१७९

दुलहिनि तोहि पियके घर जाना ।
काहे रोवो काहे गावो काहे करत वहाना ॥
काहे पहिरयौ हरि हरि चुरियॉ पहिरयौ प्रेमकै बाना ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, बिन पिया नाहिं ठिकाना ॥

१८०

सूतल रहलूँ मै नींद भरि हो, पिया दिहलै जगाय ।
चरन-कँवलके अंजन हो नैना ले लूँ लगाय ॥
जासो निंदिया न आवै हो नहि तन अलसाय ।
पियाके वचन प्रेम-सागर हो, चलूँ चली हो नहाय ॥
जनम जनमके पापवा छिनमे डारव धोवाय ।
यहि तनके जग दीप कियौ प्रीत बतिया लगाय ॥
पाँच तत्तके तेल चुआए ब्रह्म अगिनि जगाय ।
प्रेम-पियाला पियाइके हो पिया पिया बौराय ॥
विरह अगिनि तन तलफै हो जिय कछु न सोहाय ॥
ऊँच अटरिया चढ़ि बैठ लूँ हो जहँ काल न जाय ।
कहैं कबीर विचारिके हो जम देख डराय ॥

१८१

अब तोहि जान न देहूँ राम पियारे,
ज्यूँ भावै त्यूँ होह हमारे ॥
बहुत दिननके बिछुरे हरि पाये,
भाग बड़े घर बैठै आये ।
चरननि लागि करौं वरियाई,
प्रेम-प्रीति राखौ उरझाई ।
इत मन-मंदिर रहौ नित चोपै,
कहै कबीर परहु मति धोपै ॥

१८२

तन-मन-धन बाजी लागी हो ।
चौपड़ खेलूँ पीवसे रे, तन-मन बाजी लगाय ।
हारी तो पियकी भई रे, जीती तो पिय मोर हो ।
चौसरियाके खेलमें रे, जुग्ग मिलनकी आस ।
नर्द अकेली रह गई रे, नहिं जीवनकी आस हो ।
चार बरन घर एक है रे, भाँति भाँतिके लोग ।
मनसा-बाचा-कर्मना कोइ, प्रीति निबाहो ओर हो ।
लख चौरासी भरमत भरमत, पौपै अटकी आय ।
जो अबके पौ ना पड़ी रे, फिर चौरासी जाय हो ।
कहै कबीर धर्मदाससे रे, जीती बाजी मत हार ।
अबके सुरत चढ़ाय दे रे, सोई सुहागिन नार हो ।

१८३

नाम-अमल उतरै ना भाई ।
और अमल छिन छिन चढ़ि उतरै, नाम-अमल दिन बढ़ै सवाई ॥
देखत चढ़ै सुनत हिय लागै, सुरत किये तन देत घुमाई ।
पियत पियाला भये मतवाला, पायो नाम मिटी दुचिताई ॥
जो जन नाम अमल रस चाखा, तर गई गनिका सदन कसाई ।
कह कबीर गूँगे गुड़ खाया बिन रसना का करै बड़ाई ॥

१८४

हमरी ननँद निगोड़िन जागे ।
कुमति लकुटिया निसि-दिन ब्यापै, सुमति देखि नाहिं भावै ।

निसि-दिन लेत नाम साहबको, रहत रहत रँग लागै ।
निसिदिन खेलत रही सखियन-सँग, मोहिं बड़ो डर लागै ।
मोरे साहबकी ऊँची अटरिया, चढ़तमे जियरा काँपै ।
जो सुख चहै तो लज्जा त्यागै, पियसे हिलि-मिलि लागै ।
घूँघट खोल अंग-भर भेंटै, नैन-आरती साजै ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, चतुर होय सो जानै ।
निज प्रीतमकी आस नहीं है नाहक काजर पारै ।

१८५

कैसे दिन कटिहै जतन बताये जइयो,
एहि पार गंगा ओहि पार जमुना,
बिचवाँ मड़इया हमकाँ छवाये जइयो ।
अँचरा फारिके कागज बनाइन,
अपनी सुरतिया हियरे लिखाये जइयो ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो
बहियाँ पकरिके रहिया बताये जइयो ।

१८६

कैसे जीवेगी विरहिनी पिया बिन, कीजे कौन उपाय ।
दिवस न भूख रैन नहिं सुख है, जैसे कलिजुग जाम ।
खेलत फाग छाँड़ि चलु सुंदर, तज चलु धन औ धाम ।
बन-खँड जाय नाम लौ लावो, मिलि पियसे सुख पाय ।
तलफत मीन बिना जल जैसे, दरसन लीजे धाय ।

बिना अकार रूप नहिं रेखा, कौन मिलेगी आय ।
आपन पुरुष समझिले सुंदरि, देखो तन निरताय ।
सब्द सरूपी जिव-पिव बूझो, छाँड़ो भ्रमकी टेक ।
कहैं कबीर और नहिं दूजा, जुग जुग हम-तुम एक ॥

१८७

भींजै चुनरिया प्रेम-रस बूँदन ।
आरत साजके चली है सुहागिन पिय अपनेको ढूँढन ।
काहेकी तोरी बनी है चुनरिया काहेके लगे चारो फूँदन ।
पाँच तत्तकी बनी है चुनरिया नामके लागे फूंदन ।
चाढ़िगे महल खुल गइ रे किवरिया दास कबीर लागे झूलन ॥

१८८

मै अपने साहब संग चली ।
हाथमे नरियल मुखमे बीड़ा, मोतियन माँग भरी ।
लिल्ली घोड़ी जरद बछेड़ी, तापै चढ़िके चली ।
नदी किनारे सतगुर भेटे, तुरत जनम सुधरी ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, दोउ कुल तारि चली ॥

१८९

गुरु मोहिं घुँटिया अजर पियाई ।
जबसे गुरु मोहिं घुँटिया पियाई, भई सुचित मेटी दुचिताई ।
नाम-औषधी अधर-कटोरी, पियत अघाय कुमति गई मोरी ।
ब्रह्मा-विस्नु पिये नहिं पाये, खोजत संभू जन्म गँवाये ।
सुरत निरत करि पियै जो कोई, कहै कबीर अमर होय सोई ॥

१९०

कबीर भाटी कलालकी, बहुतक बैठे आइ ।
सिर सौंपे सोई पिवै, नहीं तो पिया न जाइ ॥ १ ॥
हरि-रस पीया जॉणिये, जे कबहुँ न ज़ाइ खुमार ।
मैमंता घूँमत रहै, नाहीं तनकी सार ॥ २ ॥
सबै रसायण मै किया, हरि-सा और न कोइ ।
तिल इक घटमै संचरै, तो सब तन कंचन होइ ॥ ३ ॥

१९१

पीछे लागा जाइ था, लोक वेदके साथि ॥
आगेथै सत्गुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥ १ ॥
दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट ।
पूरा किया बिसाहुणां, बहुरिन आवौं हट्ट ॥ २ ॥
कबीर गुरु गरवा मिल्या, रलि गया आटै लूँण ।
जाति-पाँति-कुल सब मिटै, नाँव धरौगे कौंण ॥ ३ ॥
सतगुरु हमसूँ रीझि करि, एक कह्या परसंग ।
बरस्या बादल प्रेमका, भीजि गया सब अंग ॥ ४ ॥

१९२

व दिन कब आवैगे भाइ ।
जा कारनि हम देह धरी है,
मिलिबौ अंगि लगाइ ॥
हौ जांनूं जे हिल-मिलि खेलूँ
तन मन प्रान समाइ ॥

या कांमनां करौ परपूरन,
समरथ हौ रांम राइ ॥
मांहि उदासी माधौ चाहै,
चितवत रैनि बिहाइ ॥
सेज हमारी स्यंघ भई है,
जब सोऊँ तब खाइ ॥
यहु अरदास दासकी सुनिये,
तनकी तपनि बुझाइ ॥
कहै कबीर मिलै जे सांई,
मिलि करि मंगल गाइ ॥

१९३

मेरी अंखियाँ जांन सुजांन भई ।
देवर गरम सुसर संग तजि करि, हरि पीव तहाँ गई ॥
बालपनेके करम हमारे, काटे जानि दई ।
बाँह पकरि करि किरपा कीन्हीं, आप समींप लई ॥
पानींकी बूँदथे जिनि प्यँड साज्या, ता संगि अधिक करई ।
दास कबीर पल प्रेम न घटई, दिन दिन प्रीति नई ॥

१९४

इहि बिधि रामसूं ल्यौ लाइ ॥
चरन पाषै निरति करि, जिभ्या बिनाँ गुंण गाइ ।
जहाँ स्वाँति बूँद न सीप साइर, सहजि मोती होइ ।
उन मोतियन मै नीर पोयौ, पवन अम्बर धोइ ।

जहाँ धरनि बरषै गगन भीजै, चन्द-सूरज मेल ।
दोइ मिलि तहाँ जड़न लागे, करत हंसा केलि ।
एक बिरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ ।
पंच सुवटा आइ बैठे, उदै भई जनराइ ।
जहाँ बिछट्यौ तहाँ लाग्यौ, गगन बैठो जाइ ।
जन कबीर बटाऊवा, जिनि मारग लियौ चाइ ।

१९५

करो जतन सखी साँई मिलनकी ।
गुड़िया गुड़वा सूप सुपलिया,
तजि दे बुधि लरिकैयाँ खेलनकी ।
देवता पित्तर भुइयाँ भवानी
यह मारग चौरासी चलनकी ।
ऊँचा महल अजब रँग बँगला,
साँईंकी सेज वहाँ लगी फूलनकी ।
तन मन धन सब अपनि कर वहाँ,
सुरत सम्हार परु पइयाँ सजनकी ।
कहै कबीर निर्भय होय हंसा,
कुंजी बता द्यों ताला खुलनकी ॥

१९६

मोरे लगि गये बान सुरंगी हो ।
धन सत गुरु उपदेश दियो है, होई गयो चित्त भिरंगी हो ।
ध्यान पुरुषकी बनी है तिरिया, घायल पाँचो सँगी हो ।

घायलकी गति घायल जाने, की जानै जात पतंगी हो।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, निसि दिन प्रेम उमंगी हो ॥

१९७

गुरु बड़े भृंगी हमारे गुरु बड़े भृंगी।
कीटसों ले भृंग कीन्हा आपसो रंगी।
पाँव औरै पंख औरै और रँग रंगी।
जाति कुल ना लखै कोई सब भये भृंगी।
नदी-नाले मिले गंगै कहलावै गंगी।
दरियाव-दरिया जा समाने संगमें संगी।
चलत मनसा अचल कीन्ही मन हुआ पंगी।
तत्तमे निःतत्त दरसा संगमे संगी।
बंधतें निर्बंध कीन्हा तोड़ सब तंगी।
कहै कबीर किया अगम गम नाम रँग रंगी ॥

१९८

पिया मेरा जागे मै कैसे सोइ री।
पाँच सखी मेरे सँगकी सहेली,
उन रँग रँगी पिया रंग न मिली री।
सास सयानी ननद-बौरानी,
उन डर डरी पिय सार न जानी री।
द्वादस ऊपर सेज बिछानी,
चढ़ न सकौ मारी लाज लजानी री।

रात दिवस मोहिं कूका मारे,
मै न सुनी रचि रहि सँग जार री।
कहै कबीर सुनु सखी सयानी,
बिन सतगुरु पिया मिले न मिलानी री॥

१९९

बहुत दिननकी जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलनकूँ, मनि नाहीं बिसराम॥ १॥
बिरहिनि ऊठै भी पड़े, दरसन कारनि राम।
मूवा पीछे देहुगे, सो दरसन कोहि काम॥ २॥
मूवा पीछे जिनि मिलै, कहै कबीरा राम।
पाथर-घाटा-लोह सब, पारस कौणे काम॥ ३॥
बासुरि सुख ना रैणि सुख, ना सुख सुपिनै माहिं।
कबीर बिछुट्या रामसूँ, नां सुख धूप न छाँहि॥ ४॥

२००

परबति परबति मैं फिरया, नैन गँवाए रोइ।
सो बूटी पाऊँ नहीं, जातै जीवन होइ॥ १॥
नैंन हमारे जलि गए, छिन छिन लोड़ै तुज्झ।
नां तूं मिलै न मै खुसी, ऐसी बेदन मुज्झ॥ २॥
सुखिया सब संसार है, खाये अरु सोवै॥
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥ ३॥

२०१

आइ न सकौ तुज्झपै, सकूँ न तुज्झ बुलाइ ।
जियरा यौंही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ ॥ १ ॥
यहु तन जालौ मसि करूँ, ज्यूँ धूवां जाइ सरग्गि ।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्गि ॥ २ ॥
यहु तन जालौ मसि करौ, लिखौ रामका नांउँ ।
लेखणि करूँ करंककी, लिखि लिखि राम पठाउँ ॥ ३ ॥
इस तनका दीवा करौ, बाती मेल्हूँ जीव ।
लोही सींचौ तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव ॥ ४ ॥
कै बिरहिनकूँ मीच दे, कै आपा दिखलाइ ।
आठ पहरका दाझणां, मोपै सहा न जाइ ॥ ५ ॥

२०२

कबिरा प्याला प्रेमका, अंतर दिया लगाय ।
रोम रोममे रमि रह्या, और अमल क्या खाय ॥ १ ॥
कबिरा हम गुरु-रस पिया, बाकी रही न छाक ।
पाका कलस कुम्हारका, बहुरि न चढ़सी चाक ॥ २ ॥
राता-माता नामका, पीया प्रेम अघाय ।
मतवाला दीदारका, माँगै मुक्ति बलाय ॥ ३ ॥

२०३

ऐ कबीर, तै उतरि रहु, संबल परो न साथ ।
संबल घटे न पगु थके, जीव बिराने हाथ ॥ १ ॥

कबीरका घर सिखरपर, जहाँ सिलहली गैल ।
पाँव न टिकै पिपीलिका, खलकन लादे बैल ॥ २ ॥

२०४

काल खड़ा सिर ऊपरे, जागु बिराने मीत ।
जाका घर है गैलमें, सो कस सोय निचींत ।

२०५

छाकि पर्‌यौ आतम मतवारा ।
पीवत रांमरस करत बिचारा ॥
बहुत मोलि मंहगै गुड़ पावा ।
लै कसाब रस रांम चुवावा ।
तन पाटन मै कीन्ह पसारा ।
माँगि माँगि रस पीवै बिचारा ।
कहै कबीर फाबी मतवारी ।
पीवत रांमरस लगी खुमारी ॥

२०६

सब दुनी सयानी मै बौरा,
हम बिगरें बिगरौ जनि औरा ।
मैं नहिं बौरा राम कियो बौरा,
सतगुरु जार गयौ भ्रम मोरा ।
बिद्या न पढ़ूँ वाद नाहिं जाँनूं,
हरि गुन कथत-सुनत बौराँनूं ॥

काम-क्रोध दोऊ भये बिकारा,
आपहि आप जरै संसारा ॥
मीठो कहा जाहि जो भावै
दास कबीर रांम गुन गावै ॥

२०७

नैहरमें दाग लगाय आइ चुनरी ।
ऊ रँगरेजवाके मरम न जानै,
नहिं मिलै धोबिया कौन करै उजरी ।
तनकै कूंडी ज्ञानकै सौदन
साबुन महँग बिचाय या नगरी ।
पहिरि-ओढ़िके चली ससुररिया,
गौंवॉके लोग कहै बड़ी फुहरी ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो,
बिन सतगुरु कबहूँ नहिं सुधरी ॥

२०८

सील-संतोखते सब्द जा मुख बसै, संतजन जौहरी साँच मानी ।
बदन बिकसित रहै ख्याल आनंदमे, अधरमें मधुर मुसकात बानी ।
साँच गेलै नहीं झूठ बोलै नहीं, सुरतमें सुमति सोइ स्रेष्ठ ज्ञानी ।
कहत हौ ज्ञान पुकारि कै सबनसो, देत उपदेस दिल दर्द जानी ।
ज्ञानको पूर है रहनिको सूर है, दयाकी भक्ति दिलमाहिं ठानी ।
ओरते छोर लौं एक रस रहत है, ऐस जन जगतमे बिरले प्रानी
ठग्ग बटपार संसारमे भरि रहे, हंसकी चाल कहॅ काग जानी ।

चपल और चतुर है बने बहु चीकने, बातमे ठीक पै कपट ठानी ।
कहा तिनसो कहो दया जिनके नहीं, घात बहुतै करै बकुलध्यानी ।
दुर्मती जीवकी दुबिध छूटै नहीं, जन्म जन्मान्त पड़ नर्क खानी ।
काग कूबुद्धि सूबुद्धि पावै कहाँ, कठिन कट्ठोर बिकराल बानी ।
आगिनके पुंज है सितलता तन नहीं, अमृत औ विष दोऊ एक सानी ।
कहा साखी कहे सुमति जागी नही, साँचकी चाल बिन धूर घानी ।
सुक्कति औ सत्तकी चाल साँची सही, काग बक अधमकी कौन खानी ।
कहै कब्बीर कोउ सुघर जन जौहरी, सदा सवधान पिये नीर छानी ॥

## २०९

अपनपौ आप ही बिसरो ।
जैसे सोनहा काँच मँदिरमे भरमत भूँकि मरो ।
जो केहरि बपु निरखि कूप-जल प्रतिमा देखि परो ।
ऐसेहिं मदगज फटिक शिलापर दसननि आनि अरो ।
मरकट मुठी स्वाद ना बिसरै घर घर नटत फिरो ।
कह कबीर नलनीके सुवना तोहि कौने पकरो ॥

## २१०

दरस दिवाना बावरा अलमस्त फकीरा ।
एक अकेला ह्वै रहा अस मतका धीरा ॥
हिरदेमे महबूब है हर दमका प्याला ।
पीयेगा कोई जौहरी गुरु मुख मतवाला ॥
पियत पियाला प्रेमका सुघरे सब साथी ।
आठ पहर झूमत रहै जस मैगल हाथी ॥

बंधन काटे मोहके बैठा निरसंका ।
वाके नजर न आवता क्या राजा रंका ॥
धरती आसन किया तंबू असमाना ।
चोला पहिरा खाकका रह पाक समाना ॥
सेवकको सतगुरु मिले कछ रहि न तबाही ।
कह कबीर निज घर चलो जहं काल न जाही ॥

## २११

गगनकी ओट निसाना है ।
दहिने सूर चन्द्रमा बाये, तिनके बीच छिपाना है ।
तनकी कमान सुरतका रोदा, सब्द-बान ले ताना है ।
मारत बान बेधा तन ही तन, सतगुरुका परवाना है ।
मारयौ बान घाव नहि तनमे, जिन लागा तिन जाना है ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, जिन जाना तिन माना है ॥

## २१२

मन मस्त हुआ तब क्यो बोले
हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार बार वाको क्यो खोले ।
हलकी थी जब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यो तोले ।
सुरत कलारी भइ मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले ।
हंसा पाये मानसरोवर, ताल-तलैया क्यो डोले ।
तेरा साहब है घट माँही, बाहर नैना क्यो खोले ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिलि गये तिल ओले ॥

२१३

सोच-समुझ अभिमानी, चादर भइ है पुरानी
टुकड़े टुकड़े जोड़ि जगत-सों, सकै अँग लिपटानी ।
कर डारी मैली पापन-सों, लोभ-मोहमें सानी ।
ना यहि लग्यो ज्ञानकै साबुन, ना धोई भल पानी ।
सारी उमिर ओढ़ते बीति, भली बुरी नहिं जानी ।
संका मान जान जिय अपने, यह है चीज बिरानी ।
कहत कबीर धरि राखु जतनसे, फेर हाथ नहिं आनी ॥

२१४

जियरा मेरा फिरै रे उदास ।
राम बिन निकसि न जाई सास,
अजहूँ कौन आस
जहाँ जहाँ जाऊँ रांम मिलावै न कोई ।
कहौ संतो कैसे जीवन होई ॥
जरै सरीर यहु तन कोई न बुझावै
अनल दहै निस नींद न आवै
चंदन घसि घसि अंग लगाऊँ
राम बिना दारन दुख पाऊँ ॥
सत-संगति मति मन करि धीरा,
सहज जानि भजै राम कबीरा ॥

२१५

इब न रहूं माटीके घर मै,
इब मै जाइ रहूं मिलि हरि मैं ॥
छिनहर घर अरु झिरहर टाटी
घन गरजन कंपै मेरी छाती ॥
दसवै द्वारि लागि गई तारी
दूरि गवन आवन भयौ भारी ॥
चहुँ दिसि बैठे चारि पहरिया
जागत मूसि गये मोर नगरिया ॥
कहै कबीर सुनहु रे लोई,
भाँनड़ घड़ण संवारण सोई ॥

२१६

सेजै रहूं नैन नहीं देखौं,
बहु दुख कासौं कहूं हो दयाल ॥
सासुकी दुखी सुसरकी प्यारी
जेठकै तरसि डरौं रे ।
ननद सुहेली गरब गहेली
देवरकै बिरह जरौं हो दयाल ॥
बाप सावकौ करै लराई,
माया सद मातिवाली ॥
सगौ भईया लै सलि चढ़िहूँ
तब ह्वै हूँ पीयहि पियारी ॥

सोचि बिचारि देखौ मन माँही
औसर आइ बन्यूं रे ॥
कहै कबीर सुनहु मति सुंदरि
राजा राम रमूं रे ॥

२१७

पीले प्याला हो मतवाला, प्याला नाम अमीरसका रे।
बालपना सब खेलि गँवाया, तरुन भया नारी बसका रे।
बिरध भया कफ-बायने घेरा, खाट पड़ा न जाय खसका रे।
नाभिकँवल बिच है कस्तूरी, जैसे मिरग फिरै बनका रे।
बिन सतगुरु इतना दुख पाया, बैद मिला नहिं इस तनका रे।
मात पिता बंधू सुत तिरिया, संग नहीं कोइ जाय सका रे।
जब लग जीवै गुरु गुन लेगा, धन जोबन है दिन दसका रे।
चौरासी जो उबरा चाहै, छोड़ कामिनाका चसका रे।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, नख-सिख पूर रहा बिसका रे।

२१८

खेल ले नैहरवा दिन चार।
पहिली पठौनी तीन जन आये, नौवा बाम्हन बारि।
बाबुलजी म पैयां तोरी लागौ, अबकी गवन दे टारि।
दुसरी पठौनी आपै आये लेके डोलिया कहार,
धरि बहियाँ डोलिया बैठारिन, कोउ न लागै गोहार।
ले डोलिया जाइ बनमे उतारिन, कोइ नहीं संगी हमार।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, इक घर है दस द्वार॥

२१९

मै भँवरा तोंहि बराजिया, बन बन बास न लेय ।
अटकेगा कहुँ बेलसे, तड़पि तड़पि जिय देय ॥ १ ॥
बाड़ीके बिच भँवर था, कलियाँ लेता बास ।
सो तो भँवरा उड़ि गया, तजि बाड़ीकी आस ॥ २ ॥

२२०

चलती चक्की देखिके, दिया कबीरा रोय ।
दुइ पट भीतर आयके, साबित गया न कोय ॥ १ ॥
भाई बीर बटाउआ, भरि भरि नैन न रोय ।
जाका था सो ले लिया, दीन्हा था दिन दोय ॥ २ ॥

२२१

देह धरेका दंड है, सब काहूको होय ।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, मूरख भुगतै रोय ॥ १ ॥
तकत तकावत तकि रहे, सके न बेझा मारि ।
सबै तीर खाली परे, चले कमानी डारि ॥ २ ॥

२२२

सुपनेमें साईं मिले, सोवत लिया जगाय ।
आँखि न खोलूँ डरपता, मत सुपना ह्वै जाय ॥ १ ॥
साँई केरे बहुत गुन, लिखे जो हिरदे माँहि ।
पिऊँ न पानी डरपता, मत वै धोये जाँहि ॥ २ ॥

२२३

अनप्रापत वस्तुको कहा तजे, प्रापतको तजे सो त्यागी है ।
सु असील तुरंग कहा फेरे, अफतर फेरे सो बागी है ।

जगभवका गावना क्या गावै, अनुभव गावै सो रागी है।
बन गेहकी बासना नास करै, कब्बीर सोई बैरागी है ॥

२२४

तोको पीव मिलैगे घूँघटके पट खोल रे ।
घट घटमें वही साई रमता, कटुक बचन मत बोल रे ।
धन जोबनको गरब न कीजै, पूठा पंचरंग चोल रे ।
सुन्न महलमे दियना बार ले, आसासो मत डोल रे ।
जोग जुगत सो रंग महलमे, पिय पाई अनमोल रे ।
कहे कबीर आनंद भयो है, बाजत अनहद ढोल रे ।

२२५

पायो सतनाम गरैकै हरवा ।
साँकर खटोलना रहनि हमारी, दुबरे दुबरे पाँच कहँरवा ।
ताला कुंजी हमै गुरु दीन्ही, जब चाहौ तब खोलौ किवरवा ।
प्रेम प्रीतिकी चुनरी हमारी, जब चाहौ तब नाचौ सहरवा ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, बहुरि न ऐबै एही नगरवा ॥ (९५)

२२६

मुरसिद नैनो बीच नबी है ।
स्याह सपेद तिलो बिच तारा, अवगति अलख रबी है ।
आँखी मद्धे पाँखी चमकै, पाँखी मद्धे द्वारा ।
तेहि द्वारे दुर्बीन लगावै, उतरै भवजल पारा ।
सुन्न सहरमे बास हमारी, तहँ सरबंगी जावै ।
साहब कबीर सदाके संगी, सब्द सहल ले आवै ॥

२२७

पिया ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली।
ऊँची अटरिया जरद किनरिया, लगी नामकी डोरी।
चाद सुरज सम दियना बरतु है, ता बिच झूली डगरिया।
पाँच पचीस तीन घर बनियाँ, मनुवाँ है चौधरिया।
मुन्सी है कुतवाल ज्ञानको, चहुँ दिस लागी बजरिया।
आठ मरातिब दस दर्वाजा, नौमे लगी किवरिया।
खिरकी बैठ गोरी चितवन लागी, उपराँ झाँप झोपरिया।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो, गुरुके चरन बलिहरिया।
साध संत मिलि सौदा करि हैं, झींखै मूरख अनरिया॥

२२८

जहवाँसे आयो अमर वह देसवा।
पानी न पौन न धरती अकसवा, चाँद न सूर न रैन दिवसवा।
बाम्हन छत्री न सूद्र बैसवा, मुगल पठान न सैयद सेखवा।
आदि जोति नहिं गौर गनेसवा, ब्रह्मा बिस्नु महेस न सेसवा।
जोगी न जंगम मुनि दुरवेसवा, आदि न अन्त न काल कलेसवा।
दास कबीर ले आये सँदेसवा, सार सब्द गहि चलौ वहि देसवा॥

२२९

साहेब है रँगरेज चुनरी मेरी रंग डारी॥
स्याही रंग छुड़ायके रे दियो मजीठा रंग।
धोएसे छूटे नही रे दिन दिन होत सुरंग॥
भावके कुण्ड नेहके जलमे प्रेम रंग देइ बोर।
दुख देइ मैल लुटाय दे रे खूब रंगी झकझोर॥

साहिबने चुनरी रंगी रे पीतम चतुर सुजान ।
सब कुछ उनपर वार दूं रे तउ मन धन और प्रान ॥
कहै कबीर रंगरेज पियारे मुझपर हुए दयाल ।
सीतल चुनरी ओढ़िके रे भई हौ मगन निहाल ॥

२३०

हद चले सो मानवा, बेहद चले सो साध ।
हद बेहद दोऊ तजे, ताकर मता अगाध ॥

२३१

गगन दमामा बाजिया, पड़त निसाने घाव ।
खेत पुकारै सूरमा, अब लड़नेका दाँव ॥ १ ॥
जा मरनेसे जग डरै, सो मेरे आनन्द ।
कब मरिहौ कब देखिहौं, पूरन परमानन्द ॥ २ ॥

२३२

अब गुरु दिलमे देखिया, गावनको कछु नाहिं ।
कबिरा जब हम गावते, तब जाना गुरु नाहिं ॥ १ ॥
सुन्न मॅडलमे घर किया, बाजै सब्द रसाल ।
रोम रोम दीपक भया, प्रगटे दीन दयाल ॥ २ ॥
सुन्न सरोवर मीन मन, नीर तीर सब देव ।
सुधा सिन्धु सुख विलसहीं, बिरला जाने भेव ॥ ३ ॥

२३३

लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात ।
दुलहा दुलहिनि मिलि गये, फीकी परी बरात ॥ १ ॥

कागद लिखै सो कागदी, की व्यवहारी जीव ।
आतम दृष्टि कहा लिखै, जित देखै तित पीव ॥ २ ॥

२३४

लाली मेरे लालकी, जित देखो तित लाल ।
लाली देखन मै गई, मैं भी हो गइ लाल ॥ १ ॥
जिन पावन भुईं बहु फिरे, घूमे देस विदेस ।
पिया मिलन जब होइया, आँगन भया बिदेस ॥ २ ॥

२३५

उलटि समाना आपमे, प्रगटी जोति अनंत ।
साहेब सेवक एक सँग, खेलै सदा बसंत ॥ १ ॥
जोगी हुआ झलक लगी, मिटि गया ऐंचातान ।
उलटि समाना आपमे, हूआ ब्रह्म समान ॥ २ ॥

२३६

सखि, वह घर सबसे न्यारा, जहँ पूरन पुरुष हमारा ।
जहाँ नहिं सुख-दुख साँच-झूठ नहिं, पाप न पुन्न पसारा ।
नहिं दिन-रैन चन्द नहिं सूरज, बिना जोति उँजियारा ॥
नहिं तहँ ज्ञान-ध्यान नहिं जप-तप, बेद-कितेब न बानी ।
करनी, धरनी, रहनी, गहनी, ये सब उहाँ हेरानी ॥
धर नहिं अधर न बाहर-भीतर, पिंड-ब्रह्मंड कछु नाहीं ।
पाँच तत्त्व गुन तीन नहीं तहँ, साखी शब्द न ताहीं ।
मूल न फूल बेल नहिं बीजा, बिना बृच्छ फल सोहै ।
ओहं-सोहं अरध-उरध नहिं, स्वासा लेखन को है ॥

नहिं निरगुन नहि सरगुन भाई, नहिं सूछम-अस्थूल ।
नाहिं अच्छर नहिं अविगत भाई, ये सब जग के मूल ॥
जहाँ पुरुष तहँवा कछु नाहीं, कह कबीर हम जाना ।
हमरी सैन लखे जो कोई, पावै पद निरबाना ॥ २३ ॥

२३७

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ ।
बूँद समानी समँदमे, सो कत हेरी जाइ ॥ १ ॥
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ ॥
समँद समाना बूँदमे, सो कत हेरया जाइ ॥ २ ॥

२३८

हदे छाँड़ि बेहदि गया, हुआ निरंतर बास ।
कँवल जु फूल्या फूल बिन, को निरषै निज दास ॥ १
कबीर मन मधुकर भया, रह्या निरंतर बास ।
कँवल जु फूल्या जलह विन, को देखै निज दास ॥ २ ॥
अंतरि कँवल प्रकासिया, ब्रह्म-बास तहँ होइ ।
मत भँवरा तहँ लुब्रधिया, जांणैगा जन कोइ ॥ ३ ॥

२३९

हद छाँड़ि बेहद गया, किया सुंन्नि असनान ।
मुनिजन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम ॥ १ ॥
देखौ कर्म कबीरका, कछु पूरब-जनमका लेख ।
जाका महल न मुनि लहै, सो दोसत किया अलेख ॥ २ ॥

२४०

नींव बिहूँणा देहरा, देह बिहूँणा देव ।
कबीर तहाँ बिलंबिआ, करै अलखकी सेव ॥ २ ॥
देवलमाँहै देहुरी, तिल जे है बिसतार ।
माहै पाती मॉहि जल, मॉहै पूजणहार ॥ २ ॥

२४१

तूँ तूँ करता तुझ गया, मुझमे रही न हूँ ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौ तित तूँ ॥ १ ॥
लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु भार ।
कहो संतो क्यूँ पाइए, दुरलभ हरि दीदार ॥ २ ॥

२४२

अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै जोति ।
जहाँ कबीरा बंदगी, पाप-पुन्न नहीं होति ॥ १ ॥

२४३

दौकी दाधी लाकड़ी, ठाढी करै पुकार ।
मति वसि पड़ौं लुहारके, जालै दूजी बार ॥ १ ॥
जो आया सो आँथवै, फूल्या सो कुम्हलाइ ।
जो चिणियाँ सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ ॥ २ ॥

२४४

दूर वे दूर वे दूर वे दूरमति, दूरकी बात तोंहि बहुत भावै ।
अहै हज्जूर हाजीर साहब धनी, दूसरा कौन कहु काहि गावै ॥

छोड़ दे कलपना दूरको धावना, राज तजि खाक मुख काहि लावै।
पेड़के गहेतें डार-पल्लव मिलै, डारके गहे नहिं पेड़ पावै।
डार औ पेड़ औ फूल-फल प्रगट है, मिले जब गुरू इतनी लखावै।
संपति-सुख-साहबी छोड़ जोगी भये, सून्यकी आस वनखंड जावै ॥
कहहिं कब्बीर बनखंडसे क्या मिलै, दिलहिंको खोज दीदार पावै ॥

२४५

मालन आवत देख करि, कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुनि लिए, काल्हि हमारी बार ॥ १ ॥
फागुन आवत देखि करि, बन सूना मन माँहिं।
ऊँची डाली-पात है, दिन दिन पीले थाँहिं ॥ २ ॥
पात पड़ंता यो कहै, सुन तरिवर बनराइ।
अबकै बिछुड़े ना मिलै, कहिं दूर पड़ेगे जाइ ॥ ३ ॥

२४६

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहा न जाय।
एक रहा दूजा गया, दरिया लहर समाय ॥ १ ॥
उनमुनिसो मन लागिया, गगनहिं पहुँचा जाय
चाँद-विहूना चाँदना, अलख निरंजन राय ॥ २ ॥
गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर गँभीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भींजै दास कबीर ॥ ३ ॥

२४७

अरे इन दूहुन राह न पाई।
हिंदू अपनी करै बड़ाई गागर छुवन न देई।
बेस्याके पायन-तर सोवै यह देखो हिंदुआई।

मुसलमानके पीर-औलिया मुर्गी-मुर्गा खाई ।
खाला केरी बेटी ब्याहै घरहिंमें करै सगाई ।
बाहरसे इक मुर्दा लाये धोय-धाय चढ़वाई ।
सब सखियाँ मिलि जेवन बैठीं घर-भर करै बड़ाई ।
हिंदुनकी हिंदुवाई देखी तुरकनकी तुरकाई ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई ॥

२४८

साधो, एक आपु जग माहीं ।
दूजा करम-भरम है किरतिम ज्यों दरपनमे छाहीं ॥
जल-तरंग जिमि जलते उपजै फिर वामाहिं रहाई ।
काया झाईं पाँच तत्तकी बिनसे कहाँ समाई ॥
या बिधि सदा देह गति सबकी या बिधि मनहिं बिचारो ।
आया होय न्याव करि न्यारो परम तत्त्व निरवारो ॥
सहजै रहै समाय सहजमें ना कहुँ आय न जावै ।
धरै न ध्यान करै नहिं जप-तप राम-रहीम न गावै ॥
तीरथ-बरत सकल परित्यागै सुन्न डोर नहिं लावै ।
यह धोखा जब समझि परै तब पूजै काहि पुजावै ॥
जोग-जुगतमे भरम न छूटै जब लग आप न सूझै ।
कह कबीर सोइ सतगुरू पूरा जो कोइ समझै बूझै ॥

२४९

( भाई रे ) दुई जगदीस कहाँते आया, कहु कवने भरमाया ।
अल्लह-राम-करीमा-केसो, (हरी) हजरत नाम धराया ॥

गहना एक कनकतें गढ़ना, इनि महँ भाव न दूजा ।
कहन-सुननको दुर करि पापिन, इक निमाज इक पूजा ॥
वही महादेव वही महंमद ब्रह्मा-आदम कहिये ।
को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमीपर रहिये ॥
वेद-कितेब पढे वे कुतुबा वे मोलना वे पाडे ।
बेगरि बेगरि नाम धराये एक मटियाके भाँड़े ॥
कहँहि कबीर वे दूनौं भूले, रामहिं किनँहु न पाया ।
वे खस्सी वे गाय कटावैं बादहिं जन्म गँवाया ॥

२५०

संतो, राह दुनो हम डीठा ।
हिंदू-तुरुक हटा नहिं मानैं, स्वाद सबन्हिको मीठा ॥
हिन्दू बरत-एकादसि साधैं, दूध-सिंघारा सेती ।
अनको त्यागै मनको न हटकैं, पारन करै सगोती ॥
तुरुक रोजा-नीमाज गुजारै, बिसमिल बाँग पुकारै ।
इनकी भिश्त कहाँते होइहै, साँझै मुरगी मारैं ॥
हिन्दुकी दया मेहर तुरुकनकी, दोनौ घटसों त्यागी ।
वे हलाल वे झटके मारें, आगि दुना घर लागी ॥
हिंदु-तुरुककी एक राह ह, सतगुरु इहै बताई ।
कहँहि कबीर सुनहु हो संतो, राम न कहेउ खुदाई ॥

२५१

वन्दे तोहि वन्दिगीसो काम, हरि बिन जांनि और हराम ।
दूरि चलणाँ कूँच बेगा इहाँ नही मुकाम ॥

इहाँ नही कोई यार दोस्त, गाँठि गरथ ना दाम ।
एक एकै संगि चलणां बीचि नहीं विश्राम ॥
संसार-सागर विषम तिरणां, सुमरि लै हरि-नाम ।
कहै कबीर तहाँ जाइ रहणा नगर बसत निधांन ॥

२५२

बेद-कतेब इफतरा भाई दिलका फिकर न जाई ।
टुक दम करारी जो करहु हाजिर हजूर खुदाई ॥
बंदे खोजु दिल हर रोज ना फिरि परेसानी माहिं ।
इह जु दुनिया सहरु मेला दस्तगीरी नाहिं ॥
दरोग पढ़ि पढ़ि खुसी होइ बेखबर बाद बकाहि ।
हक सच्चु खालक खलकम्याने स्याम मूरति नाहिं ॥
असमान म्याने लहँग दरिया गुसल करद न बूद ।
करि फिकरु दाइन लाइ चसमे जहँ तहाँ मौजूद ॥
अल्लाह पाक पाक है सक करो जो दूसर होइ ।
कबीर कर्म करीमका उहु करे जानै सोइ ॥

२५३

मन तुम नाहक दुंद मचाये ।
करि असनान छुवो नाहिं काहू, पाती फूल चढाये ।
मूरतिसे दुनिया फल माँगै, अपने हाथ बनाये ।
यह जग पूजै देव-देहरा, तीरथ-व्रर्त-अन्हाये ।
चलत-फिरतमे पाँव थकित भे, यह दुख कहाँ समाये ।

झूठी काया झूठी माया, झूठे झूठे झूठल खाये ।
बाँझिन गाय दूध नहिं देहै, माखन कहँसे पाये ।
साँचेके सँग साँच बसत है, झूठे मारि हटाये ।
कहै कबीर जहँ साँच वस्तु है, सहजै दरसन पाये ॥

२५४

यह जग अंधा मै केहि समुझावों ।
इक-दुइ होय उन्है समुझावौ सब ही भुलाना पेटके धंधा ।
पानीकै घोड़ा पवन असवरवा ढरकि परै जस ओसके बुंदा ।
गहिरी नदिया अगम बहै धरवा खेवनहारा पड़िगा फंदा ॥
घरकी वस्तु निकट नहिं आवत दियना बारिके ढूँढत अंधा
लागी आग सकल बन जरिगा बिन गुरुज्ञान भटकिगा बंदा ।
कहै कबीर सुनो भई साधो इक दिन जाय लंगोटी झार बंदा ॥

२५५

बाजन दे बाजन्तरी, कलि ककुही जनि छेड़ ।
तुझे बिरानी का परी, अपनी आप निबेर ॥ १ ॥
देस-बिदेसन हौ फिरा, गाँव गाँवकी खोरि ।
ऐसा जियरा ना मिला, लेवे फटकि पिछोरि ॥ २ ॥

# अनुक्रमणिका

[ नीचे पुस्तकमे आये हुए पारिभाषिक और सांकेतिक शब्दो तथा विषयोकी अकारादिक्रमसे अनुक्रमणी दी जा रही है। जिन शब्दोके (आ०) छपा है उनकी चर्चा आगेके पृष्ठोमें भी समझी जानी चाहिये औ जिन शब्दोंके आगे (टि०) छपा है उनकी चर्चा टिप्पणीमे है। ]

# शुद्धि-पत्र

| पृष्ठ संख्या | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ५३ | ३ | कपिला गीता | कपिल गीता |
| १०० | १ | आर्थ भ्रम | आर्य भ्रम |
| १०१ | टिप्पणी, १ म | उपासक० | डायसन० |
| १०८ | ,, | तू रघुनाथ की | तू माया रघुनाथ की |
| १४२ | १० | जनम भरि | जनम भ्रमि |
| १४५ | ४ | चित्त् | चित् |
| १६२ | २९ | अपनेना | अपना |
| १६५ | १५ | व्यय | व्यंग्य |
| १८० | १९ | प्रेमा: पुमर्थो महान् | प्रेमा पुमर्थो महान् |
| २०० | १६ | असि' | आसि' |
| २२५ | १८ | २७३ | २५५ |